तन्तुजाल

रघुवंश

कि ता ब म ह ल

इलाहाबाद : बम्बई : दिल्ली

१९५८

विराट पीपल का एक पत्ता है...हरा-भरा, चंचल, अस्थिर और जीवन से स्पन्दित !...उसके कोमल तरंगित अस्तित्व के नीचे सहस्रों पतले सूक्ष्म तन्तुओं का बेहद उलझाव है जिनमें उसकी चेतना का स्रोत प्रवाहित है।

लेकिन...लेकिन उसके साथ एक कीड़ा भी है जो उस पत्ते में लगता है, धीरे बहुत धीरे हरियाली को चाटता है, चाटता जाता है।...पत्ता सूखता जाता है, उसकी अनन्त चेतना का स्रोत उसी के साथ विलीन हो जाता है।

फिर एक दिन अपनी समस्त पिछली स्मृतियों के रूप में रह जाता है...तन्तुजाल !

छोटी लाइन बी० एन० डब्लू० का दिल्ली एक्सप्रेस रेवाड़ी से छूट चुकी है। दस बज चुके हैं, लेकिन दिसम्बर के महीने में दिन कुछ चढ़ा नहीं जान पड़ रहा है। सरसों की हरियाली की उठती हुई तरंगवाले खेत विरल होते जा रहे हैं और आगे ऊसर धरती में रेत बढ़ता जा रहा है। दूर तक फैले हुए मैदान की सीमा-रेखा पर कोई छोटी-सी पहाड़ी विशृंखल भाव से आ जाती है और फिर एकरस समतल ऊसर, बंजर, रेत। ट्रेन की गति के कारण रेत-धूल उमड़ रही है, खिड़की खुली रखना सम्भव नहीं है। शीशों से भी धूल आ रही है, बर्थ की खिड़कियों की झिलमिलियाँ भी इसीलिये चढ़ा ली गई हैं।

कुछ हट कर तिरछे कोण की खिड़की के शीशे से बाहर का दृश्य अन्दर झाँक रहा है। सारे कम्पार्टमेंट में तीन यात्री हैं, दो पुरुष और एक स्त्री। एक बर्थ पर स्त्री-पुरुष अपनी सीट पर बातचीत करते-करते ऊँघ गये हैं और युवक शिथिल भाव से तिरछा होकर बैठा है, उसके पैर सामने फैले हुए हैं।

उसके सामने ही वह झाँकता हुआ दृश्य है...दृश्य खिड़की से कम्पार्टमेंट में झाँकता हुआ भाग रहा है...नीचे-ऊँचे टीले चढ़ते-उतरते हुए भाग रहे हैं और फिर सपाट चला गया एक रस उजाड़ बंजर। युवक बैठा हुआ है, शीशे से दृश्य झाँक रहा है। झाँकता हुआ दृश्य युवक की आँखों में उतर रहा है, पर आँखों में उतर कर भी यह फैलता हुआ दृश्य युवक के मन तक पहुँच नहीं पा रहा है। यह सब ऊपर ही ऊपर तैरता रहता है, अन्दर न जाने कौन पर्त है जो प्रवेश करने से इसे

रोकती है। फैला हुआ दृश्य उमड़ता हुआ आगे बढ़ता है, पर कहीं कोई रोक है जो मन में आगे बढ़ने से इसे रोक देती है।

और युवक के खाली लगनेवाले मन में कुछ उभरता है...सफ़ेद सा।...हवा में फड़फड़ाते हुए कागज़ के सफ़ेद पन्नों पर कुछ उभर रहा है.

...नरेश भइया, तुम्हारा विवाह हो गया होगा। आज १५ दि० है...मुझे डर है कि तुमने बुरा न माना हो, लेकिन भइया, वह तुम्हारी नीली साड़ी मेरी सबसे प्रिय रही है इसीलिये बहू को भेजी है।...आज बार-बार सोचती हूँ कि तुम्हारे विवाह का उछाह-उत्साह मेरे मन में क्यों नहीं उठता है। तुम जानते हो कि यह मेरी कितनी बड़ी अभिलाषा रही है। तुम्हारी बहू को देखने का सदा मेरा स्वप्न रहा है। और आज सोचती हूँ कि मेरा मनचाहा ही हो गया है, तब लगता है मेरे मन में स्पन्दन की शक्ति नहीं रही। इसके अभाव में अजब रिक्तता का अनुभव कर रही हूँ।...अब मुझ में शायद जीने की आकांक्षा शेष नहीं रह गई है, जो अब तक मुझ को बाँधे थी वही अब नष्ट हो चुकी है।...डॉक्टर अंकिल कह रहे थे कि अब मेरा जाना नहीं हो सकेगा। भइया, सब मुझ से छिपाना चाहते हैं। पर मेरे लिये इतने प्रत्यक्ष सत्य को अंगीकार करना कितना सहज है, मुक्त भाव से ग्रहण न कर लेने का अर्थ भी क्या हो सकता है! डाक्टर का कहना है कि अब मुझ में जीने की इच्छा समाप्त हो चुकी है और इस बार का अटैक मेरे लिए घातक होगा।...आज मैं सोचती हूँ १२-१३ वर्षों की लम्बी बीमारी के बाद यात्रा का अन्तिम लक्ष्य जैसे बिल्कुल समीप आ गया हो। लगता है यह सब मैंने झेला कैसे है! मेरे लिये ज़िन्दगी मौत के धोखे का परदा बहुत पहले हट चुका है, फिर जीने की आकांक्षा की बात क्या है जिसको डाक्टर यों कह रहे थे...हाँ हो सकता है, मेरे लिये कह सकना सरल नहीं है। क्या मैं आज यह हिसाब लगा सकती हूँ कि जीवन में मैंने क्या खोया, क्या

पाया ! मुझे एहसास हो रहा है कि आदमी अन्त तक ज़िन्दगी के बहुत से पहलुओं से अपरिचित ही रहता है।...यह ग़लत है कि आदमी मौत के पास पहुँच कर अपने आप को साफ़ देखने लगता है, जैसे आइने के सामने नंगा आदमी।...बिल्कुल साफ़ देख रही हूँ कि मौत की गहरी छाया मेरे पैरों पर बढ़ती आ रही है।...उसका आतंक ! कम से कम तुम नहीं कह सकते कि मृत्यु मुझे आतंकित कर सकी है, कर सकती है।...हाँ तो मैं कह रही थी कि मौत की पड़ती हुई साया में भी इतनी चमक नहीं जो आदमी को आइने के सामने नंगा कर सके।...मैं सोचना चाहती हूँ, बार-बार आज ग्रहण करना चाहती हूँ, वह कौन-सा तन्तु था जिसका सूक्ष्म सघन जाल मेरे इस जीवन के कठोर साँसों के बन्धन को जोड़े हुए था...और डाक्टर अंकिल कह रहे थे...अब वह टूट चुका है, टूट रहा है !...

युवक के मन में समतल उजाड़ मैदान कागज़ के पन्नों के समान फैल-फैल जाता है और बीच में पहाड़ियों के छोटे-छोटे खण्ड आ जाते हैं। उसके मन पर पत्र की रेखाएँ उभर आती हैं, रेखाएँ उभर कर तरंगों के रूप में उठती जाती हैं, उठती जाती हैं। तरल तरंगें कठोर होने लगती हैं और रेत के विस्तार में ठोस पर्वत श्रृंखला के रूप में फैल कर टकराने लगती हैं। एकाएक कोई छोटा स्टेशन दौड़ती हुई एक्सप्रेस की प्रतिध्वनि से बज उठा। फिर ट्रेन आगे बढ़ गई। युवक अपने आप में उलझा हुआ है—

तन्तु...कुछ टूट रहा है ! क्या है वह ? नीरा बीमार है। पर यह तो ऐसा ही रहा है। आज याद नहीं आता, वह कभी स्वस्थ रही हो, अच्छी रही हो। बीमार-बीमार...अनवरत बीमार, बीमारी उसके लिए स्वाभाविक हो गई। फिर साधारण रोग नहीं, एक-दो व्याधियाँ नहीं... कभी कोई डाक्टर नहीं बता सका कि उसे निश्चित रोग क्या है ?

उसने मृत्यु से घनघोर युद्ध किया है, अनवरत सामना किया है, तिलतिल लड़ती रही है। आँत बेकाम, रीढ़ झुकी हुई, पैर निर्बल, यहाँ तक कि एक वर्ष से दाहिना हाथ भी बेकार हो गया है। डाक्टरों को आश्चर्य है कि वह जीती किस तरह है।...और डाक्टर अंकिल का कहना है कि अब उसमें जीने की इच्छा ख़तम हो चुकी है...पर क्या थी वह जीने की इच्छा! जीवन की आकांक्षा...हाँ जीने की आकांक्षा बल देती है, साहस देती है। पर वह कौन-सी आकांक्षा है! कैसी है वह जिसे स्वयं जीनेवाला भी नहीं जानता, नहीं पहचानता! और इतने निकट से भी नहीं दिखाई पड़ा कि जीवन की उलझन में वह कौन-सा तन्तु है जो डाक्टर कहते हैं कि अब टूट चुका है।

आज कई वर्ष बाद नीरा पीठ के बल लेटी है। अब रीढ़ के दर्द का अनुभव उसे नहीं होता। डाक्टर का कहना है कि उसकी अनुभव करने की शक्ति नष्ट हो चुकी है। उसने सोच लिया—होगा कष्ट तो दूर हुआ, उससे मुक्ति मिली। आज इतने दिनों बाद चित लेटने में उसे जैसे अधिक आराम मिल रहा हो। उसने सामने की खिड़की खुलवा ली है...। सूरज पूरब में काफी चढ़ चुका है, इस कारण सामने से धूप नहीं आ सकेगी। वह अपने पैर उठा नहीं सकती, उसका दाहिना हाथ बिना बाँये हाथ की मदद के उलटता-पलटना भी नहीं। फिर भी आज उसके कष्ट, उसकी पीड़ा में कमी है। ऐसा नहीं कि कमी उसे कमी की तरह जान पड़ रही है, वरन् आज इनका अभाव ही ऐसी कमी है जो अन्दर ही अन्दर रिक्तता के शून्य को जन्म दे रही है। और यह शून्य जैसे सारे चैतन्य को ग्रसता चला जा रहा है। वर्ष-वर्ष से ये पीड़ाएँ, ये कष्ट चिर सहचर, चिर परिचित हो गये हैं। उनके चढ़ाव-उतार का भान उसकी संवेदना का स्वाभाविक अंग बन गया था। वह उन्हीं को लेकर जीने की अभ्यस्त हो गई थी, और उसी पीड़ा ने आज उसका साथ छोड़ दिया है। पीड़ाओं का इस प्रकार मिट जाना मानों अस्तित्व में कोई कमी आ गई है......उसका अस्तित्व हल्का-सूना-सा हो गया है। इससे अधिक उसे कुछ भी अनुभव नहीं हो रहा है।

आज वेदना कम है, पीड़ा हल्की पड़ गई है।...लेकिन उसी वेदना-पीड़ा से उसका मन भरा रहता था, वह आज खाली-खाली जान

पड़ता है। उसकी यह पीड़ा बहुत अपनी थी, यह आज उसे लग रहा है। एक अजब उदासी उसके मन को घेर कर सिमट रही है...घनी होती सिमटती आ रही है। उसका हाथ अपना नहीं, उसके अंग अपने नहीं ! जो व्यथा-पीड़ा उसकी इतनी अपनी हो चुकी थी, आज वह भी उसे छोड़ रही है। लगता है अस्तित्व का एहसास ही मिट रहा है।

वह खिड़की के बाहर दूर की पहाड़ी श्रेणी पर दृष्टि डालती है... वृत्त के एक खण्ड रूप में श्रेणी फैली है और उसके दोनों छोर खिड़की की सीमा के बाहर निकल गये हैं। श्रेणी के साथ घूमती चक्कर खाती सड़क का कुछ भाग खिड़की के अन्दर आ सका है। युवती सूने भावसे श्रेणी के विस्तार को मन में उतारना चाहती है, पर उदासी से टकरा कर मन सड़क की काली रेखा से उलझने लगता है।...उसके मन पर कुछ रेंगता-सा निकला जा रहा है और वह जड़ भाव से उसका हल्का-सा अनुभव भर कर पा रही है।

आज २५ दि० है। दस दिन हुए। हाँ नरेश भइया का विवाह हो गया, हो ही गया। विवाह ज़रूरी है...होगा ही, नहीं क्यों करते हैं सभी। भइया कहते थे व्यक्ति के लिए अनिवार्य आवश्यकता है, विवाह बिना व्यक्तित्व अपूर्ण रहता है।...हाँ आँ, ठीक हो सकता है।...मैं... मेरे लिए समझना कठिन है, सदा कठिन रहा है। बारह-तेरह वर्ष से बीमारी-बीमारी, और जीवन-मृत्यु का निरन्तर संघर्ष ! पीड़ा, व्यथा, दर्द !...और आ...ज वह भी छोड़ रहा है। विवाह को समझ पाना मेरे लिए सरल नहीं रहा है। लेकिन भइया विवाह के पक्ष में रह कर भी भागते क्यों रहे हैं ?...शायद भागना नहीं उदासीनता। कहने मनाने का उन पर कोई असर नहीं हुआ। कहते—'हाँ मीरा, विवाह तो करना ही चाहिये।' पर चाहिये के आगे भइया बढ़े नहीं। प्रतिभासम्पन्न रहे हैं। उन्होंने जानबूझ कर अच्छे-अच्छे कैरियर छोड़ कर पुरातत्व विभाग की नौकरी स्वीकार की है। उनको लड़कियों के प्वायस की क्या

कभी हो सकती थी। आस्था और उदासी, क्या समझा जाय! क्या अर्थ ग्रहण किया जा सकता है।

फिर इसी नवम्बर में तो...एकाएक मालूम हुआ भइया विवाह कर रहे हैं। हमने न जाने कितने विषयों पर विचार किया होगा, रात-रात न जाने कितनी व्यक्तिगत समस्याओं पर तर्क-वितर्क किया होगा। पर विवाह तै हुआ, हो भी गया और भइया ने कोई पूछ ताँछ नहीं की, राय नहीं ली। लड़की के विषय में परामर्श करने की ज़रूरत भी नहीं हुई। कितनी बार आग्रह किया था, प्रसंग उठाया होगा। लेकिन विवाह तै हो गया, और तब भइया का पत्र आया......

खिड़की में पर्वतीय श्रेणी का वृत्त झाँक रहा है और घूमती हुई सड़क पर चढ़ते हुए लोग युवती के दृष्टिपथ पर आ जाते हैं। बड़े-बड़े पाषाण खण्डों के बीच से काली तारकोल की सड़क चमकती रेखा-सी चढ़ती-घूमती एक ओर लुप्त हो गई है। कुछ लोग उस रेखा पर आगे बढ़ते जा रहे हैं। उनका अनुसरण करते हुए युवती के मन पर पत्र की कुछ पंक्तियाँ तैर जाती हैं......

मैं विवाह कर रहा हूँ तुम खुश होगी, तुम चाहती थी न कि मैं विवाह कर लूँ।...शायद तुमको कुछ बुरा लगे, लग भी सकता है। तुम से मैं पूछ नहीं रहा हूँ, परामर्श नहीं लिया है...। हँसोगी, हाँ सचमुच। मैंने अपने मन से भी नहीं पूछा-जाँचा। भाभी ने कहा—'लड़की है, ठीक ठाक है, विवाह अच्छा रहेगा।' मैंने देखा विवाह किये बिना भी चलेगा नहीं।...और बस विवाह कर ही लूँगा। पूछोगी—'क्यों, मन में आग्रह नहीं है।' मैं स्वयं ठीक नहीं समझता।...हाँ नहीं है, यही कह पा रहा हूँ।"

पत्र की पंक्तियाँ उभर कर फिर सूनी काली तारकोल की उठती हुई सड़क से मिल गईं और युवती के मन पर कुछ बनने-मिटने लगा।

एक्सप्रेस खट-खट खटर-खट की गुंज करती हुई एक स्टेशन छोड़ कर आगे बढ़ गई और युवक का मन उसके साथ झकझोर उठा। आभास मिला—सामने की बर्थ का पुरुष उठ कर बैठा, सुराही से पानी लेकर पीने के बाद फिर लेट गया। उसकी ओर देखने का आग्रह मन में उठा, पर वह भाव वैसे ही मिट गया। मन में कहीं कुछ उलझाव है...मिले-जुले चित्रों के बीच वह क्रम से देखने की कोशिश कर रहा है। ट्रेन की खट-खट सटरसट सट-सट की अनुगूँज उभर कर एक चित्र की पृष्ठभूमि बन जाती है और वर्षों पूर्व की एक घटना उससे रेखाएँ ग्रहण करती जान पड़ती है—

'खटखट खट सट सटसट! अँधेरे में बिजली के बल्ब दूर से चमकने लगते हैं, प्रकाश के पंक्तिबद्ध टिमटिमाते दीप से पहाड़ी श्रेणियों के अन्तराल में लुकते-छिपते दिखाई पड़ते हैं। आगरा पैसिंजर चक्कर लगाता हुआ, श्रेणियों को एक ओर छोड़ता हुआ नगर में प्रवेश कर रहा है। युवक जग चुका है, उसने अपना सामान भी ठीक कर लिया है। उतरने के लिए तैयार हो चुका है, मन उसका अधिक तैयार है। मन उद्वेलित है...अज्ञात भय, आशंका, उल्लास की मिश्रित भाव-स्थिति।... जैपुर...स्टेशन! ट्रेन यार्ड में प्रवेश कर रही है...ट्रेन प्वाइंट्स पर पट-रियाँ बदलती हुई आगे सरकती हुई प्लेटफ़ार्म नम्बर १ पर आ रही है। वह कम्पार्टमेंट के द्वार पर खड़ा है...न जाने कैसी आशा-उल्लास

की भावना मन में हल्के भय की सृष्टि कर रही है। फूफा जी...आगे बढ़ रहे हैं। ट्रेन लगभग रुक चुकी है, आगे बढ़ते हुए वे कह रहे हैं—'नरेश, तुम आ गये।' और उनके साथ राजू है, सन्ध्या है। पर...ये कौन हैं? ये दोनों साथ ही तो हैं। शायद फूफा जी के भाई...हाँ भाई ही तो कहते-मानते हैं...और यह लड़का उनका ही पुत्र श्याम होगा। राजू और सन्ध्या दौड़ कर फूफा जी के आगे हो जाते हैं—'भइया, ओ भइया, नरेश भइया...नमस्ते...नमस्ते।' वे दोनों हाथ पकड़ कर उसे नीचे खींच रहे हैं। वह प्रसन्न है, उल्लसित है। घर छोड़ने की उदासी मन में उभर कर रास्ते भर फैलती रही और घनी होती रही थी, पर यहाँ आकर जैसे छटने लगी हो। घुमड़-घुमड़ कर फैलनेवाली उदासी के घने बादल अब छँट कर बिखर रहे हैं, फैल रहे हैं। सन्ध्या के गाल पर हल्की चपत लगा कर वह फूफा जी के चरणों पर झुक जाता है...पर उसकी दृष्टि में एक चित्र तैर गया है...सफ़ेद साड़ी काले ब्लाउज़ वाली एक लड़की कोमल भाव से हाथ जोड़े खड़ी है...उसकी आँखों में जिज्ञासा ऐसा कुछ भाव है कि मन पर उभरता।...फूफा जी कुली को सामान उतारने का निर्देश देकर उसकी ओर मुड़ते हैं—'देखो भाई नरेश,... अरे भई राजे ज़रा दूसरों को बोलने का मौका दिया करो...सुनो सन्ध्या, भइया पर इस तरह लदते नहीं।...हाँ देखो नरेश, यह हमारे बड़े भाई मि० गोविन्द नारायण की पुत्री हैं—नीरा जी, पढ़ने में बहुत तेज़। यू सी शी इज़ स्पेशली इन्ट्रस्टेड इन फ़िलासफ़ी एण्ड लिटरेचर। तुम से ख़ासी पटेगी। और ये हैं आरती रानी हँसौड़, पढ़ने-लिखने की चिन्ता से एकदम मुक्त।...ये हैं हमारे श्याम बाबू—।' सुनता जा रहा है... पर यह सुनना क्रमशः डूबता गया, वह केवल देख भर रहा है...साहित्य और दर्शन में रुचि लेनेवाली लड़की...परिचय के बाद जिज्ञासा उसकी कुछ संकुचित होती है, पर साथ ही आँखों में सहज उत्सुकता के साथ यह भाव और भी उभर कर व्यक्त हो गया है। सब लोग प्लेटफ़ार्म से बाहर निकलने के लिए आगे बढ़ रहे हैं, राजू और सन्ध्या ने उसे फिर घेर

लिया है। पीछे से कोई कह रहा है, वह सुन लेता है। स्वर धीमा है...
'नीरा जीजी, यह तो कुछ ऊँचे नहीं, निकले पूरे गावदी...अंकिल
तो...।'' धीमी पर तेज़—'छिः।' तिरछे मुड़कर उसने देखा,
उसकी आँखें नीरा की आँखों से मिल गईं—सफ़ेद साड़ी काले ब्लाउज़
वाली लड़की की आँखों में भाव है—'मैं निरपराध हूँ। इसमें मैं
नहीं हूँ।'

"तार आया है जीजी, भइया दिल्ली से आ रहे हैं।" बाएँ हाथ से तार लेते हुए वह कहना चाहती है—'अच्छा।' पर वह कुछ कहती नहीं। आश्चर्य, उल्लास, प्रसन्नता जो भी भाव उसके मन में उठा हो, उसको व्यक्त करने की शक्ति अथवा आकांक्षा उसमें शेष नहीं। दृष्टि के सामने तार फैला है और तार के अक्षर उसकी आँखों में तैर जाते हैं... उसने आँखें बन्द कर लीं। अक्षर फैलते-फैलते गये...मिल कर एक लहर बन गये। एक लहर से दूसरी लहर उठी, और बनती हुई लहरों से विचार की शृंखला फैलने लगी...

नरेश भइया आ रहे हैं...क्यों...आना पड़ा...विवाह हुए अभी केवल दस दिन हुए हैं!...हाँ, उसने लिखा था—शायद बहुत दिन नहीं चल सकूँगी...डॉ० अंकिल कह रहे थे।...लेकिन अनायास चल पड़ने की बात भइया के मन में कैसे उठी? बड़े दिन की छुट्टियों में वे शिमला जाने वाले थे, निश्चित प्रोग्राम था...लौटते भाभी के साथ इधर आने की बात अवश्य थी। मन भी रह जाता...अपने भइया की भाभी...। उसने लिखा था...। पर उसमें घबरा कर चल देने जैसी बात क्या थी।...बीमारी, यों ही चलती रही है और न जाने कब तक। कितनी बार लोग अन्तिम बार के लिए आकर निराश लौट गये।... फिर यह आने की बात क्या थी...एकाएक, नई चार दिन की बहू को छोड़ कर। लेकिन भइया सदा से ऐसे ही रहे हैं।

मोटर का हार्न! उसका ध्यान बँटता है। आँखें बन्द किये ही किये पुकार कैसी है—"शातादीन, शातादीन।" उसे आभास मिलता है, किसी

ने कमरे में प्रवेश किया, पदचाप से समझ लिया—आरती है। आरती खड़ी है—मौन। वह जानती है कि बहेन जी को उसका आना ज्ञात हो गया है। उसने धीरे से आँखें खोल दीं—"आरती, तुम।" हार्न की मिटती हुई आवाज़ के साथ ही उसका प्रश्न डूब चुका है। आरती अपनी जीजी के मानसिक उतार-चढ़ाव से परिचित है—"जीजी, दातादीन बाज़ार गया है।" युवती थके भाव से कह देती है—"अच्छा।" और उसकी पलकें फिर झँप जाती हैं। पलक गिरते-गिरते पहाड़ी श्रेणी के वृत्त पर चढ़ने वाली सड़क की एक झलक मिल जाती है।...चट्टानों के बीच काली रेखा पर दौड़ती हुई कार...हार्न का स्वर उसके मन से बिल्कुल मिट चुका है, पर उसकी अनुगूँज अब भी शेष है। यह स्वरहीन गूँज धीरे-धीरे विचार-श्रृंखला के रूप में बदल जाती है...भइया आज आयेंगे...तार आया है...और उस दिन ऐसे ही भइया आये थे।

ट्रेन लम्बी सीटी देती हुई प्लेट-फ़ार्म पर धीरे-धीरे रुक रही है। चच्चा के साथ, पीछे-पीछे वह कम्पार्टमेंट के सामने पहुँचती है। एक किशोर साधारण कुरता-धोती में दरवाजे के सहारे हाथ जोड़े खड़ा है। राजू और सन्ध्या हैं कि दौड़कर ऊपर से हाथ पकड़ कर खींच रहे हैं। वह अत्यन्त संकोच के साथ दोनों हाथ जोड़ लेती है। किशोर मृदु भाव से मुस्कराता हुआ चच्चा के पैरों पर झुक जाता है। यह कैसे हैं! ...इस सीधे से प्रभावहीन लड़के के मुस्कराने के ढंग में अवश्य कुछ आकर्षण है।...परिचय कराया जाता है, चच्चा भी कैसे हैं, उसकी लज्जा आ रही है। लेकिन अच्छा ज़रूर लगता है, खीझ के बावजूद भी। लगता है...शायद उसकी पट सकेगी, खूब भी पट सकती है।... और श्यामू,.उसकी बात से मन लज्जा-ग्लानि से भर आता है। कितना असभ्य व्यवहार है उसका...और इस पर अपने को एटीकेट का अवतार गिनता है। क्या कह गया उस दिन!...और उन्होंने देखा, क्या था उस दृष्टि में। मुड़ी हुई दृष्टि में...क्रोध, उद्वेग...नहीं, ऐसा तो कुछ

भी नहीं लगता है। ..कोई सरल प्रश्न मात्र झाँक रहा था उसमें! पर उस जिज्ञासाभरी दृष्टि से दृष्टि मिलाये रखना क्या सरल था, सम्भव था?

आज नरेश भइया आ रहे हैं...उस दिन पहली बार जब वे आये थे, सबके मन में उल्लास था...आगन्तुक के प्रति उत्सुक हो उठना सहज है। पर वे क्या उस दिन भी अपरिचित लगे थे? कम से कम उसके मन का भाव ऐसा ही था। कुछ दिनों में तो सभी ने अनुभव किया कि वे बिलकुल अपने हैं। चच्चा ने हँसी में कहा था—लिटरेचर और फ़िलासफ़ी की बात...पर ऐसा ही कुछ हुआ। क्यों होता है ऐसा? किसी के प्रति आरम्भ से वितृष्णा मन में उत्पन्न हो जाती है, और किसी के प्रति आत्मीयता का अनुभव होने लगता है। कोई किसी के अधिक निकट आ जाता है, किसी की किसी से अधिक पटती है। शायद रुचि...शायद आदर्श...उनकी समता, उनकी निकटता। हो सकता है।...पर भइया और मुझ में इनका अन्तर ही अधिक रहा है... अनेक बार तो विरोध भी रहा है।

यह विवाह की बात है। वे सदा पक्ष में रहे हैं...उन्होंने विवाह को जीवन की पूर्णता के रूप में देखा है, कम से कम कहा यही है। पर वह विपक्ष में रही है...विहाह की अनिवार्यता के! आज एक युग से प्रश्न उठा नहीं।...पर बाबू जी थे, तब उनके सामने यह प्रश्न उठा था...अपने पूरे वेग के साथ उठा था। जन्मपत्रियाँ आईं-गईं......बातचीत चलती रही।......और तब उसने विवाह की विवशता का खुल कर विरोध किया था, जिसको लेकर घर में काफ़ी संघर्ष रहा।

•

गहरे परदों के कारण कमरे में हल्का प्रकाश है। इस हल्के प्रकाश में बाहर की खिड़की से आनेवाला प्रकाश मिलजुल कर घुल जाता है... और कमरा नीली आभा से भर गया है। चुपचाप धीरे-धीरे एक प्रौढ़

ने कमरे में प्रवेश किया, पदचाप से समझ लिया—आरती है। आरती खड़ी है—मौन। वह जानती है कि बहेन जी को उसका आना ज्ञात हो गया है। उसने धीरे से आँखें खोल दीं—"आरती, तुम।" हार्न की मिटती हुई आवाज़ के साथ ही उसका प्रश्न डूब चुका है। आरती अपनी जीजी के मानसिक उतार-चढ़ाव से परिचित है—"जीजी, दातादीन बाज़ार गया है।" युवती थके भाव से कह देती है—"अच्छा।" और उसकी पलकें फिर झँप जाती हैं। पलक गिरते-गिरते पहाड़ी श्रेणी के वृत्त पर चढ़ने वाली सड़क की एक झलक मिल जाती है ।...चट्टानों के बीच काली रेखा पर दौड़ती हुई कार...हार्न का स्वर उसके मन से बिल्कुल मिट चुका है, पर उसकी अनुगूँज अब भी शेष है। यह स्वरहीन गूँज धीरे-धीरे विचार-शृंखला के रूप में बदल जाती है...भइया आज आयेंगे...तार आया है...और उस दिन ऐसे ही भइया आये थे।

ट्रेन लम्बी सीटी देती हुई प्लेट-फ़ार्म पर धीरे-धीरे रुक रही है। चच्चा के साथ, पीछे-पीछे वह कम्पार्टमेंट के सामने पहुँचती है। एक किशोर साधारण कुरता-धोती में दरवाजे के सहारे हाथ जोड़े खड़ा है। राजू और सन्ध्या हैं कि दौड़कर ऊपर से हाथ पकड़ कर खींच रहे हैं। वह अत्यन्त संकोच के साथ दोनों हाथ जोड़ लेती है। किशोर मृदु भाव से मुस्कराता हुआ चच्चा के पैरों पर झुक जाता है। यह कैसे हैं! ...इस सीधे से प्रभावहीन लड़के के मुस्कराने के ढंग में अवश्य कुछ आकर्षण है।...परिचय कराया जाता है, चच्चा भी कैसे हैं, उसको लज्जा आ रही है। लेकिन अच्छा ज़रूर लगता है, खीझ के बावजूद भी। लगता है...शायद उसकी पट सकेगी, खूब भी पट सकती है।... और श्यामू,.उसकी बात से मन लज्जा-ग्लानि से भर आता है। कितना असभ्य व्यवहार है उसका...और इस पर अपने को एटीकेट का अवतार गिनता है। क्या कह गया उस दिन!...और उन्होंने देखा, क्या था उस दृष्टि में। मुड़ी हुई दृष्टि में...क्रोध, उद्वेग...नहीं, ऐसा तो कुछ

भी नहीं लगता है। ..कोई सरल प्रश्न मात्र झाँक रहा था उसमें ! पर उस जिज्ञासाभरी दृष्टि से दृष्टि मिलाये रखना क्या सरल था, सम्भव था ?

आज नरेश भइया आ रहे हैं...उस दिन पहली बार जब वे आये थे, सबके मन में उल्लास था...आगन्तुक के प्रति उत्सुक हो उठना सहज है। पर वे क्या उस दिन भी अपरिचित लगे थे ? कम से कम उसके मन का भाव ऐसा ही था। कुछ दिनों में तो सभी ने अनुभव किया कि वे बिलकुल अपने हैं। चच्चा ने हँसी में कहा था—लिटरेचर और फ़िलासफ़ी की बात...पर ऐसा ही कुछ हुआ। क्यों होता है ऐसा ? किसी के प्रति आरम्भ से वितृष्णा मन में उत्पन्न हो जाती है, और किसी के प्रति आत्मीयता का अनुभव होने लगता है। कोई किसी के अधिक निकट आ जाता है, किसी की किसी से अधिक पटती है। शायद रुचि...शायद आदर्श...उनकी समता, उनकी निकटता। हो सकता है।...पर भइया और मुझ में इनका अन्तर ही अधिक रहा है... अनेक बार तो विरोध भी रहा है।

यह विवाह की बात है। वे सदा पक्ष में रहे हैं...उन्होंने विवाह को जीवन की पूर्णता के रूप में देखा है, कम से कम कहा यही है। पर वह विपक्ष में रही है...विहाह की अनिवार्यता के ! आज एक युग से प्रश्न उठा नहीं।...पर बाबू जी थे, तब उनके सामने यह प्रश्न उठा था...अपने पूरे वेग के साथ उठा था। जन्मपत्रियाँ आईं-गईं......बातचीत चलती रही।......और तब उसने विवाह की विवशता का खुल कर विरोध किया था, जिसको लेकर घर में काफ़ी संघर्ष रहा।

•

गहरे परदों के कारण कमरे में हल्का प्रकाश है। इस हल्के प्रकाश में बाहर की खिड़की से आनेवाला प्रकाश मिलजुल कर घुल जाता है... और कमरा नीली आभा से भर गया है। चुपचाप धीरे-धीरे एक प्रौढ़

स्त्री कमरे में प्रवेश करती है...वह सतर्क है कि कमरे के प्रकाश में कहीं कोई तरंग न उठे...लगता है इससे बीमार के आराम में कहीं बाधा न पड़े। सतर्क-सी वह चारपाई के पास खड़ी हो जाती है, प्रकाश ज़रा भी हिला-डुला नहीं...बिल्कुल सुस्थिर-शांत फैला रहा। युवती की शांति भंग नहीं हुई, अपने अस्तित्व से उसने अनुभव किया कि वातावरण में परिवर्तन हुआ है, उसने जाना—कौन है! फिर भी वह एकदम मौन है। आज उसे लग रहा है...न जाने कैसी तन्द्रा उसे घेर रही है। वर्षों की याद है...एकदम एकरस सोना उसने नहीं जाना। परिश्रम की गहरी थकान में पड़ कर सो जाना, और उठने पर अद्भुत ताज़गी से भर जाने का सुख युगों से वह नहीं जानती! उसे लगता रहा है... किसी न किसी पीड़ा की हल्की गहरी मूर्च्छा में उसने अपनी नींद पूरी की है...अथवा किसी तीखे दर्द की वेदना की बची हुई ख़ुमारी में वह सो गई है।...और आज न जाने कैसी तन्द्रा उसको घेर रही है जिसमें उसकी सारी पीड़ाएँ डूबती जा रही हैं...उसे लग रहा है...उन डूबती पीड़ाओं, वेदनाओं के साथ उसका अस्तित्व भी डूब रहा है।

स्त्री खड़ी है...सुस्थिर प्रकाश से धीरे-धीरे सिमटती हुई उदासी उसकी आँखों में हल्के बादलों की तरह छा रही है। उसके मन के क्षितिज पर...दूर बहुत दूर आँधी उठती रही, पर वह सब कुछ रोके थामे खड़ी है। उसकी आँखों में...दूर बहुत दूर उदासी और वेदना के थमे हुए तूफ़ान के अन्दर न जाने कैसी करुणा की बिजली कौंधती रही।...दूर के तूफ़ानी झोंके ने नियंत्रण के किसी कोने से आकर उसे द्रवित कर दिया...और आँखों से दो बूँद आँसू ढुलक पड़े। युवती के गालों पर आँधी का तप्त झोंका लगा, उसने पलकें खोल दीं—"अम्मा", उसने कहा, पर इस गहरे संवेदन में भी जैसे कोई पकड़ नहीं है...कान में पड़ा शब्द अतीत की गहराई से निकल कर वर्तमान की उदास तरंगों में खो गया।...माँ अपनी कमज़ोरी पर संकुचित

हुईं, और अपनी अँगुलियों से आँसुओं को पोंछती धीरे-धीरे कमरे से बाहर हो गईं।

युवनी की दृष्टि में उमड़ते आँसुओं वाली आँखें कुछ क्षण टिकी रहीं, फिर माँ का खोया-खोया-सा उदास मुख आविर्भूत हुआ और खो गया।...रुक कुछ शून्य...फिर धीरे-धीरे शून्य से खिड़की में दूर की घाटी का धूपछाया वाला दृश्य झाँकने लगा, उसके मन की बेचैनी उठते-उठते इस धूप-छाँह में खो गई, आँधी आते-आते रुक गई।... उसने अनुभव किया जैसे उमस है, पर उमस में घुटन के स्थान पर आलस्य अधिक लग रहा है...और यह तन्द्रा के रूप में सारी चेतना को ग्रसता हुआ फैल रहा है। पलकें शिथिल हो कर गिर गईं। मन के किसी कोने में विचार का सूत्र अपने आप खुल रहा है—

माँ...माँ ने बहुत सहा है। माँ को दुःख ही मिला है...प्रत्येक दुःख को उन्होंने बिना किसी प्रतिवाद के स्वीकार किया है...कैसे किया है, किस भाव से वे सब कुछ सहती-झेलती खड़ी रह सकी हैं!...माँ ने अपना सारा दुःख-सुख अपने भगवान् को सौंपा है। अपनी आपत्ति-विपत्ति में आँसुओं को सँभाले वे सदा प्रभु की शरण में गई हैं... 'रामचरित' के खुले हुए पृष्ठों में...जय राम...पाहिजनं...बिभो... सरनागत पाहि प्रभो...में अपने को डुबो दिया है। पर...पर प्रभु ने क्या किया? पाहि कह कर शरणागत होनेवाले भयाकुल प्राणी का क्या किया? कष्ट दूर नहीं हुए, पीड़ाएँ मिटी नहीं, कलेश और आपत्तियाँ कम नहीं हुईं! फिर प्रभु ने क्या किया? उनके प्रभु ने...। इस सारे समर्पण का मूल्य क्या है? प्रश्न करने पर, पूछने पर, विरोध करने पर सिवाय मुस्कराने के उन्होंने कभी कोई उत्तर नहीं दिया। उनकी मुस्कान में आत्म संतोष का भाव उभरता, विश्वास का स्वर मुखरित हुए बिना भी फैल जाता...नहिं राग न लोभ न मान मुदा!...माँ सुख-दुःख में अन्तर मान कर चलीं नहीं। पर यह कैसे हो सका, यह सम्भव कैसे

हुआ ?...शायद उनके प्रभु ने यह बल उन्हें दिया है। प्रभु बल देते हैं, दे सकते हैं ? मैं...मैंने तो जाना नहीं, मैं क्या कभी समझ नहीं सकी...। आज युग बाद मेरे कष्ट, मेरी पीड़ा-वेदना मिट गई है, मिट रही है ! प्रभु के अनुग्रह से...माँ कहेंगी...क्या यह भी, यह भी प्रभु है ? और वर्षों की पीड़ा, वर्षों का झेलना। वह...वह ?

खुलते हुए विचारों का सूत्र उलझ रहा है, और उलझाव भारी होता जा रहा है। थक कर युवती पलकें खोलती है, पर तन्द्रा के आलस्य से पलकें भारी बोझिल जान पड़ती हैं। सामने खिड़की है...पर कुछ क्षण दृष्टिपथ केवल शून्य में फैला रहा, सारे दृश्य उसमें डूबे खोये रहे। फिर धीरे-धीरे पहाड़ी वृत्त का एक भाग साफ़ हुआ...श्रेणी के एक शिखर पर धूप फैली है...छोटी घनी झाड़ियों के बीच एक बहुत विशाल पाषाण सन्तुलित जमा हुआ है। दूसरी पाषाणी चट्टानों पर आधारित होकर भी वह अपने आप में बिल्कुल अकेला है। धूप में चमकती हुई इस चट्टान का एकाकीपन उसके मन पर प्रतिघटित हो रहा है...कुछ क्षण यह भाव उसे घेरे रहता है, फिर वह अपने इस भाव से आतंकित होकर आँखें मूद लेती है। पहला सूत्र जुड़ जाता है, क्रम आगे बढ़ता है... अब उसमें उतना भारीपन नहीं है।

तब माँ का आग्रह था...विवाह में विलम्ब नहीं होना चाहिए। वे विवाह को सामाजिक अनिवार्यता मानने के पक्ष में थीं, फिर जो प्रचलन है उसे मान कर चलना होगा ही...सभी लड़के फ़ोटो माँगते हैं, यह चलने लगा है...फिर अड़ने से, ज़िद करने से क्या होगा ! माँ को खीझ है कि वह व्यर्थ हठ करती है, यह उसका दुराग्रह है। यह ऐसी क्या बात है ? इसमें अनहोनी क्या है ? फिर यह तो नया ढंग है, इसमें उसे आपत्ति क्यों होनी चाहिए !...माँ को बात समझाना सरल नहीं है, उनके अपने संस्कार हैं। उन्होंने यही जाना है—लड़की का

अपने विषय में मौन रहना ही शोभन है। उन्होंने चुपचाप समर्पण करना सीखा है...माँ-बाप ने उनके लिये जो सोच-समझ दिया, वही उनकी गति रही...फिर पति ने जो कुछ कहा, वह उनके लिये मार्ग बन गया...और...और अब उनका प्रत्येक कार्य प्रभु की इच्छा पर निर्भर है, उन्होंने सम्पूर्ण इच्छाओं को प्रभु को समर्पित कर दिया है। उसके विरोध को वे समझ नहीं सकीं...उस दिन यह अन्याय लगता था... पर आज उनकी विवशता लगती है।...लेकिन माँ ने विवशता मानी नहीं, आज भी अपने संस्कारों के बल वे आँधी-तूफ़ान झेलती चली जा रही है। कैसे भी क्यों न हो, उन्होंने अपने प्रभु का भरोसा नहीं छोड़ा।

दूसरी ओर टँगी हुई दीवाल घड़ी ने टन की लम्बी होती ध्वनि के साथ साढ़े ग्यारह बजने की सूचना दी। युवती ने आँखें खोलीं...ध्वनि ने जैसे उसके सुस्थिर अस्तित्व में एक हल्की तरंग उत्पन्न कर दी। पर तरंग फैलने के लिए आगे बढ़ते-बढ़ते एकाएक विलीन हो गई... और सामने की घाटी में एक ओर छाया बढ़ती जा रही है, दूसरी ओर की शृंखला पर धूप चढ़ती आ रही है। उसने देखा—बिखरे दृश्य के प्रति बिना किसी संवेदन के आँखें बन्द कर लीं। शिथिल होकर विचार के सूत्र बिखर गये हैं और कल्पना के विस्तार में अतीत का दृश्य उभरने लगता है...

वह सुन रही है,...एक कोने से दृश्य का थोड़ा भाग झलक रहा है। बाबू जी उसके सामने पड़ते हैं और नरेश भइया उनके सामने हैं, ऐसा अनुमान लगता है। बाबू जी अपनी परिचित मुस्कान के साथ कह रहे हैं—'नीरा तुम को मानती है, तुम्हारा कहना भी मानती है। कह कर देखो...शायद तुम्हारी बात अधिक समझ सकेगी। नरेश जी, कम से कम तुम्हारे सामने अपनी बात तो खोल कर रख सकेगी।' नरेश

भइया कह रहे हैं—'फूफा जी, नीरा बहेन अपनी बात के आगे किसी की बात कब मानती हैं। मैंने तो सदा कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को, सामाजिक व्यक्ति को विवाह करना चाहिये...व्यक्ति के विकास के लिए, व्यक्ति की पूर्णता के लिए...।' वह सुन रही है, भइया से वह ऐसा ही सुनती आई है। लेकिन उसे कभी नहीं लगा कि भइया अपने को स्वीकारते हैं...ऐसा कहने में उन्होंने अपने से ही कुछ छिपाया है।...माँ ने जैसे उपालम्भ दिया हो—'भइया तुम्हीं समझो। नीरा का तो ढंग ही उबींधा है। रही फ़ोटो की बात, तो अब चलन यही है। जहाँ जाओगे फ़ोटो का सवाल पहले आयेगा।'...

(उस दिन का आघात आज भी जैसे मन में प्रतिध्वनित हुआ, पर केवल देर तक ठहरी हुई अनुगुंज के रूप में।) बाबू जी अपने सहज मृदु भाव से फिर कहते हैं—'भई, तुम समझती तो हो नहीं। वह ठीक कहती है—फ़ोटो भिजवा कर चार दोस्तों के बीच हँसी-मज़ाक उड़वाना उसे पसन्द नहीं। यदि देखने की बात ही है तो आमने-सामने एक दूसरे को देख सुन कर पसन्द किया जा सकता है और असल में बात उसकी ठीक है, बहू ने तो यही कहा है न।" वह सुन रही है, बाबू जी ने सदा उसे अधिक समझा है, माँ ने प्यार अधिक भले ही किया हो। माँ को क्रोध कभी नहीं आता, पर वे विवशता की खीझ से कह रही हैं—'तुम दोनों बाप-बेटी दुनिया से बाहर हो। जो होता है वही तो आख़िर हमें भी करना होगा। क्या ठीक है, क्या ग़लत है, इसी का विवेक करते रहना है तो बैठे रहो। शादी ब्याह ऐसे नहीं हो जाते।... और मैं तो कहती हूँ यह सब कहने की बात है, सच तो है कि नीरा के मन में विवाह करने की है ही नहीं।...यह सब दुनिया से उलटी बात है,...और...।' माँ कहते-कहते रुक गई, संकोच से लगा जैसे उनको स्वयं अपनी बात कठोर लगी हो।

वह कल्पना में देख सुन रही है...यह सब ऐसा अतीत है जिससे

वह मानो असम्पृक्त हो। उसे आज भी लगता है—यह विवाह ऐसी क्यों विवशता बन जाता है? पर इस स्थिति में इतनी आसानी से इस विवशता को वह नकार नहीं सकती, यद्यपि समझ पाना भी सरल नहीं है कि आखिर वह है क्या? इसी बीच कोई आवाज़ बहुत दूर से निकट आती जा रही है, क्रमशः आवाज़ स्पष्ट हो जाती है—"बीरा बाई, दवा।" वह अर्थहीन 'हूँ' कह कर भी वैसे ही लेटी रहती है। केवल एक ध्वनि 'दवा' उसके मन में तैरती रहती है, फिर विचार की लहर में बदल जाती है—क्या अब भी दवा पीने का अभिनय उसे करना होगा? यह दवा किस लिये! यह जीवन की कितनी बड़ी विडम्बना है। सब कुछ झेलना होगा, सब कुछ सहना होगा और उसके साथ यह स्वादहीन दवा भी पीनी होगी। कितनी दवाएँ उसने पी हैं, कितनी दवाओं के स्वाद बदले हैं...पर यह कह सकना सरल नहीं, यह अनुभव कर पाना सम्भव नहीं कि किसका क्या स्वाद है।...यह ज़िन्दगी...यह चौदह लम्बे वर्षों की ज़िन्दगी...मृत्यु की प्रतीक्षा की लम्बी होती हुई घड़ी... मानो मौत के इन्तज़ार में सार्थक होनेवाली कब्र हो। सब वर्षों से जानते रहे हैं, वह भी अपरिचित नहीं रही है...मृत्यु धीरे-धीरे ज़िन्दगी को निगल रही है...फिर भी यह दवा, आखिर क्यों?

पास खड़े हुए चौड़े मुँह और नाटे कद के दासादीन ने प्रार्थना की—"बाई, माँ जी ने दवा भेजी है।" उसके स्वर में है कि उसका दोष नहीं है।...और माँ के लिए उसे दवा पीने का अभिनय चलाना ही होगा...माँ के लिए इतना ही तो वह कर सकती है...माँ का मन रखना ही होगा। उसने आँखें खोलकर, बाँयें हाथ से गिलसिया सँभाल कर लेटे ही लेटे मिक्शचर मुँह में उड़ेल लिया। फिर दूसरी बार इसी प्रकार पानी का घूँट ले लिया और कहा—"बस"। इस कहने में कितनी विवशता, कितनी खीझ है, इससे छुटकारा पाने के लिए ही जैसे उसने आँखें बन्द कर लीं...और अपने मन के इधर-उधर बिखरे विचार-सूत्रों को सँभालने की वह कोशिश कर रही है।

...हाँ, माँ का मन रखना ही होगा ! माँ को बहुत दुःख मिला है। सारे परिवार की आपत्ति-विपत्ति...और उसको लेकर माँ को कम वेदना नहीं रही है। ऐसा क्यों रहा है? क्यों उनके मन का भाव रहा है... विवाह उसने नहीं करना चाहा, नहीं किया ! यही नहीं उससे बचने के लिए ही वह बीमार रही, बीमार बनी रही। निराशा से माँ का मन टूट गया है, उनको समझा सकना कठिन है। उसने विवाह करना नहीं चाहा, क्या यह ठीक है? वह स्वयं निश्चित ठीक नहीं कह सकती, फिर कौन कह सकता है...कभी...जीवन के कैशोर को पार करते-करते... उसके मन में विवाह की कोमल कल्पना ने पंख फैलाये नहीं !...उसके मन में किसी अज्ञात साथी के लिए सहज कौतूहल जागा नहीं ! लेकिन ...लेकिन इस सब के प्रति उसके मन में कहीं वितृष्णा भी पली है... विवाह जैसे किया जाता है, जैसे होता है, उसका विश्वास कभी नहीं जमा ! यह क्या है जो जीवन में तै हो जाता है, निश्चित हो जाता है? कैसे हो-हल्ला के बीच दो व्यक्ति इतने निकट आ जाते हैं कि उनको अपने सम्बन्धों की विशेष स्थिति जीवन भर के लिये स्वीकार कर लेनी होगी।

...और नरेश भइया...ऐसा उसे कभी नहीं लगा कि आपस में उनके सोचने के ढंग में कोई मौलिक अन्तर रहा है।...फिर भी न जाने क्यों इस प्रश्न को लेकर किसी न किसी रूप में वे विरोध करते रहे हैं, कम से कम उसे ऐसा ही लगा है।...पर साथ ही ऐसा भी लगता रहा है कि भइया का विरोध प्रयास साध्य है, उसके लिये जैसे प्रयत्न करना पड़ रहा हो।......वे उसका विरोध करते हैं, विरोध जैसे उन्हें करना पड़ रहा हो। पर वे ऐसा क्यों करते हैं, क्या विवशता है।...यह उनका अपना विश्वास भी हो सकता है...उसने अपने आग्रह के अनुसार उनके विषय में आरोप कर लिया हो, ऐसा भी सम्भव है।... वे विवाह पर विश्वास करते रहे हैं, उसको जीवन की पूर्णता के रूप में ग्रहण किया है...

आज उनके विवाह के दस दिन बीत गये हैं...उनका विश्वास '''त वाह की अनिवार्यता...और उन्होंने किया भी।...विवाह किया ...हाँ कर ही लिया...पर टला कम नहीं। क्या उन्होंने नहीं टाला? इसलिए कभी नहीं टला कि अनुकूल परिस्थिति नहीं रही है। उनकी अनेक शर्तें पूरी होती गईं...पढ़ाई, नौकरी, व्यवस्था...अभी समय नहीं आया, लड़की सुखी नहीं रह सकेगी, उसके अपने आपका कुछ ठीक नहीं।...लगता रहा है कि वह इसलिए कभी नहीं रुका कि कोई कठिनाई थी, उचित प्रस्ताव की प्रतीक्षा थी। होने न होने का प्रश्न नहीं उठता! घूम फिर कर मन इसी ओर जाता है...भइया विवाह करना नहीं चाहते रहे हैं, उससे किसी कारण भागते रहे हैं। पर क्यों... ऐसा क्यों? आखिर क्यों भागते रहे हैं? व्यक्तित्व की पूर्णता और विवाह की अनिवार्यता...और आज जब विवाह हो रहा है, हां,चुका है, तो वह कह रहे हैं...विवाह करना है, सो कर रहा हूं। यह करना क्या है, जो इस प्रकार करना पड़ रहा है। मुझे कभी नहीं लगता, कभी नहीं लगता ...मनुष्य के लिए यह अनिवार्यता है। आखिर क्यों है यह विवशता? क्यों होनी चाहिये?

आहट पाकर उसने आँखें खोलीं, पर कमरे में एकरस निस्तब्धता है। घड़ी का पेंडुलम टक-टक करता हुआ हिल रहा है...कुछ क्षण बाद एक लम्बा टिक-टिक होती है और फिर उसी प्रकार टक-टक करता हुआ पेण्डुलम हिलता रहता है। विचार एक बोझा है, धीरे-धीरे बढ़ते हुए बोझ से वह थक गई है...पर इस एकरस उबानेवाली टक-टक को सहपाना आसान नहीं है। यह घड़ी का पेण्डुलम, उसका इस प्रकार अनवरत हिलना उसके अस्तित्व को मथ रहा है। इस मथित करनेवाली संवेदना से बचने के लिए उसने खिड़की के बाहर दृष्टि फैलाई। उसने अपने अस्तित्व को वृत्ताकार श्रेणियों पर फैलती हुई दृष्टि के साथ ही मिला देना चाहा। अपने चेतना के विस्तार में वह कुछ क्षण बाहर के

दृश्य पर तैरती रही, तैरती रही...उसे कुछ मुक्ति का अनुभव हुआ। मुक्ति...फैलाव...विस्तार...आकाश, केवल यही अनुभूति शेष रह गई, ...इस हल्की, बहुत वायवी अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ भी शेष नहीं जान पड़ता। पलकें गिरती उठती रहीं, और वह केवल चेतना के प्रसार के रूप में प्रवाहित होती रही। फिर शृंखलाओं की उठती-गिरती रेखाओं पर फैलते-फैलते उसे अपने अस्तित्व का भान हुआ...सामने पहाड़ी वृत्त पर घूमती चक्कर खाती सड़क की कली रेखा आविर्भूत हुई। धीरे-धीरे दृश्य की अन्य रेखाएँ व्यक्त हुईं, प्रकाश में धुँधले रंग प्रकट हो गये। सड़क के छाया वाले अंश पर कोई ऊँची वस्तु आगे बढ़-सी रही है।... घाटी की सड़क पर एक ऊँट आगे पीछे हिलता हुआ आगे बढ़ रहा है। युवती को लग रहा है—सारा दृश्य उसकी आँखों के सामने बहुत निकट आता जा रहा है, सड़क पर बढ़ता हुआ ऊँट आँखों में उतरता चला आ रहा है। वह देखती रहती है और वह छायावाली श्रेणी की ओर धच्चे-धच्चे बढ़ रहा है।...युवती की आँखों में उतरते हुए ऊँट की छाया क्रमशः विलीन हो गई।

रामनिवास बाग के अन्दर, कालेज की ओर वाली सड़क के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे घने वृक्षों के बीच के रास्ते पर दोनों टहल रहे हैं। इस ओर भीड़-भाड़ नहीं है। वे अपने आप में डूबे हुए और बातचीत में तन्मय हैं। पेड़ों की सघन डालियों के बीच से, बाग की चहारदीवारी के उस पार की कालेजवाली सड़क पर ऊँट जा रहा है—ऐसा आभास होता है। पत्तियों की झिलमिलियों के बीच उसके कूबड़ का ऊपरी भाग और गर्दन भर झलक जाती है। वह कुछ उत्तेजित है, पर युवक शान्त है। वह आवेश में कह रही है—'सवाल है कि यह विवाह ऐसी अनिवार्यता क्यों है? क्यों है कि उसके बिना चलेगा नहीं। फिर सारी परवशता स्त्री को लेकर ही है, पुरुष चाहे मुक्त रह सकता है, चाहे तो एक के बाद दूसरा भी करता जा सकता है। पर स्त्री की विवाह के बिना

'कोई गति है ही नहीं जैसे !' युवक ने वृक्षों के बीच की लुका-छिपी से दृष्टि फेर कर युवती के मुख पर डाली, पर आँख मिलाने का साहस वह नहीं कर पाता है। अपने आप को बचा कर वह उत्तर देता है—'नीरा, फिर आदमी के आदमी रहने की अनिवार्यता के सम्बन्ध में तुम प्रश्न कर सकती हो ?' अधैर्य के साथ वह पूछ उठती है—'बिना विवाह के मनुष्य-मनुष्य कहलाने योग्य नहीं, वह मनुष्य रही नहीं सकता, शायद तुम यही कहोगे।' लगता है युवक बचाव भर कर रहा है—'ऐसा नहीं तो कम से कम यह कहूँगा कि साधारण परिस्थिति में विवाह मनुष्य जीवन की आवश्यकता है।' युवक की दृष्टि मन को आधार देने के लिए दाहिनी ओर के फ़र्नहाउस से उलझती है। युवती उसके इस टालने जैसे भाव को पकड़ पा रही है और उससे खीझ भी रही है—'फिर इस साधारण से ही हम क्यों न मान लें कि जीवन में कहीं कुछ असाधारण भी हो सकता है।' युवक को सहारा मिला हो मानों, इस बार घने कुंजों से छिपती हुई दृष्टि युवती की दृष्टि से मिल गई और अपनी बात पर हल्का बल देते हुए उसने कहा—'लेकिन नीरा, असाधारण होना स्वस्थ जीवन का लक्षण नहीं है।'

एकाएक दृश्य विलीन हो गया, सब कुछ अपने आप पीछे हटता गया और फिर किसी गहराई में डूब गया।...सामने की काली रेखा थोड़ा मोड़ ले कर फैली हुई है, बस एक रेखा मात्र उभरती है और सारा दृश्य ओझल है। रेखा पर ऊँट की आकृति उभरते-उभरते मिट गई...फिर रेखा स्पष्ट होकर सड़क के रूप में फैल गई है। ऊँट न जाने कब का जा चुका है, पर अब भी आभास होता है नीरव सड़क पर उसकी छाया हिलती हुई आगे बढ़ रही है।...छाया अधिक गोचर हो रही है और सड़क की रेखा पुनः चेतना में डूब रही है।...एक छाया कमरे में प्रवेश करती है, अनुभव होता है...कमरे में कोई चुपचाप प्रवेश कर चुका है,

धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ रहा है।...फिर यह अनुभव करती है—आरती आकर उसके बगल की कुर्सी पर चुपचाप बैठ चुकी है। आँखें मन्द किये ही केवल अपने अस्तित्व से समझ लेती है, इसका उसे अभ्यास है। जान कर भी उसने आँखें नहीं खोलीं, वह अपने आप को सारे दृश्य-जगत् से अलग रखना चाहती है...न जाने क्यों उसकी इच्छा हो उठी है अपने अस्तित्व को खींच कर चेतना-प्रवाह से अलग कर ले, विच्छिन्न कर ले !...नहीं वह चाहती क्या है,...चाहने जैसी पकड़ उसके मन में रही है कहाँ ? चाहने की इच्छा एक बहुत बड़ी आवेगपूर्ण तरंग की गति और शक्ति के साथ हहर-हहर कर उठती है, लेकिन बहुत दूर...बहुत दूर, और पास आने के बहुत पहले, अदृश्य होने वाली रेखा पर ही रेत में...रेत के अथाह दलदल में एकाएक सूख कर विलीन हो जाने वाली सरिता के समान...समा जाती है।...अकस्मात समा जाने वाली इस उत्ताल लहर की एक हलकी हिलोर उसे छू जाती है—बस !

आरती ने स्पर्श के समान मृदु स्वर में कहा—"जीजी !" ध्वनि की प्रत्येक तरंग कोमल वृत्तों में फैल कर उसके अस्तित्व में मिल गई, उसने पलकें उठाईं। आँखों के विस्तार में वही तरंग टूट कर बिखर रही है। यह संवेदना उसे सदा भारी लगी है। इसे सहना उसे अपने कष्टों से अधिक असह्य लगा है, इसके प्रति उसके अन्तर्मन ने सदा विद्रोह किया है...आज वही संवेदना, सहानुभूति उसकी आँखों में तैर रही है। उसमें बोझा न हो, ऐसी बात नहीं; पर आज जब उसकी चेतना अधिक गहरी और सघन हो रही है, वह तैर सके तथा प्रवाहित हो सके ऐसी ज़रूर हो गई है। जीजी कह कर आरती ने उसके प्रति जो आत्मीयता तथा ममत्व प्रकट किया है, सहानुभूति व्यक्त की है, आज वह उसे पाना चाहती है...जो सदा उसके लिए भार रही है, उसी को आज वह ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो उठी है। ऐसा नहीं कि ममत्व को उसने चाहा नहीं, आत्मीयता उसको स्वीकार्य रही ही नहीं ! एक युग से उसे

लगता रहा है कि अमिश्रित, विशुद्ध ममत्व उसे मिला नहीं। इस ममत्व में उसे ऐसी सहानुभूति की छाया मिली है जिसमें उसे अपनी असमर्थता, अपनी विवशता को सहना ही असह्य हो उठा है...दया-दया, निरर्थक निष्क्रिय दया...इसे सहना अपनी सारी पीड़ाओं, सारी वेदनाओं से भी अधिक कठिन, उसे लगता रहा है। लेकिन आज पीड़ाओं के अवसान के समय उसे जैसे इसकी आवश्यकता जान पड़ती है, उसे लग रहा है कि किसी की सहानुभूति से वह आर्द्र हो सके।...और जब आरती ने 'जीजी' कह कर अपनी ममता को, अपनी आत्मीयता को बरबस व्यक्त किया, उसके प्राण उसको पाने के लिए आकुल हो उठे।...लेकिन नहीं...लेकिन आज यह नहीं हो पा रहा है। जब उसका अस्तित्व सहानुभूति से बल ग्रहण करना चाहता है, तभी उसे लग रहा है कि वह उसे ग्रहण नहीं कर पा रहा है...उसके मन की पकड़ ही नहीं रही जिससे वह कुछ पा सके, जिससे वह कुछ अपना सके!...उसका मन...शायद उसके मन में धीरे-धीरे कोई हल्की बरफ़ जैसी वस्तु जम रही है जिससे नीचे ही नीचे उसकी इच्छाएँ निष्क्रिय होती जा रही हैं और वह विवश है, ऐसी विवश कि इस छाती हुई शिथिलता से मुक्त होने का प्रयत्न भी सम्भव नहीं है। उसने कहा—"आरती" स्वर में विवशता उभरने का प्रयत्न कर रही है, पर आज उसके सारे प्रयत्न समस्त आन्तरिक शक्ति जगा देने पर भी विफल हो रहे हैं... तरंग का सारा वेग उठने के पहले ही बिखर-बिखर जाता है। पर इस 'आरती' कहने में दूर की घाटी में गूँज कर फैलने वाली प्रतिध्वनि के समान ममता का स्वर है, आरती यह समझ रही है। इस आकस्मिक परिवर्तन...ममत्व की इस क्षीण स्वीकृति में उसे अपनी जीजी बहन की थकान का जैसे अनुभव हुआ। उसे लग रहा है वर्षों के बाद जीजी ने अदृष्ट से अपनी पराजय स्वीकार कर ली है...अन्दर ही अन्दर महसूस हो रहा है...तारा जीजी ने अपनी ओर से युद्ध समाप्त कर दिया है, अपने को अनिर्दिष्ट पर छोड़ दिया है..... निरन्तर लहरों, तरंगों,

तूफ़ानी थपेड़ों से लड़ने के बाद नाविक ने अब हाथ-पैर ढीले छोड़ दिये हैं। अब उसने अपने को सागर की मौज पर छोड़ दिया है, जिधर चाहे ले जाय।...पर यह पराजय नहीं है, अन्त तक युद्ध करने के बाद अपने आप को युद्ध के प्रति समर्पित कर देना, यह किसी प्रकार पराजय नहीं है। लेकिन...लेकिन जीजी बहेन अब किसके सहारे जी सकेंगी! यह कठोर संघर्ष ही उनके जीवन का आधार रहा है, यही तो उनके जीने की एक मात्र इच्छा रही है! और अब...अब जीजी...!

आरती के लिए यह असह्य है। यह आन्तरिक वेदना से अभिभूत हो जाती है...अन्दर की आँधी झोंके लेने लगती है। उसकी आँखों में आँसू उमड़ आये, वह चुपचाप रो रही है।—"तुम रोती हो आरती, ऐसे नहीं रोते।" इन आँसुओं ने युवती के अस्तित्व को संवेदित कर दिया, पर यह संवेदना ऊपर की बरफ़, जमती हुई बरफ़ से स्पन्दनहीन है। आरती को लगा आज जीजी बहेन में भावुकता जागी है...लम्बे कठोर द्वंद्व के बाद वे एकाएक कोमल हो गई हैं,...आरती के लिए यह सब बहुत भारी है वह फल का रस लाने के बहाने अन्दर चली जाती है।

युवती के मन में, मन के किसी कोने में आघात लगा, लग कर फिर डूबती हुई चेतना का अंश बन गया। उसने अपने को प्रसारित करने के लिए खिड़की के बाहर दृष्टि फेर ली और दृष्टि बाहर के दृश्य पर तैर गई...लेकिन बिना किसी बोध के जैसे ईथर के ऊपर तैर रही हो। उसकी चेतना वर्तमान से हट कर अतीत के दृश्य-बोध में प्रवाहित हो रही है। धीरे-धीरे वर्तमान का शून्य पलकों को भारी करता जाता है...और वह तन्द्रा में है—

'...असाधारण जीवन के लिए सहज नहीं हो सकता, उससे बचना ही चाहिये। हम सब साधारण हैं, यही मान कर चलना चाहिए ...यही स्वस्थ दृष्टिकोण है।' युवक इसी प्रकार कहता जा रहा है,

उसकी वाणी में भावावेश नहीं है। पर इस प्रकार कहने में उसके मन की आस्था व्यक्त होती है। सड़क पर दोनों जा रहे हैं, घने वृक्षों की छाया में प्रकाश धुँधला हो चला है। युवक किसी प्रवाह में कहता जा रहा है—'उत्तरदायित्व से बचना जीवन से बचना है। जीवन की पूर्णता इसी में है कि उसे पूरे अर्थों में लिया जाय, उसके सारे बन्धनों, दायित्वों, मर्यादाओं को समझा जाय, निभाया जाय...।' और यहीं से युवती के लिए आगे समझना कठिन हो रहा है। माना जीवन अपना अर्थ ग्रहण करने के लिए विवाह स्वीकार करता है, उसके उत्तरदायित्व को ग्रहण करता है। पर इसीलिए यह कैसे मान लिया जाय कि वह इतनी बड़ी विवशता बन जायगा। यह कैसी अनिवार्यता है जो जीवन को विवश कर देगी। स्वयं उसे लगता रहा है भइया के इन तर्कों में, आग्रह में उनके मन की कोई मजबूरी है।...और वकीलों जैसा अपने पक्ष को सिद्ध करने का भाव भइया में क्यों है? पर वकील अपने प्रतिपादन में अपना विश्वास भी व्यक्त करता होगा? भइया की बात में उनके मन का अविश्वास पकड़ पाना सहज नहीं है।...उसने विवाह को घृणा की दृष्टि से तो कभी नहीं देखा।...हाँ, माँ की बात और है, अपने के मोह ने माँ को सदा यही सोचने के लिए विवश किया है कि वह विवाह करना नहीं चाहती।...पर चाहने का यह प्रश्न कहाँ है? विवाह जीवन में सहज रूप में आ जाय, उसको ग्रहण कर लेना समझा जा सकता है। लेकिन जहाँ वह विवश अनिवार्यता बन कर आये, तब...'

छोटी लाइन का एक्सप्रेस अपनी रफ्तार से दौड़ रहा है...अपनी समरस गति में लगता है रुका हुआ हो, केवल कभी-कभी हिल जाता है, जैसे भागते-भागते लड़खड़ा गया हो और फिर अधिक तेजी से भाग चला हो। युवक ने अपनी ओर की खिड़की खोल ली है, अब धूप नहीं आ रही है, धूल भी कम हो गई है। इस ओर फिर हरे मैदान का विस्तार आ गया है, पर बीच-बीच में पहाड़ी श्रेणियाँ अधिक आने लगी हैं। लगता है इधर जमीन में रेत कम है।

...और युवक अपने कम्पार्टमेंट में नहीं है। उसे इस बात का ध्यान नहीं है कि उसके दोनों सहयात्री अपनी सीट पर बैठ गये हैं और दोपहर के भोजन का उपक्रम हो रहा है।...वह केवल शरीर से कम्पार्टमेंट में है; पर उसकी समस्त चेतना ट्रेन के पीछे तेजी से भागते हुए दृश्यों पर फैली है...घूमते हुए पीछे छूटने वाले दृश्यों में प्रसरित मन हरे खेतों की चक्कर खाती लहरों, झीमते हुए वृक्षों के शिखरों, तथा पहाड़ियों की विस्तार पाती हुई श्रृङ्खलाओं पर होता हुआ ट्रेन के पीछे ही भागा आ रहा है। लेकिन ट्रेन उसे गति दे रही है, घेर नहीं, पाती... और न बाहर के दृश्य ही उसको डुपो पा रहे हैं।...उसका एक अस्तित्व कम्पार्टमेंट में है, दूसरा बाहर फैला है, ट्रेन की गाड़ी से पीछे भागने वाले दृश्य जगत पर तैरता हुआ ट्रेन के साथ ही आ रहा है। पर एक अन्य अस्तित्व भी है जो उसे वर्तमान से अलग अतीत के क्षणों में ले गया है, और इस अतीत में वह अधिक सचेत है...अतीत ही उसके लिए अधिक यथार्थ है......

'...नीरा जीजी में कुछ ऐसा था जो सबको अपनाने का आमन्त्रण

देता है, जो सबको स्नेह में बाँधने के लिए आकर्षित करता है। उसकी आँखों में कौन सी जिज्ञासा है, कैसा विश्वास है कि उसके सामने अपने को सम्पूर्णतः खोल देने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रह जाता। कुछ गोपन रखना सम्भव नहीं रहता। वह प्रश्न सूचक उत्सुकता के साथ सुन लेती है, और फिर अपनी बात कहती है तो उत्तर के पूरे आग्रह के साथ। लगता है उसके स्वभाव में कहीं कोई विरोध है... कभी अपनी ममता में वह कोमल और सरल जान पड़ती है...उसकी आँखों में सहज भोलापन व्यक्त होता है, वह जैसे बालक बन गई हो। पर ...लेकिन जब वह अपनी बात कहती है, किसी का प्रतिवाद करती है, अपना मत प्रकट करती है, वह बिलकुल बदली जान पड़ती है। उसके तर्क में दृढ़ता, प्रतिपादन में आत्मविश्वास जागता है और वह अपनी बात का आग्रह प्रकट करती है...तब लगता है क्या यही नीरा है, क्या यह ऐसी ही है!...विवाह के प्रश्न को लेकर...उसका तीखापन कितना स्पष्ट और वह कितनी असहिष्णु हो उठती रही है। कौन कह सकता कि यह वही कोमल सरल नीरा है!...पर यह ऐसा ही नहीं रहा है। उसे आज लग रहा है—उसके मन का यह तीखापन विकसित हुआ है।

युवक को अपना विश्लेपण का यह क्रम बोझिल लगने लगता है, उससे अपने को बचाने के लिए, वह कम्पार्टमेंट में दृष्टि डालता है... अब तक साथ के स्त्री-पुरुष खाना शुरू कर चुके थे। उसे जैसे कुछ याद आ गया हो, उसने अपनी कलाई में बँधी हुई वाच में देखा ...अभी केवल ग्यारह बज रहे हैं। उसने अनुभव किया अभी बिल्कुल भूख नहीं है। खाने में व्यस्त सहयात्रियों की ओर से ध्यान हटा कर युवक ने फिर खिड़की के बाहर के दृश्य में अपने आप को मिलाने का प्रयत्न किया।

ट्रेन उस मैदानी भाग को पार कर चुकी है...अब अरवली श्रेणियों

की किसी सुदूरवर्ती श्रृंखलाओं की घाटी से गुज़र रही है...इस स्थल पर घाटी अधिक विस्तृत है...दूसरी ओर की पहाड़ी निकट आ गई है, पर अधिक ऊँची नहीं है...वृक्ष और झाड़ियाँ घनी फैली हैं और एकदम पास दिखाई पड़ रही हैं।...वह एक दृष्टि उस ओर की खिड़की से धूमिल हरियाली से आच्छादित श्रृंखला पर......उसकी उठती-गिरती चोटियों, बीच में गहराई में चली गई उपत्यका पर डाल लेता है, और फिर अपनी खिड़की पर झुक जाता है।...सामने की अपेक्षाकृत ऊँची श्रेणी कुछ हटकर क्रमशः आगे की ओर निकट आती गई है। इस दूर की श्रेणी पर कुछ ऊँचाई तक नन्हें पत्तोंवाले छोटे वृक्षों तथा नग्न झाड़ियों की सघनता है...पर ऊँचाई पर नंगी बड़ी-बड़ी चट्टानें तथा भीषण आकार के पाषाण खण्ड जाड़े की कोमल धूप में चमक रहे हैं। उसे लगा...इन चट्टानों और पाषाणों की घूमती, उपर-नीचे चढ़ती-उतरती रेखाओं पर धूप खेल रही है...और वह धूप के साथ लुका-छिपी करता हुआ विचारों की किसी सघन उपत्यका में ओझल हो जाता है......

...लेकिन...लेकिन क्या सचमुच नीरा विवाह के प्रति इतनी कठोर, इतनी उदासीन रही है...उसके तीव्र विरोध में, आग्रह में उसे सदा लगा है कि कहीं कोई बात है, कहीं कोई कारण है जो स्पष्ट हो नहीं पाता।...पर ऐसा भी तो नहीं लगा कि उसके मन में कोई दुराव है...वह नहीं कह सकता कि उसने अपने आपको कभी छिपाया हो, वह उसके लिए सरल सहज ही रही है।...हो सकता है, सम्भव है... वह स्वयं न जान सकी हो अपने मन को। अपने आप, अपने मन को कोई खुद न जान सके! कैसी बात है। अपने आपको कोई न जानेगा! ऐसा हो सकता है? क्यों नहीं होता, ऐसा सम्भव है। कौन कह सकता है वह स्वयं को जानता है, सम्पूर्णतः समझ सका है...सम्भव है! हो सकता है!...पर वह कारण...क्या हो सकता है?

ऐसा ही लगा है, ऐसा ही तो भाव उसका रहा है।...वह विवाह के प्रचलित को मान कर नहीं चलेगी, स्वीकार नहीं कर पायेगी। लेकिन उसके मन की स्वीकृति...प्रचलित...प्रचलित जीवन का व्यवहार है। यही तो, फिर इस व्यवहार के बिना, इस भित्ति के बिना उसका आधार क्या होगा? जीवन किसी आधार पर ही टिकेगा!...और वह नहीं मान सकी—विश्वास और व्यवहार में कोई समझौता किया जा सकता है। शायद इस सम्भव को मान कर वह चली नहीं।...फिर बुआ, बड़ी बुआ यही तो कहती हैं, कहती रही हैं—"विवाह लोक धर्म है, वह लोक के अनुसार ही होगा, और तुम चाहो देश उबाधी बात तो कैसे हो।'
...हाँ, फूफा जी में अवश्य ऐसा कुछ था जो नीरा जीजी के चरित्र के निकट था। उनकी मुस्कराती आँखों में दृढ़ता की छाया...मुख की अभिव्यक्ति में लगता—वे परम्परा और प्रचलन की परवाह नहीं भी कर सकते हैं। वे उसके मन के अधिक निकट रहे हैं—युवक को आज ऐसा ही लग रहा है, उसने पहले ऐसा साफ-स्पष्ट नहीं जाना था। उसे जान पड़ रहा है—फूफा जी की आँखों की सहज मुस्कान नीरा की आँखों की प्रश्नमयी सरलता में खो जाती है, उनकी भौंहों का उपेक्षा भाव उसकी आग्रहमयी दृढ़ता में बदल गया।...और...और उनकी मुख की रेखाओं में व्यक्त होनेवाला ममत्व कठोर मुद्रा में अदृश्य है, वही नीरा के मुख की भंगिमा में अभिव्यक्त होता है।...हाँ, फूफा जी की स्मृति जैसे उसमें सुरक्षित हो...उसे आज लग रहा है कि वे उसे समझ सके थे।...पर वह स्वयं नीरा की बात बिल्कुल समझता हो, समझ सका हो, ऐसा नहीं है। न जाने क्यों वह सदा बुआ का पक्ष जाने-अनजाने लेता रहा है, बुआ की इच्छा के अनुसार चलना उसे अच्छा लगता रहा है। उसे बड़ी बुआ सदा अच्छी लगी हैं, वे स्नेह-शील हैं, उसको उनसे स्नेह मिला है और वह उसे निधि के रूप में जोगो कर रखता है।

...बुआ कहती हैं—'नीरा तुम को बहुत मानती है, नरेश। तुम्हीं

कह कर देखो...तुम कहो तो वह तुम्हारी बात अधिक समझ मान सकती है।' और उसे लगता कि यह उसका उत्तरदायित्व हो गया है कि नीरा को विवाह के लिए समझायें, तैयार करें।...बुआ की भावना का उसके लिए बहुत महत्व है। बुआ की इच्छा...यह तो माँ की इच्छा होती है,...वह अपनी लड़की को परिवार के बीच सुखी देखने की कल्पना लेकर जीती है, अपनी पुत्री को अपने समान गृहणी देखना चाहती है। बुआ माँ हैं, एक माँ से अधिक वे कुछ इच्छा नहीं रखतीं, उससे भिन्न सोच पाना भी उनके लिए सहज नहीं। फिर वे जो चाहती हैं—वह ऐसा क्या नया है, सदा से, युग-युगान्तर से माँ ने यही अपनी पुत्रियों के लिये चाहा है।...और नीरा...आखिर उसने चाहा क्या था? मनुष्य के सारे इतिहास में लड़कियों ने इससे अलग या भिन्न क्या चाहा है? यही तो उसने कहा है...विवाह की अनिवार्यता को लेकर, विवाह के व्यावहारिक पक्ष को लेकर। बहुत बार उसने नीरा से तर्क-वितर्क किया है।...पर उसे यह लगा है, वह यह भी समझता रहा है कि नीरा की बातों में उसका आन्तरिक विश्वास है और जो वह कह रही है उसमें कहीं कोई चोट है, जिसको वह स्वयं जान नहीं पाती है—उसके लिये अनजान है।...नहीं उसके आग्रह में इतना आक्रोश, इतना आवेश क्यों रहता? उसके सामने सारे तर्क, सारी स्थापनाएँ जम नहीं पातीं। और वह स्वयं को, अपने आपको इन सारी बातों में उसके सामने कभी रख नहीं पाया। उसे लगता, वह जो कहता है, केवल यांत्रिक भाव से जैसे कुछ कहना पड़ रहा हो...वह अपने अन्दर आग्रह का बल नहीं पाता, या उसके सामने निरस्त हो जाता है।

ट्रेन चलती जा रही है...एक्सप्रेस दौड़ रहा है—खट्-खट्-खटर-खटर-खट-खट-खट। घाटी का विस्तार संकुचित हो गया है, दोनों ओर की श्रेणियाँ निकट आ गई हैं और लगभग समानान्तर चल रही हैं। घाटी के छिउल, बबूल, करु के पेड़ सिकुड़े खड़े हैं......घनी कटीली

झाड़ियों ने उनको घेर रखा है...युवक के मन में विचार-क्रम के साथ-साथ समानान्तर चलने वाली श्रेणियाँ मिल-जुल जाती हैं। फिर विशृंखल होते विचारों के ऊपर उभरती हुई सामने की पहाड़ी, दृष्टि के क्षितिज पर प्रत्यक्ष होने लगी...रेखाओं में व्यक्त हुई, और धीरे-धीरे रूपाकार में सामने फैल गई। वह देख रहा है— अब श्रेणी की ऊँची-नीची शृंखला अधिक निकट है, चट्टानों और पाषाणों की कठोरता के बीच-बीच से झुके हुए वृक्षों और आच्छादित झाड़ियों की हरियाली झाँक रही है। पर यह कोमल जीवन की अभिव्यक्ति उसकी चट्टानी आकृति में जैसे खोई हुई है।...उसे एहसास होता है...

जैसे हजारों-हजारों साल बीत गये और अरवली की यह श्रेणी वैसे ही खड़ी है, फैली है ..लेकिन...लेकिन तब वह सहस्रों वर्ष पहले ऐसी ही नहीं थी जैसी आज है।...उसकी मनःस्थिति अतीत के अन्धकार में प्रसरित होती हुई उस युग में प्रवेश करती है...सामने बहुत ऊँचा हजारों फ़ीट ऊँचा पहाड़ है...उसकी चढ़ती-उठती शृंखलाओं पर हरे घने चीड़, देवदारु, बाझ, बलूत के जंगल ऊपर उठते हुए चले गये हैं, और उनके कोनिल शिखर दूर से अपनी सघनता में एकाकार हो गये हैं...जैसे जीवन की कोमल हरियाली का सागर तरंगें ले रहा है, सारी शृंखला पर यौवन की चञ्चलता लहरें ले रही है...दूर हरियाली के बीच में हहर-हहर हर-हर निनाद करती हुई पहाड़ी नदी की धारा चमक रही है... घाटी के पार्श्व में प्रपात चाँदनी की उमड़ती हुई धारा की तरह नीचे गिर रहा है...और सारी घाटी में धुँआ-धुँआ सा फैला है...। युवक की दृष्टि में लहराती हुई हरियाली क्रमशः इस फैलते घाटी के धुएँ में डूब रही है...और दूरवर्ती उस प्रपात की घहर-घहर-घर-घर-हहर-हहर बहुत दबी हुई मन्द पड़ती जा रही है। उसे लगता है - अरवली की इस तरुण शृंखला में जीवन है, उमंग है, उल्लास है,...पर...लेकिन उसके

मन में कहीं अन्तर्व्यथा का कुहासा भी है, किसी पीड़ा की मीठी टीस भी है...और यह सब...यह सब...।

युवक के सामने कठोर चट्टानों, बड़े-बड़े पाषाणों वाली पहाड़ी फिर व्यक्त हो जाती है,...वह देख रहा है कि कहीं-कहीं दरार पाकर पहाड़ी पेड़ निकल आये हैं और वे नीचे झुक गये हैं, जिनको घेर कर फैले हुए कटीले झाड़ जैसे उन्हें सँभाल रहे हैं...सारी पहाड़ी पर छोटे-बड़े पत्थर ही पत्थर बिखरे हैं, उनके बीच कहीं-कहीं लाल या गेरुए रंग की मिट्टी पर उगी हुई घास की हरियाली धूमिल हो चुकी है।...उसको अनुभव हो रहा है—पहाड़ी आज वृद्ध हो चुकी है, उसका सारा उल्लास, उत्साह, उसका कोमल भाव युग-युग के कठोर और निर्मम प्रहारों से मुखाकृति की गहन रेखाओं में अन्तर्निहित है...उसका यही भाव पाषाणों और चट्टानों की कठोरता के बीच से झाँकने लगा है।...पहाड़ी शृंखला इसी सघन गम्भीरता की मुद्रा में फैली है, और युवक का मन उस पर बिखर कर फैल जाता है...

अभी सुबह हुई है। पेड़ों से ढकी हुई सड़क पर प्रकाश भली प्रकार नहीं आ रहा है...घनी छाया में प्रकाश घुलने लगा है, और इस प्रकाश में भी साथ के व्यक्ति का चेहरा उभर आता है...उस पर की गहरी रेखाएँ और सघन भाव व्यंजित भर हो पाते हैं, साफ़ नज़र नहीं आ रहे हैं। कुछ कहा जा रहा है और युवक जैसे ध्यान लगा कर सुनना चाहता—'भई, मैं तो मान कर चलता हूँ कि आदमी को ज़िन्दगी में ग़लती का अधिकार भी होना चाहिए। आदमी उससे भी सीखता है, कह सकते हैं कि वह उसी से सीखता है।...नीरा ऐसे विवाह नहीं करना चाहती, तो जैसा चाहे वैसा ही सही। मैं तो कहता हूँ मेरी ओर से कोई रोक नहीं है। मैं समझता हूँ कहना चाहोगे, अपनी बुआ से तुम्हारी राय एक है—विवाह जैसे अहम मसले में माँ-बाप की राय ज़रूरी

है। ठीक है, इस उमर में कोई ठीक राय बना नहीं सकता; मुझे भी शक है। लेकिन, नरेश जी, तुम खुद ही सोच सकते हो, शायद मुझसे बेहतर कि इम्पोज़ीशन अच्छा नहीं होता।...भई, उस ज़माने की बात करना बेकार है। ज़माने के साथ आदमी चलेगा नहीं तो फिर यह समझो वह चल नहीं सकेगा...ख़ुद अपना रास्ता चलना बन्द कर दूसरों का रास्ता रोक सकता है।' वह चुप है, क्या जवाब दे। फूफा जी को उत्तर की जैसे अपेक्षा भी नहीं है। वे तो ऐसे कहते हैं कि प्रश्न और उत्तर उनके कहने में स्वयं आ जाते हैं; फिर वह कहे क्या? वे कह रहे हैं असम्पृक्त, निरपेक्ष। किसी स्थिति के प्रति उनका लगाव नहीं है, किसी के प्रति उनका मोह नहीं है। वे कह रहे हैं, क्योंकि उनके अन्तर का विश्वास है...यही भाव सदा व्यक्त होता है, ऐसा ही तो जान पड़ता है। उसकी दृष्टि पड़ी,... पत्तियों के बीच से छन कर आने वाले प्रकाश में फूफा का चेहरा अधिक व्यक्त, अधिक स्पष्ट हो गया। मुद्रा की कठोरता के हल्के पर्त के नीचे की गहरी निर्मलता तरल हो उठी—'भई नरेश, और मुझे इस बात की फ़िकर सताती नहीं कि आगे क्या होगा? आगे कैसे गुज़रेगी? मैंने अपने बच्चों को एक विशेष ढंग से पाला है, ख़ास तरह की शिक्षा दी है। मैंने क्या, आगे आनेवाले ज़माने में सभी को मेरे जैसा बनना पड़ेगा। मजबूरन ऐसा करना पड़ेगा। नहीं तो समझ लो, पीढ़ियों का तनाव बढ़ेगा, खिंचाव पैदा होगा और तब बदलना होगा। या फिर टूट जाने के अलावा कोई चारा नहीं रह जायगा। हाँ, ये नीरा, आरती और श्याम सभी को मैंने अपने आप बढ़ने का मौक़ा दिया है। मैंने कभी नहीं चाहा, ये ऐसे चलें जैसा मैं रहा हूँ।...और मुझे ऐसा लगता है कि कुछ भी हो मेरे ये बच्चे अपना रास्ता ढूँढ ही लेंगे, आख़ीर तक वे सही रास्ता पहचान ही लेंगे।'...

युवक को लग रहा है...उसने आगे आनेवाले भविष्य का कोई चित्र देख लिया हो। फूफा जी के स्वर में असम्पृक्त काल के प्रवाह जैसा

गम्भीर निर्घोष है। वे चुप हो गये, निर्घोष मौन हो गया और काल पहले के समान निःसंग प्रवाहित है। उसी प्रवाह में वह अपने आप बहने लगता है...बहते-बहते उसी प्रवाह में वह डूबने लगता है...और फिर निमग्न हो जाता है।...कुछ क्षणों बाद चेतना आविर्भूत होती है...वह युवती के साथ उसी घनी छायादार सड़क पर टहल रहा है... रामनिवास बाग की सड़क बड़े-बड़े लाल निर्गन्ध फूलों से पटी है, उनको बचा-बचा कर चलना सरल नहीं है। युवती की भृकुटियों के प्रश्न और अपांगों की जिज्ञासा उसके प्रशस्त ललाट की वक्र रेखाओं में समाहित हो गये...नीरा में पापा के व्यक्तित्व का कैशोर जाग गया है... अरवली की वृद्ध शृंखला में हजारों वर्ष पहले की उल्लसित हरियाली में हवा के किसी उद्धत झोंके से हिलोर उत्पन्न हो गई।...नीरा किंचित आवेश में कह रही है—'आखिर यह जीवन की अनिवार्यता क्यों बन जाती है? यह ऐसा क्यों है? विवाह जैसे जीवन का पर्याय बन गया है। फिर यह जीवन की सम्पूर्णता भी क्या है? मैं समझ नहींपाती, प्रयास करके भी। जो अनजाने अनचाहे घटित हो, वह विवाह हो जायगा, यह मुझसे नहीं हो सकता। मैं कह नहीं सकती कि वह है क्या?...विवाह दो हृदयों का मेल है, दुःख-सुख में साथ रहने की शपथ है, साथ चलने का निश्चय है, ... और मानो इस प्रकार पारिवारिक जीवन के उत्तरदायित्व निर्वाह में वह अपने को सफल करता है।...नरेश भइया, पर इसके आगे कुछ नहीं, वह कुछ नहीं हो सकता।'

सड़क पर हलका छाया-प्रकाश वृक्षों की सघन पत्तियों से छनकर आ रहा है, इसी धूमिल वातावरण में दोनों आगे बढ़ रहे हैं। और वह उसी आवेश में कहती जा रही है—'सामान्य असामान्य का भेद कर पाना सरल नहीं है। कहा नहीं जा सकता किस सीमा रेखा पर सामान्य असामान्य में प्रवेश करता है, और किस स्थिति में असामान्य सामान्य जैसा लगने लगता है।...हाँ, मैं मानती हूँ कि मैं साधारण हूँ। फिर

भी...। और यह भी क्यों मान लिया जाय कि मैं विवाह की अनिवार्यता को न मान कर उसे अस्वीकार ही करता हूँ। विवाह एक सम्बन्ध है, और प्रत्येक सम्बन्ध न आकस्मिक हो सकता है, न अनिवार्य। उसके लिये समय तथा सुविधा की अपेक्षा है।' युवक सुन लेता है, उसके मन में 'समय' तथा 'सुविधा' दो शब्द घूम रहे हैं। अब वे घनी छायादार सड़क को पार कर आगे बढ़ चुके हैं।

कम्पार्टमेंट का सहयात्री जम्हाई लेता है, युवक का ध्यान एकाएक भंग होता है, जैसे वह आकाश में उड़ते-उड़ते थक गया हो। देख लेता है...पुरुष जवान है, आलस्य की निन्द्रा में अपने सामने की पुस्तक पर झुक गया है।...साथ की युवती धोक लगाये आँखें बन्द किये लेटी है। वह एक क्षण युवती की ओर देखता है, पर उसकी दृष्टि की आहट पाकर युवती ने आँखें खोल दीं (जैसे)। वह संकुचित होकर अपनी दृष्टि फेर लेता है। कुछ क्षणों तक लगता है युवती उसी की ओर देख रही है। वह दृष्टि ऊपर करता है, सामने युवती की दृष्टि है। उसे लगता है, उसमें भाव है, आमन्त्रण है या उपेक्षा, कह नहीं सकता। वह कायर समझती है उसे, पर...इसलिए कि वह एक स्त्री को चुपचाप देखने की चोरी करता है, अथवा इसलिये कि वह दृष्टि मिलाने का साहस भी नहीं करता और उसका आमन्त्रण है।...इस भाव से मुक्ति पाने के लिये उसने अपने आपको कम्पार्टमेंट के बाहर डाल दिया।...अब तक पहाड़ी श्रेणियाँ फैलकर पुनः बिखर गई हैं...पिछली पहाड़ियों के अवशेष चारों ओर बिखरे हुये बड़े छोटे पाषाण खण्डों के रूप में कम होते जा रहे हैं...छिउल, बबूल, खेजर के पेड़ बेर और करील की झाड़ों से घिरे हुए इधर-उधर फैले हुए हैं।...और पत्थरों तथा पेड़--झाड़ियों के बीच में रेत निकलती चली आ रही है। युवक देख रहा है...पहाड़ी शृंखलाओं के बिखर कर विलीन होते आकार के साथ ही उसकी कठोरता-कोमलता

एक साथ विलीन होती जा रही है...पर यह रेत...। यह न कठोर है, न कोमल ही ! कोमलता, कठोरता दोनों से हीन एकरस...नीरस... जीवन की उपेक्षा; उसकी अस्वीकृति !

मीरा ने कभी कहा नहीं ..मित्रता के निकटतम क्षणों में भी स्वीकार नहीं किया। लेकिन स्वीकार भी क्या करती ? जिसे उसने जाना नहीं, जिसे उसने निकट से पहिचाना नहीं...! दो वर्षों के बाद ही अनवरत बीमारी का चक्र चलता है, और उसके बाद धीरे-धीरे वह सारी-समस्या, वे सारे प्रश्न डूबते गये, बिखर बिखर कर अदृश्य होते गये। लेकिन जब तक फूफा जी रहे, उन्होंने हार नहीं मानी...असम्पृक्त भाव से उन्होंने मान लिया था...विवाह अनिवार्यता नहीं है जो जीवन के सामने आकर रास्ता रोक कर खड़ी हो जाय, पर नीरा का विवाह होगा, वह विवाह करेगी...उसी प्रकार उनको विश्वास था नीरा एक दिन पूर्ण स्वस्थ होगी, अवश्य होगी। असाध्य, असम्भव कुछ भी हो सकता है, इसका जैसे उन्हें अनुभव ही नहीं हो। जो नहीं होता, नहीं हो सकता उसको लेकर वे चिन्ता नहीं करते। जहाँ कठोर कर्म की गति न हो, उस क्षेत्र में वे एक विशिष्ट निरपेक्ष भाव के साथ प्रवेश करते हैं...उस स्थिति में उनके मुख के निहित भाव को पढ़ पाना अत्यन्त कठिन है......जैसे उन्होंने किसी अज्ञात शक्ति के सम्मुख अपरिहार्य मान कर समर्पण किया हो। यह आस्था नहीं, आत्मविश्वास का समर्पण है...अनिवार्य हो इस-लिए मानता हूँ, पर मैं पराजित नहीं हूँ।

...ऐसा ही कुछ भाव रहा है पुत्री का भी, शायद इसी कारण पिता ने पुत्री के मन को अधिक समझा था। पिता ने कहा है कि उन्होंने अपने बच्चों को स्वतंत्र विकास का अवसर दिया है, और पुत्री कहती है—पापा ने उसके चरित्र को मूलतः प्रेरणा दी है।...आज वर्षों बाद उसे लग रहा है...इन दोनों बातों में कहीं कोई गहरा सम्बन्ध है, दोनों

के चरित्र एक दूसरे में प्रतिबिम्बित होते रहे हैं!...और एक में दूसरे को पढ़ पाना, पहचान पाना सरल रहा है।...अनेक अवसरों पर प्रश्नों, व्यंगों, मज़ाकों के चारों ओर के प्रहार के बीच संत्रस्त हरिनी जैसी निरीह निर्मल दृष्टि से वह पापा की ओर देख लेती है...और पापा उस स्थिति का रस लेते हुए अपने नेत्रों के हास्य से उसको बहुत बड़ा आश्वासन प्रदान करते हैं; वे उसकी बात न मानते हुए भी समर्थन करते हैं। ...फिर वह भूल जाती है अपनी समस्त लज्जा, ग्लानि और संकोच। परिवार में अनेक समस्याओं, प्रश्नों के बीच विरोध की स्थिति रहती है ...दोनों फूफाओं के परिवार में गुट हैं; नीरा जीजी का पक्ष पक्का विज़ीटेरियन है, विपक्ष में सारा पुरुष वर्ग...और...

चढ़ती हुई दुपहरिया में युवक का मन तन्द्रा में अलसा गया है। बर्थ पर दिवाल का सहारा लेकर वह जैसे ऊँघ रहा है...नींद भारी होती पलकों पर झुकती चली आ रही है। गाड़ी एक रफ़तार से भाग रही है, तेजी के कारण सुस्थिर जान पड़ती है, बस कभी-कभी हिल भर जाता है। घिरती हुई तन्द्रा में उसे लगता है—हिलते हुए झूले में कोई झोंक दे रहा है।...फिर झूला छूट जाता है, और वह केवल हवा में तैर रहा है, तैरता चला जा रहा है...हवा का विस्तार उसके चारों ओर फैला है...वह उसके घनत्व का भार अपने शरीर पर अनुभव करता है...वह हवा को काटता हुआ तैरता चला जा रहा है...हवा की तरंगें उसको अपने ऊपर ले लेती हैं, और अब वह केवल तिर रहा है...हवा का अनुभव उसे नहीं होता...हवा के प्रसार के साथ वह मिलता जाता है, और फिर उसी में धीरे-धीरे डूब जाता है।

भोजन की टेबिल पर सब लोग बैठे हैं, शायद कोई पर्व का दिन है। एक ओर बड़े फूफा जी, छोटे फूफा जी हैं और उनके सामने श्याम तथा

राजे हैं। दूसरी ओर बड़ी बुआ जी, नीरा और उनके सामने सन्ध्या, आरती तथा वह स्वयं बैठा है...साइड में छोटी बुआ की कुर्सी खाली है, वह किसी प्रबन्ध में रसोई चली गई हैं। पर्व के अवसर पर दोनों परिवार एक साथ भोजन करते हैं।...नीरा कुछ उत्तेजित है, उसका मुख लाल हो गया है...श्याम व्यंग्यात्मक भाव से मुस्करा रहा है, वह कहता है—'नीरा जीजी, इसका मज़ा तुम नहीं जानतीं; नहीं सारी बहस अपने आप छोड़ देतीं।' वह शोरबे से एक हड्डी निकाल कर चूस रहा है, उसकी मुख की भंगिमा पर अतृप्ति का भाव नाच गया। और जान पड़ा नीरा के लिये सबसे अधिक असह्य बात यही है, इस अतृप्ति की लोलुप भंगिमा से उसे बहुत चिढ़ है। उसने युवक पर एक दृष्टि डाली, वह अपनी निगाह नीचे किये हुए खाने में व्यस्त हो जाता है। युवती के स्वर में किंचित आवेश है—'यदि नानवेज़िटेरियन होने मात्र से आदमी को स्वर्ग मिल जाता है, तब तो कुछ कहना व्यर्थ है !...रही मेरी बात तो मैं मानती हूँ—वेज़ीटेरियानिज़्म मनुष्य की विकसित मनोवृत्ति का द्योतक है, उसके सांस्कृतिक परिष्कार का परिचायक है।' इसी बीच में राजे बोल उठता है—'और नीरा जीजी, जैसे खादी पहिनना, हिन्दी बोलना देश प्रेम है, वैसे ही यह घासफूस पर रहना भी शायद राष्ट्रप्रेम हो। इस दृष्टि से तो हम लोग, श्याम दादा, एक मानी में देशद्रोही हुए।' नीरा ने आज बहुत ज़िद करके ख़रीदी हुई अपनी खादी की धोती ही पहिन रखी है—उसने देखा वह क्षुब्ध और संकुचित होकर उसकी ओर देख रही है। उसकी दृष्टि में है कि तुम क्यों चुप हो, तुम बोलते क्यों नहीं हो ! इतने में छोटे फूफा भी कह देते हैं- 'आई थिंक दिस इज़ आल सो वन ऑव दि क्रेज़ेस ऑव अवर माडर्न एज। नीरा, क्या तुम नहीं मानती यह बात, और वह भी अपने देश की।' किसी दूसरे देश में भी क्या भाई साहब, ऐसी सुप्रीम काइंड की फुलिशनेश हो सकती है।'

अब वह चुप नहीं रह पा रहा है, पर न जाने क्यों उसे बोलने का

उत्साह नहीं आ रहा है। नीरा फिर उसकी ओर देख लेती है...अपनी आँखों से कहना चाहती है—क्या इसके बाद भी तुमको मेरे पक्ष में कुछ नहीं कहना है।.. पर उसे लगता है इसमें कहने जैसा है ही क्या ? जो एक सीमा के आगे बढ़ना नहीं चाहते या बढ़ने जैसी जिनकी स्थिति नहीं है, उनसे क्या कहा जाय, कहने से क्या कोई लाभ सम्भव भी है। फिर वह बोल कर क्या करेगा ?...वह चुपचाप खाने में लगा रहता है। नीरा अपने तर्क-वितर्क में थक चुकी है, उसकी मुख की अभिव्यक्ति से लगता है सब तर्क न देकर उसे पीड़ा पहुँचाना चाहते हैं...पर वह अपनी खीझ में सबसे अधिक व्यथित इसलिए है कि वह (युवक) स्वयं मौन है, जैसे यह जानती है कि युवक कुछ ऐसा जवाब दे सकता है जो उसके मन में है।...वह मौन ही रहा, उसे बोलने की प्रेरणा युवती की दृष्टि का कातर आग्रह भी न दे सका।...उसे लग रहा है, वह जो कहेगा उससे उस अरिस्टोक्रेसी के स्नाविश वातावरण में पले परिवार के संस्कारों को ठेस पहुँच सकती है। और अनायास किसी को ठेस पहुँचाना उसे अच्छा नहीं लगता, विशेषकर जब उसे लगता है कि कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इतना भी नहीं कि उचित पात्र पर कोई गहरा तिलमिला देनेवाला व्यंग ही पड़े। इस विषय में छोटे फूफा जी को वह क्षम्य ही मानता है, अपने संस्कारों में वे इससे अधिक सोच सकते भी नहीं। पर नीरा की भंगिमा से आभास मिलता है कि वह समझती है...यह उसका मौन केवल खिझाने के लिए है, वह चाहता है कि नीरा अपने किये का फल भुगते।

...इसी बीच सबकी आशा के विपरीत अपनी आँखों में मुस्कान के साथ व्यंग व्यक्त करते हुए बड़े फूफा जी कहते हैं—'भई, जहाँ तक क्रेज़ की बात है; इस देश में सैकड़ों वर्षों से है। और नरेश जी बताएँगे आजकल विदेश में, मेरा मतलब यूरोप से है, वहाँ भी यह फ़ैशन चल पड़ा है। वहाँ तो यह बिल्कुल नई रोशनी के रूप में लिया जाता है। अरे नरेश जी, तुम तो जानते होगे वहाँ एक ऐसा ही आन्दोलन चला

है।...और नीरा, तुम्हारी यह ड्रेस मुझे बहुत भाई, तुमने मुझसे तो कहा ही नहीं।...दिलीप भाई, इसमें सच-मुच कुछ एहसास होता है जो दिल पर असर करता है।' सब चुप हैं, उनकी बात को काटने का साहस करना सरल नहीं है, दिलीप फूफा को उनकी यह सपोर्ट बहुत रुची नहीं। उनको ऐसा लगा यूरोप को इस प्रकार घसीटना अच्छा नहीं है, और देशी-विदेशी की बात कोई ख़तरनाक उल्लेख है, इसीलिए वे मौन ही रहे। लगा जैसे उन्होंने समझा इस ख़तरे के प्रसंग में उलझे कौन ? नीरा को पहले लगा कि पापा कुछ और गहरा व्यंग करेंगे, पर उनकी बात सुन कर विकसित हो गई, उसे लगा पापा ने उसे बचा लिया है।...उसकी (युवक) दृष्टि नीरा की दृष्टि से मिली, उसकी आँखों में भाव है...तुम नहीं कर सके तो क्या ?

उसी समय फलों और खीर की प्लेट्स कुछ नौकर लिये हुए और कुछ स्वयं सँभाले हुए बुआ आ गईं, उन्होंने आते ही समझ लिया कि जिस बहस को वह छोड़ गई थीं, वह अब किस सीमा तक पहुँच चुकी है।...वे आते ही कहती हैं—'देखो भाई सब लोग बहस समझ-बूझ कर करना, ऐसा न हो कि इस दौर में मेरा खाना ही ख़तम हो जाय। श्याम और राजेश, तुम दोनों ज़रा ख्याल रखना, नौकर-चाकर अभी सब बाकी हैं।' सभी लोग हँस पड़ते हैं...उसे लगता है जैसे वह उबर गया हो, दम घुटनेवाले वातावरण से जैसे वह किसी मुक्त हवादार जगह पहुँच गया हो।...उसे अब तक नीरा का सामना करने में कठिनाई पड़ रही थी...दृष्टि उठी...सामने नीरा का मुख है,...उस पर उल्लास की प्रसन्नता खिलते-खिलते मानों व्यंग में बदल कर किंचित कठोर हो गई हो।...पर सब के अट्टहास में धीरे-धीरे वह दृश्य मिट कर लोप हो गया।

जैसे कोई झटका लगा हो, और युवक की आँखें खुल गईं। ट्रेन किसी मध्यम श्रेणी के स्टेशन पर रुक गई है। स्टेशन दूसरी ओर है,

सामने केवल लैम्पपोस्ट दिखलाई दे रहा है जिसके पीछे कुछ दूर हट कर एक गोल्डमोहर का पेड़ लहरा रहा है। लैम्प के शीशे पर लिखा हुआ नाम पढ़ा नहीं जा रहा है। सामने एक भी आदमी नहीं दिखाई पड़ रहा है...शायद उसका कम्पार्टमेंट ट्रेन में बहुत पीछे है... शायद स्टेशन बहुत छोटा है और ट्रेन किसी कारण, हो सकता है किसी दूसरी ट्रेन की क्रासिंग के लिए रुक गई है। यह तो एक्सप्रेस है,...हो सकता है। ...लैम्पपोस्ट पर दृष्टि ठहरी...पढ़ा नहीं जा रहा है कि कौन स्टेशन है...दृष्टि उठती हुई गोल्डमोहर की कोमल फ़ोलियज़ पर एक क्षण रुक कर सामने के विस्तार को पार करती हुई किसी रेखा पर रुक जाती है... एक पहाड़ी पूर्व से पच्छिम की ओर उठती हुई आगे बढ़ गई है, उस रेखा पर रेंगती हुई दृष्टि ने अनुभव किया जैसे वह किसी दीवार पर चल रही हो।...सामने की पहाड़ी पर किले की दीवार साफ़ झलक गई...।

दृश्य धीरे-धीरे पास आ रहा है...घेर कर फैली हुई छोटी-सी पहाड़ी पर किले की मज़बूत दीवार प्रत्यक्ष दिखलाई दे रही है...किले की दीवार की ओर पहाड़ी पर घूम कर चढ़ती हुई सड़क झलक गई। पहाड़ी सामने व्यक्त होती गई, उसकी दीवाल की कठोरता स्पष्ट होती गई, और चक्कर काटता रास्ता भी गोचर होता गया...वह भूलता जाता है कि ट्रेन में है, उसके सामने वीरान स्टेशन है और स्टेशन पर केवल एक लैम्पपोस्ट है, गोल्डमोहर की कोमल फ़ोलियज़ के नीचे...। उसका अस्तित्व अब अतीत में है, वर्तमान उसके लिए मिट चुका है। उसके लिए वर्तमान केवल काल के प्रवाह के कारण अनुभूति का विषय रह गया है। काल, भूत, वर्तमान और भविष्य में एकरस बह रहा है... उसका प्रत्येक क्षण प्रवाह के प्रत्येक क्षण से सम्बद्ध है, अविच्छिन्न है। उसे लग रहा है जैसे...

किले की सड़क पर कोई घोड़-सवार टप-टप करता आगे बढ़ रहा

है...हीं हीं हीं, हें हें हें हिनहिनाता हुआ घोड़ा टप टप टाप-टाप करता हुआ आगे ऊपर चढ़ रहा है।...घुमावदार शेखावती साफ़े के नीचे कुछ लटें बाहर आ गई हैं। चौड़े माथे पर साफ़ा कुछ नीचे तक झुक आया है, घनी बरौनियाँ संकुचित हो गई हैं, मसें भीग चली हैं, पतले ओंठ बन्द हैं और पतली गर्दन के नीचे अँगरखे में कसा हुआ स्वस्थ शरीर भर झलक जाता है। अपनी लम्बी अँगुलियों में लगाम साधे हुये तन कर घोड़े पर एक राजपूत युवक बैठा है,...और घोड़ा टप टप टप टप करता आगे बढ़ रहा है, बीच-बीच में हीं हीं हीं, हें हें हें हीं कर के हिनहिना उठता है, तब युवक हथेली से उसकी गर्दन थपथपा कर अपना अव्यक्त प्यार प्रकट करता है...घोड़ा एक बार फिर हिनहिना कर आगे बढ़ जाता है।

...हहर-हहर हरहराती हुई कोई ध्वनि सट्सटसटसटसट् खटखटखटखट करती हुई उसकी चेतना-रेखा पर गुजर जाती है, उसे केवल हल्का आभास भर होता है और बस। पहला दृश्य ओझल हो चुका है,... फिर क्रमशः एक दूसरा दृश्य उभरता है।

...सामने द्वार पर घाँघरा और ओढ़नी पहिने स्त्री खड़ी है, सवार घोड़े से उतर रहा है, उतरते-उतरते उसकी दृष्टि नारी की दृष्टि से मिल जाती है, दोनों दृष्टियों में न जाने कैसा कोमल भाव लहरा जाता है... और वही भाव जैसे उसके अस्तित्व में फैलता हुआ उसको छू लेना चाहता है।...वह उसी भाव में प्रसरित हो गया...

तभी ट्रेन की लम्बी सीटी ने उसको जैसे जगा दिया हो...उसने देखा एक्सप्रेस धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है और वह स्टेशन पीछे खसक रहा है...उसे लग रहा है...उसको किसी गहरी अनुभूति से बरबस अलग किया जा रहा हो। उसे अपना अस्तित्व अतीत के किसी आकर्षक छायालोक से खींचना पड़ रहा हो...खिसकती हुई ट्रेन के साथ स्टेशन का निरीह लैम्पपोस्ट और फैली हुई कोमल गोल्डमोहर की छाया

उसकी दृष्टि में कुछ देर ठहरी रही, फिर धीरे-धीरे विलीन हो गई। झटके के साथ उसका मन कम्पार्टमेंट में वापस आ गया,...उसने देखा कम्पार्टमेंट का पुरुष अलसित भाव से किसी पुस्तक को पढ़ने का अभिनय कर रहा है, और स्त्री आँखें मूँदे सोने का प्रयास कर रही है।...फिर अकुला कर एकाएक अपनी रिस्टवाच में समय देखने लगती है, जैसे उस पर समय का बोझ अधिक भारी होकर बैठ रहा है और वह विवश है। वह एक निरीह भाव से उसकी ओर देखती है...उसकी कुछ खोजती हुई दृष्टि से युवती की दृष्टि मिल जाती है...जैसे अपनी विवशता में युवक से याचना कर रही हो। और युवक चुप है, वह देखता रहा, पर उसके देखने में न कोई आग्रह है, न कोई प्रतिदान का भाव ही। जान पड़ता है वह खीझ और उपेक्षा से दृष्टि फेर लेती है। और वह निष्क्रिय भाव से अपनी खिड़की पर पुनः झुक जाता है।

उसने बाहर देखा पर उसकी दृष्टि में कोई पकड़ नहीं है। वह केवल अपनी दृष्टि फैला देता है...और उसी के साथ स्वयं भी बिखर जाता है...छोटे-छोटे छिउल, बबूल के वृक्षों पर फैलती हुई, रेत के विस्तार में उसकी तरंगों पर नृत्य करती हुई, तथा सुदूर तक फैले हुए बालू के टिल्लों पर चढ़ती हुई चेतना केवल इस समय अनुभूति में स्थित है, उसे अपनी स्थिति का कोई भान नहीं है। पर अपने वर्तमान से मुक्त होकर भी वह अतीत से अपने को अलग करने में असमर्थ है।

वह नीरा से बचता रहा है,...वह सोचता परिवार के क्षेत्र में उसके बीच में बोलने का अधिकार उसे कहाँ तक हो सकता है? लेकिन इस प्रकार क्या वह अपने को अलग कर सकता है? जब वह उसको विचार करने की, चिन्तन करने की बहुत बड़ी प्रेरणा देता रहा है, उसके मन में मूल्यों के प्रति आग्रह उत्पन्न कर सका है, क्या उसके लिए उचित है कि वह नीरा को संघर्ष के मोमेन्ट में, किसी क्षण में अकेला छोड़ दे,

फिर वह चाहे केवल वेज़ीटेरियन और नानवेज़ीटेरियन जैसा साधारण प्रश्न ही क्यों न हो।...लेकिन वह नहीं मानता कि नीरा पर उसने कभी कोई अपनी बात लादी हो,...और यह भी ठीक नहीं कहा जा सकता कि उन दोनों के विचार मिलते हैं।...फिर उसने क्यों अपेक्षा की है कि वह उसको ऐसे क्षणों में समर्थन दे, उसने अपना मत, अपना विश्वास व्यक्त किया और यदि यह उसके विरुद्ध पड़ा तो उसका क्या दोष !

...लेकिन इतनी ही बात नहीं है ! आज वह कुछ गहराई से सोचने का प्रयत्न कर रहा है...आज सत्य इतना सरल और सीधा नहीं जान पड़ रहा है। उन दिनों वह अपने से कुछ बचाता था, या आप से किसी बात को वह छिपाता था।...वह अनजान बनने का प्रयत्न करता रहा है, उसने वर्षों यह अभिनय किया है, आज इसका उसे एहसास हो रहा है।...आखिर क्यों ? क्यों ऐसा करता रहा है वह ? इसका उत्तर आज भी सोच पाना सरल नहीं है !...यह विवाह का प्रसंग ही लिया जाय !...क्या वह अस्वीकार कर सकेगा, या तब ही वह अस्वीकार कर सकता था कि विवाह किसी के जीवन के मार्ग की बाधा बन जाय, वह है कि अनिवार्य है चाहे जीवन के सभी मार्गों को कुण्ठित कर दे, अवरुद्ध कर दे...लेकिन यह ऐसा ही उसने नहीं माना है, मानता रहा है। उसने विवाह का समर्थन किया है, उसने विवाह को जीवन की अनिवार्यता माना है,...पर उसने कहा है...विवाह...तब उसका अर्थ रहा है—पारिवारिक जीवन, उसकी स्नेहमयी छाया, उसके कर्त्तव्यों का कोमल कठोर बन्धन...जिसमें आदमी झेल कर भी अपने को उपलब्ध करता है, और आदमी का सबसे बड़ा सुख यही है।...लेकिन उसके कहने में क्या यह बल नहीं रहा, जैसे वह कहना चाहता हो कि विवाह ऐसी अनिवार्यता है जिसे एकाएक स्वीकार करके ही चला जा सकता है... जैसे इस बन्धन को चाहे-अनचाहे स्वीकार किये बिना अन्य कोई रास्ता ही नहीं है, कोई उपाय भी नहीं है।...क्या ऐसा ही उसका भाव रहा

है ? क्या ऐसा ही उसने कहना चाहा था ?...पर ऐसा उसने क्या कहा है ?...ऐसा उसका क्या आग्रह रहा है !

ट्रेन चली जा रही है। उसके सामने रेत का विस्तार फैला है, दृष्टिपथ पर रेत की अस्थिरता नाचती हुई भागती चली जाती है, पीछे खिसकती जा रही है, अन्दर प्रवेश कर रही हो जैसे। और वह देख रहा है, देखने की क्रिया मात्र, उससे अधिक कुछ भी नहीं। उसे केवल एक अनुभूति मात्र हो रही है...गति-गति, उसका सारा अस्तित्व गतिमय हो उठा है,...ट्रेन सरकती हुई भाग रही है और उसकी गति उसके शरीर में अज्ञात रूप से प्रवेश करके एकरस हो गई है, सामने की पीछे सरकती हुई रेत का तरंगमय विस्तार दृष्टिपथ से उतर कर उसके अस्तित्व का अंश बनता जा रहा है।...इस गति के प्रवाह में उसकी चेतना बह रही है और ट्रेन की गति का हल्का झटका कभी उसमें सजगता की बहुत हल्की तरंग भर उठा पाती है !

और...और उसने क्या किया ? विवाह के प्रश्न को लेकर उसने क्या किया, उसकी अपनी क्या प्रतिक्रिया रही ? वह स्वयं भी तो अनेक बार भागा है इस प्रश्न से ! हाँ, यह भागना ही तो कहा जायगा, आज तो वह ऐसा ही लग रहा है। वह जानबूझ कर इस प्रश्न से उलझना नहीं चाहता रहा। लगता रहा है वह इस प्रश्न से बचता है !...अनेक बार ऐसा हुआ है। आज जिसका वह कुछ स्पष्टता से अनुभव कर रहा है, वह उसके लिए सदा बिल्कुल अज्ञात ही नहीं रहा है। उसे धुँधला सा, अस्पष्ट सा, कभी-कभी किसी स्वप्न सा आभासित ज़रूर हुआ है।

वह परीक्षार्थियों की पंक्ति में बैठा है, परीक्षा होने वाली है और परचा बटने वाला ही है। वह अनुभव कर रहा है कि उसके हाथ में सफ़ेद कागज है और उसकी काली पंक्तियाँ उसके मस्तिष्क में रेंगती हुई जैसे चल रही हों। और हर बार जब वह इन काली रेखाओं के बीच

से दृष्टि दौड़ाता है तब वह उसमें कहीं कोई ऐसा भी प्रश्न देखता है जिसकी काली रेखा उसे विकर्षण से भर देती है।...प्रश्न वह एक के बाद दूसरा भी करता जाता है। पर प्रश्न की काली रेखा रेंग-रेंग कर रोमांचित करती रहती है। वह हर बार उस प्रश्न पर दृष्टिपात किये बिना अगले प्रश्न को ले लेता है, करने लगता है, और उसे कर लेने के बाद फिर उसका ध्यान उसी प्रश्न की ओर जाने लगता है। पर न जाने कैसी वितृष्णा उसको देखते ही मन में भरने लगती है और काली रेखायें गिजाई की तरह रेंगने लगती हैं।...वह फिर दूसरे प्रश्न पर जुट जाता है, एक क्षण के लिए उसे भूल जाने का उपक्रम करता है, भूल भी जाता है।...पर... यह तो अनिवार्य प्रश्न है, अरे! ऊपर के नोट पर उसकी दृष्टि जाती है। इस प्रश्न को करना तो ज़रूरी ही है। छोड़ा जा सकता है। लेकिन क्या वह छोड़ सकेगा? वह अच्छा विद्यार्थी है। प्रश्न छोड़ देना उसके लिये सम्भव नहीं है। वह नहीं छोड़ सकेगा इस प्रश्न को, जो अनिवार्य है। अपने समस्त विकर्षण के भाव को हटा कर वह इस अन्तिम अनिवार्य प्रश्न को करने बैठा है।...

निरीक्षक के जूतों की चाप से वह चौंक पड़ता है, पास के लड़के की जँभाई उसे विचलित कर देती है, उसे प्यास लग रही है, मन किसी अज्ञात भय से विकल हो रहा है। और वह अनिवार्य प्रश्न करने लगा है, करने का निश्चय कर लिया है उसने, कर भी रहा है। उन क्षणों की अनुभूति का उसे कुछ भी भान नहीं रह गया है, वह कर रहा है, कर रहा है। एक दम डूब गया है वह।...और जब घंटा बजता है, शोर भाग शुरू हुई, निरीक्षक की कठोर और संयत आवाज़ ने उसके गहन ध्यान के केन्द्र को स्पर्श किया। फिर जब उसके हाथ से कापी ले ली गई, छीन ली गई, तब उसे जान पड़ा! उद्वेग का वह भार उसके मन से हट चुका है और उत्तेजना तथा आतंक की स्थिति उतरते हुए सैलाब की तरह गुज़र चुकी है। प्रश्न की हिलती हुई रेखायें सघन होती कालिमा में सुस्थिर हो गई हैं। कापी दे चुकने के बाद खोया-खोया वह बैठा है,

पास के लड़के ने पूछा—'कैसा रहा' वह सचेष्ट हो गया, चौंक सा पड़ा—'अच्छा ही' वह कह देता है। उसकी आवाज़ में पकड़ है। फिर पूछा जाता है—'अनिवार्य प्रश्न ?' वह क्षण भर रुक कर जवाब देता है—'सबसे अच्छा !'

युवक यात्री आँखें खोलता है, पर वह अभी अपने आप से अलग नहीं हो सका है। उसके मन में जो चल रहा था उसमें कहीं कोई रोक आ गई है। बहते-बहते कहीं कुछ थम गया हो...पर धारा का आवेग रुक कर भी गति से अन्दोलित है, प्रवाह की चेतना अस्तित्व का रूप अब भी है। लेकिन उसकी आँखों के सामने कुछ है जो गुज़र रहा है।...रेत की श्रेणी कठोर होते-होते पहाड़ी शृंखला में फैल गई है। जहाँ रेत के ऊँचे-ऊँचे डूँगरों की शृङ्खला एक पहाड़ी से मिलती है, दोनों के बीच में रेत की घाटी आर-पार चली गई है। इस तिरछी चली गई घाटी में युवक का दृष्टिपथ फैल जाता है।...उठती हुई घाटी में कई ऊँट एक कतार में आगे बढ़ रहे हैं। दौड़ती हुई एक्सप्रेस की गति में वह पंक्ति केवल हिलती भर जान पड़ती है। तिरछी होकर आगे बढ़ती हुई रेत की घाटी निकट आती जाती है, ट्रेन ने थोड़ा कर्व लिया है।...पर युवक के दृष्टि-केन्द्र में घाटी में आगे हिलते हुए ऊँट अधिक स्पष्ट और व्यक्त होते जा रहे हैं। चित्र आँखों के सामने निकट आता जाता है। फिर उनपर बैठे हुए लोग भी दिखाई देने लगते हैं। लेकिन उसके मन पर केवल हरे लाल रंग की पगड़ियाँ उभरती हैं...काले लूगड़ों की लाल पीली गोटें लहराती हैं। उभरती हुई पगड़ियाँ, लहराती हुई लूगड़ियाँ, मिल जुल कर हरे, लाल, काले, पीले रंगों में झलकती रहती हैं, और रंगों की मिली जुली लहरें झलमलाती हुई रेखाओं में धीरे-धीरे विलीन हो जाती हैं।

प्रश्न उठा, टल गया ! प्रश्न उठा और टल गया ! टलता गया,

कई वर्ष ऐसा ही चलता रहा है।...हाँ, यह ठीक है, यही कहा जायगा कि उसने टाल दिया। पर प्रश्न सदा बाहर से ही नहीं उठा है, अनेक बार उसने महसूस किया है— प्रश्न उसके मन में उसके अन्तर ने भी किया है। इस अन्तर के प्रश्न को लेकर वह उलझा भी अधिक है। यह वह आज नहीं कह सकता कि विवाह का आग्रह मन में न रहा हो, उसने विवाह की अनिवार्यता मन से मानी न हो,...सुयोग और अवसर...तेज़ चलनेवाली रील के समान न जाने कितने चित्र सर से निकल गये, जिनकी एक अनुभूति भर बच सकी, एक भी चित्र रूप ग्रहण करने की स्थिति तक रुक नहीं पाता है...अनुभूति का नीलापन एक क्षण के लिए रुक कर मन के निभृत कोनों में उतरता हुआ फैल कर बिखर जाता है।...आन्तरिक गहराई में फैलती हुई अनुभूति के साथ उसके मन पर एक चित्र धीरे-धीरे आविर्भूत होता है...श्याम रंग की, गोल मुखवाली कोमल अभिव्यक्ति की गहरी काली पुतलियोंवाली एक युवती...सामने खड़ी है...पर बस खड़ी भर है उसके भाव में कोई आग्रह नहीं, उसके आमन्त्रण में कोई खिंचाव नहीं...फिर भी वह खड़ी है बड़े आत्मविश्वास के साथ...उसकी तैरती हुई पुतलियों पर सघन बरौनियाँ झपक जाती हैं...कोई काला चमकीला पक्षी आकाश में पंख फैलाये उड़ गया... और चित्र ओझल हो जाता है।...सुयोग और अवसर आये हैं, मिले हैं...ऐसा नहीं कि उसे चुनाव का मौका न मिला हो!...पर मन में कुछ ऐसा रहा है जिसने इस प्रश्न से उसे भगाया है...और अपने इस भाव को वह समझ सका हो ऐसी बात भी नहीं है...आज ही तो उसका आभास भी मिल सका है, अब तक तो उसने अनेक तर्क, अनेक कारण खोज निकाले हैं, एक न एक का वह सदा आश्रय लेता रहा है।

...और उस दिन जब भाभी ने अकस्मात प्रस्ताव रखा—लड़की अच्छी है, पढ़ी-लिखी है, सम्पन्न परिवार की है, सुन्दर है...उसके स्वभाव से स्वयं परिचित हैं...तब उसे कोई कारण समझ में नहीं आ सका कि यदि विवाह करना है तो स्वीकार क्यों न कर लिया जाय। यही

सुयोग है, यही अवसर है और इसे नहीं छोड़ना चाहिए।...पर ऐसा उसने क्यों किया...ऐसे ही अनेक प्रस्तावों को उसने मना कर दिया था और कभी सोचा भी नहीं क्यों अस्वीकार कर रहा है! आखिर इस प्रस्ताव में ऐसा क्या आकर्षण उसने देखा है, उसने क्या विचार किया है?...लेकिन क्या वह सोचने समझने की स्थिति में रहा भी है? वास्तव में उसके मन में इस विवाह को लेकर कोई तर्क-वितर्क उठा नहीं...इस प्रश्न, इस समस्या को लेकर उसके मन में कोई भाव, कोई संवेदना जागी नहीं, एक शिथिल असमर्थता की स्थिति में उसने अपनी स्वीकृति दे दी है।...अपनी ही प्रतिपादित अनिवार्यता के सम्मुख उसे जैसे समर्पण करना पड़ा हो,...विवाह जीवन की पूर्णता है...फिर विवाह करना ही होगा, वह विवशता है...जब करना ही है तो...

...और-नीरा, उसका आग्रह रहा है...विवाह की बात सुन कर उसे प्रसन्नता होगी...वह अपनी भाभी को...अपने भइया की बहू को देखने के लिए उत्सुक रही है...वह चाहती रही है कि भइया-भाभी से एक साथ मिल कर बात करने का अवसर मिले, उसको एक सखी मिल सके और इस प्रकार उसके एक से दो मित्र हो सकेंगे।...नीरा ने चाहा है कि विवाह कर लूँ और यह उस पर उसका अनुग्रह ही होगा।...फिर यह इसी प्रकार तै हो गया, निर्णय लेने जैसी बात इस बार उठी ही नहीं ...और उसने विवाह को इनएवीटेबिल के रूप में स्वीकार कर लिया।

फिर वह ऐसे ही लिख देता है—विवाह होने जा रहा है, तुम प्रसन्न होगी...मेरा आग्रह ज़रा भी नहीं है, मेरे मन को पकड़ डाला है, कुछ थिर नहीं रहा है...कोई उल्लास कोई उमंग शेष नहीं रह गई है जैसे।...पर लगता है जो होने वाला है, वह होगा ही——पत्र की उभरी हुई रेखाएँ ओझल हो जाती हैं।...कुछ उभर कर ऊपर आना चाहता है...उसे लगता है यह ऐसा ही नहीं है...उसकी शिथिल कल्पना में उसकी गहन उदासी में यह अनुभूति उभर रही है कि यह बिल्कुल ऐसा ही नहीं था...आग्रह नहीं था यह कहना सरल नहीं है! भाभी ने कहा

यह ठीक है, पर उन्होंने पहले भी अनेक बार कहा है। और यह कहा सुना-अनसुना कर दिया गया है, अनेक बार बात उठी और टल गई, टाल दी गई!...फिर इस बार भाभी की बात रखनी ही पड़ी, वह बिल्कुल अनिवार्य हो गई...अनिवार्यता का भी सवाल उठा नहीं... होना है तो हो...होने की एक स्थिति मात्र को स्वीकार कर लिया गया।

अभिनय...हाँ अभिनय जैसा ही! पात्र अपने अभिनय की भूमिका में कार्य कर रहा है, रंगमंच पर वह उतर चुका है। वह अपने अभिनय में तल्लीन है, वह अपनी भूमिका का सफल निर्वाह कर रहा है...दर्शक को सारा अभिनय यथार्थ लगता है, जीवित जान पड़ता है। और अभिनेता ने सबके मन को अभिभूत कर लिया है, पर...पर क्या सचमुच उसकी आत्मा अपने अभिनय में है? उसकी मन की गहराई में कहीं कोई विकर्षण है, उसके अन्तर में कहीं कोई दुविधा है। भाव, अनुभाव और क्रिया का भी अभिनय वह मनोयोग के साथ कर रहा है, पर यह सब यांत्रिक है, केवल अभ्यास के आधार पर चल रहा है। उसकी अनुभूति यांत्रिक है, उसकी संवेदना केवल अभिनय है। जनता उसकी सफलता पर उल्लसित है, अपने उत्साह को तालियों की गड़गड़ाहट में प्रकट कर रही है!...पर आज का दर्शक उसका मन उस सारे अभिनय में कुछ कमी पाता है, लगता है देयर इज़ सम थिंग लैकिंग,...और वह कुछ ऐसा है जिसमें उसके अभिनय और उसके अस्तित्व में व्यवधान पड़ गया है।

अभिनय चल रहा है! अभिनय ही! ड्राइंग-रूम की राड-लाइट का सफ़ेद प्रकाश हल्के ग्रीन परदों में मिलजुल गया है, और वह अपने नये टाफ़टा सिल्क के सूट में बैठा है। और सामने भाभी हैं...उनकी मैसूर धानी जारजेट का पल्ला हरी आभा में चमक रहा है। वह डूबा-डूबा बैठा है... भाभी के उल्लास की प्रत्येक तरंग उसके मन को छूकर वापस लौट आती है, मन के अन्दर की गहराई में कहीं चुपके-चुपके तूफ़ान उठने का अनुभव हो रहा है...पर ऊपर वैसी ही समुद्र की गहरी नीली सतह

एक छोर से दूसरी सीमा तक फैली हुई है। कहीं दूर बहुत दूर तूफ़ान उठने के आसार हैं...और समुद्र फैला है, हलकी तरंगों के विस्तार में... गहरा नीला, अधिकाधिक गहरा होते हुए। उसके अनन्त विस्तार के सामने...वह खड़ा है किनारे...सुनसान एकान्त में...सागर धीरे-धीरे हिलता हुआ चंचल होता हुआ आगे विस्तार में बढ़ता जाता है।...समुद्र में तरंगें ऊँची उठने लगती हैं...वह खड़ा निश्चल होता जा रहा है... जड़ होता जा रहा है...। सागर धीरे-धीरे तूफ़ान के थपेड़ों में आ जाता है और हूहा हूहूहा करता हुआ उसकी ओर ही बढ़ा आ रहा है...लेकिन वह नहीं है वहाँ, उसका सारा व्यक्तित्व मिट गया है, अस्तित्व विहीन हो गया है...वहाँ केवल एक चट्टान है...सागर उसी से टकरा-टकरा कर आघात करता है, लेकिन चट्टान चुपचाप उसके सभी थपेड़ों को वापस कर देती है...खड़ा है अडिग शान्त !...और वह चट्टान पर खड़ा है... सागर का हाहाकार उसके सामने है...।

कोच पर वह बैठा है, सामने की गोल मेज़ पर जाली का ओहार है...और कमरे के कोने में एक तिकोनी मेज़ पर पत्रलेखिका का रेप्लेका है।...वह कमरे में बैठा है, पर वहाँ नहीं है...भाभी के पल्ले के साथ एक युवती...उसके सामने प्रश्नसूचक चिह्न के समान युवती प्रकट हो जाती है। उसने जैसे अपनी भंगिमा में कहा हो—'ये तुम ?' फिर न जाने कितनी बातों के बीच भाभी उन दोनों को एक साथ खेती रहीं, ...पर उसके मन पर केवल यही उभर कर अंकित हो गया है—'ये तुम ?' वही ध्वनित प्रतिध्वनित हो कर न जाने कितनी बार उसके मन में टकराता रहता है ?...वह नारी...युवती चुपचाप बैठी है...उसने क्या पहिचान लिया है इस प्रकार, उसे इतना जाना पहिचाना सा लगा है।...यह कौन है जो अपने समर्पण में उसे अभिभूत कर रही है,... यह कैसा समर्पण है जो अपने आप में सजग है सचेष्ट है ! पर जिसके प्रति समर्पित है उसी को डुबो रहा है, उसी को निमग्न करता जा रहा है !...उसकी दृष्टि, उसके भाव, उसकी भंगिमा सभी से लगता है कि

चिरपरिचित है, युगों से उसी को खोजती आई है।...वह क्यों खोया-खोया-सा है, वह क्यों नहीं पहिचान पा रहा है...लेकिन उसे भी लगता है—यह परिचिय की परिधि में कहीं मन के अन्तर्तम में गहरी अनुभूति के रूप में छिपी हुई है...वहीं से कोई संवेदना जाग रही है जो उसके अस्तित्व को छूती हुई उभर रही है...उसकी पकड़ अधिकाधिक जकड़ती जा रही है। और सामने की नारी उसको अपने आकर्षण के प्रसार में घेरती जा रही है,...वह बिना किसी प्रतिवाद के, बिना किसी संघर्ष के उसमें खिचता जा रहा है! पर ऐसा नहीं कि उस समय बचने की, रुकने की इच्छा जागी ही न हो...उस आकर्षण की विवशता में कहीं कोई है जो उसे सचेत कर रहा है, उससे धीरे-धीरे फुसफुसा कर कह रहा है—सचेत, सावधान, सब आकर्षण सच्चे नहीं होते, सब परिचित लगनेवाले परिचित ही नहीं निकलते! विवशता जीवन को सच्चा अर्थ नहीं दे सकती! अजगर की आँखों का मोहक आकर्षण अपना, अत्यन्त अपना लग कर भी यात्री के जीवन की अन्तिम विवशता बन कर ही रहता है। - यह आवाज़ बहुत निर्बल है, सामने की युवती का आकर्षण...वह छोड़ा नहीं जा सकता...और छोड़ा नहीं जा सका।

उसका ध्यान उचटा, गहरी तन्द्रा से जैसे किंचित सजग हो गया हो। "नेक्स्ट स्टापेज" और साथ के पुरुष ने बिना उत्तर देने के प्रयत्न के सूचना दे दी—"अलवर स्टेशन, भोट ए एक्सप्रेस ?" युवती की मुद्रा पर वितृष्णा और विरक्ति है। उसे लगता है स्त्री की भावना के प्रति उसे सहानुभूति है, सच ही यह भी एक्सप्रेस है...एक घण्टे में पचीस मील का भी शायद ऐवरेज़ नहीं! वह समझ लेता है कि अलवर स्टेशन आनेवाला है। अलवर स्टेट का मुख्य नगर है। उसे लग रहा है जैसे युवती उसी की ओर देख रही है...वह संकोच का अनुभव करता है, पर उसकी दृष्टि बरबस उसकी ओर उठ जाती है...उसे फिर यही अनुभव हुआ कि दृष्टि में अनाहूत आकर्षण है, जैसे भाव हो इसको क्या

हम यहाँ हैं हमारा समर्पण है, आमन्त्रण भी...यदि...फिर मेरा दोष नहीं होगा। संकुचित दृष्टि दूसरी बार फिर मिल जाती है...पर इस बार भाव बदल गया है, व्यंजना बदल गई है...ये तुम? तुम नहीं समझोगे, नहीं समझोगे। इस को ग्रहण करने के लिए तुम अपदार्थ हो, अकिंचन हो!...युवक ने विकल होकर अपनी दृष्टि पुनः बाहर कर ली ...। रेलवे से हटकर कुछ ही दूर पर एक सड़क काली रेखा के समान फैली हुई है। उसकी दृष्टि इसी रेखा को ग्रहण कर पाती है, उसे कोई आश्रय चाहिये और वह उसी काली रेखा पर आगे बढ़ जाती है... और एक्सप्रेस की गति से कहीं अधिक गति से उसका मन आगे बढ़ता चला जाता है।

दोनों नगर के प्रवेश की घाटी में जा रहे हैं। एकाएक न जाने क्या सोच कर दोनों एक दूसरे को पुकार उठते हैं...एक साथ, और घाटी में दो ध्वनियाँ प्रतिध्वनित होकर देर तक टकराती रहती हैं... बड़ी देर तक उनकी अनुगुंज से घाटी जैसे भरी रही। फिर वह कह उठती है—'नरेश भइया, घाटी ध्वनि को प्रतिध्वनित करती है। और वह अपने विस्तार में फैलती जाती है, फिर घाटी के विस्तार में ही खो जाती है।' अब तक गुंज मिट चुकी है, घाटी पूर्ववत् शान्त हो चुकी है। वह कह उठता है—'हाँ', लेकिन लगता है यह आदमी के प्रेम का ही एक दृष्टान्त है—अपनी अनुगुंज में द्विगुणित त्रिगुणित होकर फैलता जाता है, विस्तार पाता जाता है, पर अन्ततः धीरे-धीरे मिटता जाता है और मिट जाता है। एक दिन उसके अस्तित्व पर सन्देह होने लगेगा।'

कोई अनुगुंज उसके मन में भरी हुई है...पर घाटी की प्रतिध्वनि के समान ही यह फैलती जाती है, बिखरती जाती है...मिटती जाती। ...। धीरे-धीरे बहुत दूर पर मिटते हुए स्वर की एक रेखा रह जाती है...और अपनेपन का समस्त आकर्षण लिये हुए सामने, उसके मन की

अपनी विवशता है। दूर की घाटी की अनुगुंज उस विवश करने वाले सम्मोह के सामने निरुपाय है। भाभी कहती हैं—'देवी ! तुमने लड़की देख ली। क्या कहते हो ?' वह मौन है। वह उत्तर क्या दे। उसे नहीं लगा कि देखने के पहले और बाद में कुछ अन्तर हुआ हो। उसके मन में तर्कवितर्क चला ही नहीं। लड़की बहुत अच्छी है, उससे कहा गया। लड़की अच्छी ही है, उसे दिखाया गया। पर उसने खुद समझा हो कि लड़की कैसी है, यह वह नहीं कह सकता ! उसके मन के तर्क की शक्ति जैसे कुण्ठित हो गई हो, वह किसी विवश और मादक सम्मोह में सब कुछ स्वीकार कर लेता है।

...ऐसा क्यों है ? ऐसा क्यों हो गया है ? सब को लगता है कि वह मौन है, निरपेक्ष है। उसने निर्णय का आग्रह खो दिया है।...पर यह ऐसा नहीं है...यह मन की निरपेक्षता नहीं कही जा सकती।...विवाह की बात चल रही है—वह तारोंभरी रात के धूमिल अन्धकार में मादक मूर्च्छना का अनुभव करता है...मन में न जाने कैसी उमड़न का अनुभव करता है ! और उसे लगता है इस धुँधले-धुंधले अन्धकार में, इस मिटते-मिटते से प्रकाश में किसी को वह खोज रहा है, और कोई उसमें मिला-मिला सा भासता है। वह उसी अज्ञात के प्रति आकर्षित है, वह उसी की खोज में है...उसे पाने के लिए उसके मन में उमड़न उठती है, पर अन्धकार के प्रकाश के हल्केपन में कुछ उभर नहीं पा रही है।...वह जिसे खोज रहा है वह चिरपरिचित हो कर भी पहिचान में नहीं आ पा रही है...अन्धकार उसे छलता है, प्रकाश उसे भ्रमित करता है...और उस मायाविनी को वह सामने पा कर भी नहीं पा रहा है, सामने देख कर भी नहीं देख पा रहा है।

वह लड़की देख चुका है...चाँदनी का ज्वार उमड़ता हुआ उसके मन को आलोड़ित कर डालता है...और उस ज्वार के ऊपर कोई बाँहें पसारे हुए उसी की ओर तैरता आ रहा है, तैरता आ रहा है। उस चाँदनी के ज्वार के साथ फैला हुआ आलिंगन अपने सैलाब में उसे

प्लावित कर रहा है, उसे घेरता चला आ रहा है...फिर ज्वार नारी का आकार धारण कर लेता है और चाँदनी से मिल कर वह अपने पाश में उसे कसती जा रही है। उसके मन पर एक थरथराहट फैल जाती है, उस कम्पन के बीच वह कह उठता है—'ये तुम ?'...बाहुओं का घेरा जैसे कसता जा रहा हो, उसका स्पर्श अधिक गहरा होता जा रहा है...उस आलिंगनपाश में, उन अदृश्य बाहुओं के बन्धन में उसका शरीर कसता जा रहा है...कसता जा रहा है...फिर न जाने कैसी पीड़ा सारे शरीर में व्याप रही है...और वह अनुभव करता है कि उसके शरीर का प्रत्येक अणु किसी स्पर्श के लिए विकल है।

...वह सड़क के ढाल पर चढ़ रहा है...उतर रहा है...पर मन निष्क्रिय है, उसमें केवल शरीर की विकलता का अनुभव भर शेष रह गया है...शरीर के प्रत्येक स्नायु में तनाव बढ़ता जाता है, प्रत्येक रग में खिंचाव बढ़ रहा है, बढ़ता जा रहा है।...अव्यक्त पीड़ा-व्यथा के प्रसार के साथ वह सब भूल कर केवल इस अनुभूति के तीव्र क्षणों में स्थित है...मानों केवल तन्तु, केवल तन्तुओं के विस्तार से उसका शरीर बना है और उन तन्तुओं में अव्यक्त व्यथा, अव्यक्त पीड़ा प्रवाहित हो रही है... यह वेदना ही उसके अस्तित्व का अंश रह गई।

मन में कोई आग्रह नहीं...मन का कोई निर्णय नहीं।...पर यह क्या है जो मन को इस प्रकार घेर रहा है—विवश बना रहा है।...एक नारी शरीर आकार ग्रहण करता हुआ उसके सामने प्रकट होता है, बाहें फैलाये वह उसको अपनी ओर आकृष्ट करती है...और वह उसके आलिंगनपाश में अपने आप खिंचता जा रहा है...वह उसको अपने बंधन में कस कर बाँध लेती है...वह उसको खींच लेती है और फिर ओझल हो जाती है...उसके शरीर की पीड़ा और कसक की तरंगें उसी नारी को पुकारती रहती हैं। यह सब क्या है ? नारी !...भाभी का कहना है—लड़की बहुत अच्छी है !...उसके मन का यह कैसा आकर्षण-विकर्षण है ! जाने कैसा आग्रह और न जाने कैसी उदासीनता

भी है ! यह ऐसी मन की स्थिति है कि तर्कवितर्क के क्षणों में...अध्ययन-मनन के बीच में...और सारे काम-काज के मध्य उसका साथ नहीं दे रही है।...वह विवाह के विरुद्ध तर्क नहीं दे सका...ठीक है, शायद देने की ज़रूरत नहीं समझी गई !...पर मन में कहीं कोई ढील ज़रूर है,... इसका अनुभव उसे हो रहा है।

ट्रेन पाइंट बदलती हुई आगे बढ़ रही है और खट खट खटटखट करती हुई आगे बढ़ती जा रही है...स्टेशन पास आ रहा है...अलवर स्टेशन ट्रेन पहुँचनेवाली है। युवक के मन से ट्रेन की ध्वनि-प्रतिध्वनि टकराती है पर वह उसके मन को छू कर वापस लौट आती है...वह अपने आप में व्यस्त है।

उसके मन में गहराई से कहीं कुछ चल रहा है...क्यों है यह विवशता ? किस बात की है यह मजबूरी ? इसी प्रसंग में नहीं, ज़िन्दगी में अनेक बार उसे लगा है कि वह किसी जगह विवश निरुपाय हो जाता है...।...और नीरा...उसको इससे सदा खीझ रही है, वह सदा इस बात से झुँझलाई है। उससे निरुपाय होकर जीना कभी नहीं हो सका है। वह मजबूरी मान कर चलने के पक्ष में कभी नहीं हो सकी है...। वह विवश लाचार नहीं हुई, उसने कभी हार जानी नहीं। वह नहीं समझ सकी कि बेबसी में कोई कुछ कैसे करता है। हार हो सकती है, पराजय वह समझ सकती है...लेकिन बिना युद्ध की यह पराजय, बेबसी उसके स्वभाव के विपरीत है। तिल-तिल कण-कण वह नष्ट होती रही है, पीड़ा की तीखी व्यथा घनी होती गई है, जीवन का कुहासा अधिकाधिक सघन होता गया है...पर वह लड़ती रही है, संघर्ष करती रही है...जीने के लिए नहीं, जीने की आकांक्षा से नहीं...वरन् जीने की साँसों को अपमान से बचाने के लिए...यह नहीं कि जीने का उसने मोह पाला हो...मोह, कण-कण पीड़ा का एहसास करने के लिए जीने

के मोह का अर्थ ही क्या हो सकता है?...उसका अर्थ होगा—पीड़ा वेदना से मोह प्यार!

ट्रेन रुक चुकी है। अलवर स्टेशन पर गाड़ी खड़ी है। लम्बा चौड़ा प्लेटफार्म फैला है, जिसके बीच में स्टेशन के आफ़िसेज़ तथा वेटिंग रूम आदि हैं। प्लेटफ़ार्म के खुले भाग के एक हिस्से के बीच में छोटे घने वृक्षों की कतार है, जो कुछ दूर चल कर एकाएक समाप्त हो गई है। दूसरी ओर एक सवारी गाड़ी रुकी हुई है। आनेजाने वालों की भीड़, चढ़ने-उतरने वालों की उतावली धीरे-धीरे सुस्थिर पड़ती जा रही है।... और कम्पार्ट का युवक मुड़ कर देखता है, साथ के यात्री नीचे उतर रहे हैं, दो कुलियों के सिर पर उनका सामान है और वे व्यस्त, कम्पार्टमेंट के प्रति उदासीन भाव से नीचे उतर चुके हैं...लगता है उनका अपना स्टेशन अभी आगे आने वाला था, पर वे ऊब कर ही ट्रेन से उतर गये हैं। सचमुच ट्रेन की आज की यात्रा बहुत भारी पड़ रही है...काटे नहीं कट रही है। वह अपने को थोड़ा बहलाना चाहता है, उसके लिए यह सम्भव भी नहीं है कि ट्रेन को छोड़ दे! इस बोझ से मुक्ति पाने के लिए वह कम्पार्टमेंट से नीचे उतर पड़ता है और प्लेटफ़ार्म पर टहलने का उपक्रम करता है...लेकिन अपने आप में वह ऐसा डूबा है कि प्लेटफ़ार्म की सारी ध्वनियाँ मिल जुल कर उसके मन पर फैल रहा है...। उसकी दृष्टि में स्टार्टर सिगनल का सीधा हाथ है और विस्तार में सारा स्टेशन फैला है, पर किसी वस्तु की कोई पकड़ उसमें नहीं है।

एक ओर पानी का कल है जिस पर यात्रियों की भारी भीड़ है... युवक का बिखरा-बिखरा मन एक क्षण के लिए उस दृश्य पर रुकता है... इस जुटी हुई भीड़ का प्रत्येक स्त्री-पुरुष व्यग्र है, उत्सुक है और जल्दी से जल्दी अपने पानी के पात्र को भर लेना चाहता है...ट्रेन छूटने में अभी विलम्ब है। अभी स्टार्टर ज्यों का त्यों खड़ा है...पर सभी का मन उद्विग्न है, सभी व्यस्त हैं...लगता है ट्रेन छूट जाने का आतंक सब के मन पर छाया है। और इस भय के कारण प्रत्येक व्यक्ति पहला होना

चाहता है...एक दूसरे को हटा कर, धक्का देकर आगे बढ़ना चाहता है। इसी आतंक ने उन्हें स्वार्थी और असहिष्णु बना दिया है। युवक के मन में यह दृश्य कुछ देर ठहरा...उसके भाव-केन्द्र ने इस घटना को अपने अस्तित्व का, अपनी चेतना का अंश बनाया।...उसका मन वितृष्णा से भर गया...पर उसकी दृष्टि इस भीड़ के एक छोटे लड़के पर गई... वह शांत भाव से अपनी बारी की प्रतीक्षा कर रहा है। उसके मुख पर न कहीं कोई उद्वेग है और न कोई आतंक...पर भीड़ को उसकी किंचित चिंता नहीं...वह खड़ा है और उसके पीछे अगल-बगल के लोग उसे धक्का देकर आगे बढ़ जाते हैं। वह हर बार एक व्यक्ति को पानी ले जाते देख लेता है और उसके देखते ही देखते दूसरा व्यक्ति आगे बढ़ जाता है। युवक को यह अन्याय असह्य जान पड़ता है...पर उस छोटे लड़के को देख कर वह आश्चर्य करता है...उसके मन में कोई क्षोभ नहीं, उसके मुख पर कोई आवेश का चिह्न नहीं...उसके मुख पर तो प्रत्येक पानी ले जाने वाले व्यक्ति को देख कर आत्मसन्तोष की आभा ही झलक जाती है।...वह हतप्रभ होकर देखता रहा...स्टार्टर गिर चुका है, गार्ड ने हरी झण्डी निकाल ली है...ट्रेन सीटी दे रही है...उसने अपने कम्पार्टमेंट की ओर बढ़ते हुए मुड़ कर देखा—नल पर की सारी भीड़ छँट गई है...पानी भरे या खाली बर्तन लिये यात्री अपने-अपने कम्पार्ट-मेंट की ओर दौड़ पड़े। अपने कम्पार्टमेंट में चढ़ते हुए, उसने देखा वह छोटा लड़का अब भी नल पर है और अपने लोटे में पानी भर रहा है...ट्रेन सीटी दे रही है, उसे लगता है वह लड़का ट्रेन नहीं पा सकेगा। वह कम्पार्टमेंट के दरवाज़े से देख रहा है...लड़का निश्चिन्त भाव से पानी ले रहा है जैसे उसे कोई जल्दी नहीं, उसे कहीं जाना भी नहीं है। पर ट्रेन सीटी दे रही है, वह उसको लिये बिना जायगी नहीं...सीटी लम्बी होती जा रही है...और लड़का अविचलित पर तेज़ गति से ट्रेन की ओर अब बढ़ रहा है। इतने में कोई पीछे से कहता है—
"इक्सक्यूज़ मी, आई हैव टु गेट डाउन।"

एक क्षण के लिए युवती ने आँख खोल कर देखा, उसकी तंद्रा टूटी। सामने की कुरसी पर आरती कोई पुस्तक खोले बैठी है...केवल खोले बैठी है, क्योंकि उसकी दृष्टि में अक्षरों की तैरती हुई आकृतियाँ नहीं हैं। दृष्टि पुस्तक के पृष्ठ पर रुकी अवश्य है, पर आँखों की सूनी छाया से जान पड़ता है कि मन के पथ से दृष्टि कहीं अन्यत्र अतीत में फैली हुई है। वह आरती के मन का भाव पढ़ने का प्रयत्न करती है।

शायद...शायद आरती अपने जीवन के उन क्षणों में है जिनको उसने अपने निर्णय से बहुत अधिक प्रभावित किया है।...उसने सोचा था...और तब उसे अपना यह अनिवार्य कर्तव्य जान पड़ा था... आरती के अपरिपक्व मन और भावावेश को नियन्त्रित किया जाय, उसे ग़लत मार्ग से रोका जाय...उस दिन ऐसा ही लगा था और बाद में भी ऐसा ही लगता रहा है।...पर आज मन में जब सारे आग्रह... मन की सारी शक्ति धीरे-धीरे शिथिल पड़ती जा रही है...तब उसे लग रहा है जैसे उसने आरती के साथ न्याय नहीं किया। ठीक है। आरती अपने घर में सुखी है, उसको पति का सम्मान प्यार प्राप्त है। पर आरती को देखकर इधर उसे अनुभव होने लगा है जैसे उसका अपना कुछ खो गया है, उसने कुछ अपना खो दिया है। विवाह के प्रारम्भिक दो वर्ष, ऐसा लगा है कि वह अपनी स्थिति से पूर्ण सन्तुष्ट है, उसे कोई शिकायत नहीं। उसके भाव से ऐसा तो आज भी नहीं जान पड़ता कि वह असन्तुष्ट है या उसे कोई शिकायत है। पर उल्लास की वह पहली उमंग, सेनिमा,

नुमायश, पिकनिक, सैर आदि की वह व्यस्तता अब उतरते हुए भाटा के समान उसके मन से उतरती जा रही है।

आरती ने दृष्टि ऊपर की, नीरा की दृष्टि से मिली। उसे लगा जीजी ने उसके उस भाव को पकड़ पाया है जिसे वह प्रकट नहीं करना चाहती।...लेकिन जीजी के देखने में उसे ऐसे भाव की अभिव्यक्ति मिल रही है जो उसे अपरिचित लगा है...आज जीजी की आँखों में न जाने क्यों आत्मीयता की वह स्वीकृति व्यक्त हो रही है जो समर्पण को मान कर चलती है...और इसीलिए अपनी कमज़ोरी, अपनी विवशता को इस प्रकार प्रकट होते देख कर भी उसे लज्जा-ग्लानि नहीं हुई... क्षणिक संकोच से वह किंचित संकुचित हुई...और फिर किसी अन्तर्निहित वेदना से अविभूत हो गई।

जीजी में स्नेह रहा है, ममता रही है...पर ऐसा निरीह समर्पण उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं रहा...यह भाव तो ऐसा है जिसमें व्यक्ति न केवल देता है, पर पाने की आकांक्षा भी करता है...जिसमें आत्मीयता के एक पकड़, एक मोह बनने लगती है और जीजी में यह मोह शायद नहीं था। उन्होंने पाने की परवाह कभी की नहीं, उन्होंने आत्मीयता बन्धन को कभी स्वीकार नहीं किया...हो सकता है... किसी के लिए यह मोह, यह बन्धन जीने की प्रेरणा, जीने की शक्ति होता है...आदमी इसी के सहारे जीता है। पर नीरा जीजी के संबन्ध में ऐसा नहीं है...जिसने जीने की प्रत्येक साँस के लिए संघर्ष किया हो, जिसने मौत के सम्मुख सीधे तन कर खड़े रहने में अपना स्वाभिमान समझा हो, उसके लिए ममता का बन्धन भी बोझा है...वह इस आत्मीयता के मोह को सम्भाल नहीं सकेगी, आरती को ऐसा अनुभव हो रहा है।

दीपक जलता रहा है...जलता रहा है...उसका सारा तेल स्नेह जल चुका है, और अब केवल बत्ती उकसा-उकसा कर प्रकाश दे पा रहा

है। बत्ती ने अपना बूँद-बूँद तेल जला दिया है और स्वयं रंच-रंच जलती रही...प्रकाश देती रही...और प्रकाशित होने के संघर्ष में उसने कण-कण अपने को नष्ट कर दिया है। अब जब आज दीपक में तेल का, स्नेह का नया स्रोत दिखलाई दे रहा है, तो जान पड़ता है कि अब इस स्रोत में जलती हुई बत्ती की जली हुई रेखा डूब जायगी... एक अन्तिम प्रकाश की किरण देती हुई सदा के लिए निमग्न हो जायगी।...यही आशंका है, यही संभावना है जिसने आरती के मन को अप्रत्याशित रूप से संवेदित कर दिया है।

वह अपने मन के उठते हुए भाव को रोकने के लिए पुकार उठती है—"नीरा जीजी ?" नीरा ने अपने उमड़ते हुए भाव को बहुत दूर से अनुभव किया, आरती की वाणी में उसे न जाने कैसी उदासी का भाव ध्वनित हुआ। आरती की आँखों में खोया-खोयापन झाँक रहा है, वह डूबी-डूबी-सी लग रही है। नीरा को अनुभव हुआ कि यह ऐसा ही नहीं था,...इधर दो वर्षों से आरती को कुछ होता जा रहा है। उसके जीवन की उमंग, उसके जीवन का आवेग धीरे-धीरे कहीं खोया जा रहा है। विवाह के बाद उसने सोच लिया था कि यह सब ठीक होगया है...उसके मन का आग्रह, उसके प्रेम की दिशा उचित मार्ग ग्रहण कर लेगी।...और जो पहले था,...जो पहले उसके मन का भाव था वह केवल कैशोर्य का अपरिपक्व भाव था, वह केवल शरीर का प्रथम आकर्षण...दो विकास प्राप्त करते हुए शरीरों की आकांक्षा...जिसे भ्रम से युवक-वर्ग प्रेम कहता है।...प्रेम...हाँ प्रेम ही तो कहते हैं।

उसे लगा आरती को उत्तर देने में जैसे उसे बल लगाना पड़ रहा हो ! पर उसकी वाणी में अन्दर का ममत्व उमड़ने का प्रयास कर रहा है—"आरती ! तुम ऐसी क्यों हो रही हो।" जीजी की बात सुन कर आरती का मन बँधे हुए भावों के साथ उमड़ पड़ने के लिए विकल हो उठा, जैसे अन्दर से कोई आवेग उठा हो और वह उसके सारे अस्तित्व

को हिलाता हुआ हरहराता हुआ ऊपर आना चाहता है। वह उसे सँभा-लने के लिए एकाएक अंदर जाने को उद्यत होती है...उसका सारा अस्तित्व उमड़ते हुए आँसुओं में आलोड़ित हो जायगा, उसकी सारी भावनाएँ मन के ज्वार में बह जायँगी।...ऐसा लगता है...और वह अपनी जीजी के सामने अपने को इस प्रकार, इस स्थिति में नहीं रहने देगी...नीरा जीजी ने अपना क्या कम सहा है कि उन्हें इन क्षणों में वह अपनी पीड़ा भी आत्मीयता के प्रतिदान में दे। वह नहीं रुक सकी, वह अन्दर चली गई।

युवती को फिर जान पड़ता है आरती की खोई हुई दृष्टि में अतीत के भूले हुए ख़्वाब, भूली हुई सुधियाँ अदृश्य छायाओं के रूप में घूम रही हैं...और आरती उदास है। उस पर भी जैसे युवती के मन की छाया पड़ गई है...पर उसकी, आरती की उदासी में निष्क्रियता का विस्तार नहीं है...वह पाज़िटिव है...उसमें मन की पकड़ है जो वेदना-पीड़ा की गहरी संवेदना को जन्म देती है...और आरती के मन का यह भाव धीरे-धीरे गहरा होता गया है। वह क्या था? और आज यह क्या हो गया है?...लेकिन उसे पहले की याद आ रही है...वह, तब और अब...फिर उसके बीच की स्थिति, सब को एक ही स्तर पर रख कर देख लेना चाहती है।

...आरती ने प्रेम किया था...वह एक क्षण रुक कर सोच लेना चाहती है...प्रेम...क्या है यह प्रेम? उसको अपनी डूबती हुई संवेदना, मिटती हुई चेतना में सब कुछ खोया सा जान पड़ता है...और वह अपने अस्तित्व में इस शब्द को समझने का प्रयत्न कर रही है...प्रेम... उसने विचार किया है, उसने अध्ययन किया है, उसने तर्क-वितर्क किया है।...नरेश भइया से उसने घण्टों इस विषय पर बातचीत की है, ऐसा नहीं कि उसने प्रेम को जाना न हो, उसने प्रेम को समझा न हो।... फिर क्या है जिसे वह आज समझ लेना चाहती है...क्या है जिसे वह

इस प्रकार अन्दर से बल देकर जान लेना चाहती है ? हाँ आरती ने प्रेम किया था,...लेकिन उसने इसे प्रेम नहीं माना, उसने आरती के इस भाव को प्रेम की संज्ञा नहीं दी। उसने जिसे प्रेम समझा या जाना है, उसने जिसे प्रेम की परिभाषा के अन्तर्गत माना है, वह आरती के उस प्रेम से नितांत भिन्न है।

वह देख रही है, पर मन में आरती की बात चक्कर लगा रही है... उसकी दृष्टि में परदे पर पड़ती हुई खिड़की की दराज़ की प्रकाश की एक रेखा है...खिड़की के दोनों पल्ले बन्द होते-होते खुले रह गये हैं और उन्हीं के बीच से यह प्रकाश की रेखा परदे पर आ रही है...। नीरा की दृष्टि पर यह रेखा धीरे-धीरे उभर आती है...प्रकाश की रेखा बढ़ती जाती है...चौड़ी होती जाती है...फैलती जाती है...और उसके प्रसार में उसके मन की सारी विचार शृंखला खो गई...डूब गई...। प्रकाश अन्दर से आ रहा है...प्रकाश घर के अन्दर से आ रहा है ...वह खिड़की से प्रवेश कर रहा है...पल्लों के अन्तराल को पार कर कमरे में प्रवेश पा सका है। पर परदे ने रोका है...उसने उसे रोक कर रंगीन बना दिया है...सारा कमरा इसी प्रकाश की रंगीनी से भर गया है। क्या अन्दर का प्रकाश और बाहर का प्रकाश समान है ? यह क्या है जो बाहर प्रकाश है और वही अन्दर आ कर रंगीन छाया में बदल गया है...क्यों है ऐसा ? क्यों होता है ऐसा ? क्या है जो प्रकाश होकर भी रंगीन हो जाता है...जो साधारण को कल्पना के रंगों में बदल कर आकर्षक बना देता है, मोहक बना देता है। युवती ने आँखें बन्द कर ली हैं और फिर धीरे-धीरे अपने अन्दर की प्रकाश और रंगीन छाया में विचरने लगी...

वह प्रकाश में चली जा रही है...उसके चारों ओर प्रकाश है, धूप है ...सब कुछ स्पष्ट और साफ़ दिखाई दे रहा है...वह आगे बढ़ रही है... उसको लगता है कहीं कोई द्विविधा नहीं, कहीं कोई रुकावट नहीं...

उसके मन में जीवन का सारा अर्थबोध सरल सुबोध है...।...पर आज बहुत कुछ बदल गया है...जीवन की संवेदना ने कुछ गहरा, कुछ भिन्न अर्थ ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया है...संवेदना में कोई पकड़ नहीं, कोई आग्रह नहीं, पर अनुभूति का एक अर्थ उसमें अवश्य है जिसे वह समझ रही है।...प्रकाश है, उजाला है। खुलापन है, और वह चली जा रही है...पर आगे धीरे-धीरे प्रकाश रंगीन होता जा रहा है...प्रकाश ही में रंग घुलता जा रहा है और वह अजब से रंगीन वातावरण में घिर जाती है। चारों ओर हल्का नीला रंगीन प्रकाश फैल गया है... सारे वातावरण में एक अद्‌भुत सम्मोहन, एक विचित्र आकर्षण है जो मन-प्राण को घेर रहा है...सारी वस्तुएँ, समस्त पेड़-पौधे इसी रंग से रंग गये हैं।...उसके मन में प्रश्न है—यह क्या है ? यह कैसा है ? वह प्रकाश जिससे वह सदा परिचित रही है सत्य था या आज का यह रंगीन काल्पनिक वातावरण !...इस प्रकार के आकस्मिक परिवर्तन को उसने आज ही जाना है अथवा उसने कभी और भी समझा था ? क्या उसके जीवन में ऐसा कभी नहीं हुआ कि एकाएक सारा का सारा दृश्य बदल गया हो, उसमें रंगीनी आकर्षण के सम्मोह का उसने अनुभव किया हो ! हो सकता है,...सम्भव है, पर उसने जाना नहीं, उसने कभी पहिचाना नहीं।

एक स्थिति से वह गुज़र रही थी...उसे एहसास हो रहा था कि उसके मन में अज्ञात रूप से कुछ जन्म ले रहा है...एक खिंचाव है जो मन में नई संवेदना, नई अनुभूति को जन्म दे रहा है ! पर वह कभी स्पष्ट नहीं हो सका, कभी संवेदना और अनुभूति ने प्रत्यक्ष रूप ग्रहण नहीं किया। तभी विवाह का प्रश्न उठा था...उसने विवाह की अनिवार्यता नहीं मानी; उसने विवाह को जीवन के मार्ग की बाधा के रूप में नहीं स्वीकारा।...और तभी.. तभी प्रारम्भ हो जाती है निरन्तर चलने वाली यह बीमारी...जिसका आदि-अन्त सारे जीवन को घेरे...कुण्डली

मारे सर्प के समान बैठा है...फिर सारी संवेदनाएँ, सारे चेतना के तन्तु, समस्त अनुभूतियाँ इसी में दबी रहीं।...मन पर जैसे एक बोझा हो, चेतना पर जैसे एक मात्र दबाव हो, निरन्तर स्थायी होती गई पीड़ा की एक गहरी पर्त का...और यह पर्त क्रमशः जमते-जमते सख़्त होती गई है, कड़ी होती गई है,...इस कड़ी कठोर पर्त के नीचे बहनेवाली अन्य धाराओं का प्रवाह ही हुआ है, पर उनका कभी एहसास नहीं हो पाया... जीवन की सारी धाराएँ, सारी चेतना अज्ञात बहती रही हैं जैसे उसने जाना नहीं, या जान कर पहिचाना नहीं।...आज जब ऊपर की अपनी कठोरता, अपने सारे बोझ को छोड़ कर बर्फ तैरने लगी है...तब धारा के प्रवाह को पकड़ पाना सहज नहीं जान पड़ता, अन्तर्वर्तिनी उपधाराओं का अनुमान लगाने का समय भी नहीं है...क्योंकि ऊपर का वह सारा प्रवाह ही अब कहाँ रह गया है, जिसमें धारा उपधाराओं के अनुभव करने की शक्ति रहती है...। आज केवल ऐसा जान पड़ता है कि रुके हुए प्रवाह, इस थम गये जीवन में कहीं नीचे बहुत नीचे अन्य संवेदनाएँ भी छिपी हैं जो न जाने कितने अरसे से जीवन की कठोर पर्तों के नीचे बहती रही है। उनको आज बहुत दूर से देखा भर जा सकता है, समझा भी जा सके शायद, पर वे उसके अनुभव का विषय नहीं हो सकतीं, वे उसके अपने जीवन का अंग नहीं बन सकतीं...। और आज वह जिस रंगीन आकर्षण को देख रही है, वह उसके जीवन का अंग नहीं बन सका...आकर्षण सम्मोह का उसके लिए अर्थ नहीं रहा है!

सुवर्ना ने आँख खोल कर देखा, आरती की कुर्सी खाली है। वह अभी तक वापस नहीं लौटी। उसकी सीट पर पुस्तक रक्खी है...वह दूर से पहचान रही है, इस पुस्तक को उसने अनेक बार पढ़ा है। नरेश भइया ने सजेस्ट किया था, उनकी प्रिय रचना है...स्ट्रेट इज़ दि गेट... आन्द्रे ज़ीद.. आत्मा और शरीर के प्रेम के संघर्ष की कथा। नरेश

भइया इस कथा की करुणा से अविभूत हो उठते हैं...उन्होंने इस कथा को उसे पढ़ कर सुनाया है...दोनों ने साथ साथ समझने की कोशिश की है...दोनों ने इस पर तर्क-वितर्क भी कम नहीं किया है।...

आखिर मन की वह कौन विवशता है...वह कौन-सी मजबूरी है जो व्यक्ति को दो सीमाओं में खींचती रहती है...यह कैसा प्रेम है जो केन्द्रों की ओर खिंचता रहता है। नरेश भइया का कहना है कि आदमी का मन सीधी रेखा में नहीं चलता...वह केवल एक केन्द्र पर ही घूमता नहीं रहता!...पर उसे लगता रहा है...प्रेम एक सम्बन्धों की स्थिति है...सम्पर्क के आधार पर विकसित होता है...और फिर समय पाकर... काल-क्रम में वह टूट भी जाता है, नष्ट भी हो जाता है। यह एकाएक भी होता है...आँधी तूफ़ान आते हैं, झंझा झकोर चलते हैं, पानी-बूँदें पड़ती हैं...और ऐसा भी होता है कि भूकम्प आ जाये, बर्फ पड़े, ओले गिरें। फिर पत्तियाँ झड़ती हैं...टहनियाँ टूटती हैं...डालें चरचराती हैं... बड़े-बड़े पेड़ गिर पड़ते हैं...यह सब आकस्मिक होता है, एकाएक घटता है। पर सदा ऐसा नहीं होता, सदा यह सब आकस्मिक नहीं घटता। यह ऐसा भी होता है---वर्षा के उल्लास, उसकी उमंग, उसकी हरियाली, उसकी रंगीनी के बाद का एक लम्बा मौसम आता है...सारी रंगीनी सारा उल्लास, सारी उमंग अपने आकर्षण-सम्मोह के साथ धीरे-धीरे ठंडी पड़ने लगती है...बढ़ती हुई शीत के साथ वह एक शीतल तन्द्रा से ढँकता जाता है...और फिर...कुहरा कुहासे में ओझल हो जाता है...। बाद में जब मौसम साफ़ होता है तभी पतझड़ आता है...धीरे-धीरे पत्तियाँ सूख कर गिरने लगती हैं, झरने लगती हैं...पतझड़ के तेज़ झोंकों में सारे पेड़-पौधे, लता-पादप नंगे हो जाते हैं, उनकी पत्तियाँ, उनकी छोटी-छोटी टहनियाँ तक सूख कर झड़ जाती हैं...और सारी प्रकृति नग्न हो जाती है। फिर कौन कह सकता है कि कभी उसमें उल्लास था, उमंग थी; कौन मानेगा कि इसमें आकर्षण था...सारा वातावरण भावों से उद्वेलित था।...ऐसे ही तो,...यह प्रेम भी ऐसे

ही बढ़ता है ऐसे ही सूख जाता है, या झड़ जाता है...और हमको इसका पता नहीं चलता...यदि चलता है तो उस समय जब हमारा कुछ बस नहीं होता...कोई हवा का झोंका उसे आन्दोलित नहीं कर पाता, चिड़ियों का कोई भी राग उसे स्फुरित नहीं करता...पत्तियाँ झरती हैं और झरती ही जाती हैं...प्रेम के ज्वार में जब उतार आता है तो वह फिर चढ़ता नहीं...।

भइया...नरेश भइया...वे इसे प्रेम का व्यंग समझते रहे हैं। वे थैकरे के प्रेम सम्बन्धी व्यंग को उच्चकोटि का व्यंग मानकर भी केवल व्यंग मानते रहे हैं!...ऐसा भी होता है...पर वह वास्तविक प्रेम नहीं, वह उसका व्यंग है...प्रेम यदि है तो एकरस विकासशील है, वह आगे बढ़ता है पीछे नहीं चलता, वह कम नहीं होता, वह नष्ट नहीं हो सकता। उसने कहा है—ऐसा देखा नहीं जाता, संसार में जो प्रेम कहा जाता है वह तो संसार की अन्य समस्त वस्तुओं के समान ही बदलता है...और बदलने वाली प्रत्येक वस्तु नष्ट होती है, मिटती जाती है...हाँ, यह भी कहा जा सकता है बदलना नया होना ही तो है...अतः प्रेम नया-नया रूप ग्रहण करता है, नया उन्मेष धारण करता है...यही प्रेम की प्रगाढ़ता है... यही प्रेम का विकास है...पतझड़ के बाद ही वसन्त आता है...उसके एक झोंके से प्रकृति फिर डहडहा उठती है, पत्तियों-पत्तियों में उल्लास, उमंग छा जाती है...नये किसलय, नये अंकुर, नयी टहनियाँ फूट निकलती हैं...।

और...हाँ...ऐसा ही प्रेम होता है...प्रेम पल्लवित होता है, प्रेम फिर विकसित होता है...पर क्या स्थिति वही रह पाती है, क्या पात्र वही हो सकता है?...नरेश भइया तो प्रेम की उस निरन्तरता को मान कर चले हैं जिसमें प्रेम का अर्थ होता है दो व्यक्तियों की भावावेश की ऐसी मनःस्थिति जिसमें वे एक दूसरे को अपनापन समर्पित कर देते हैं। लेकिन भावावेश रुकता नहीं...रुकनेवाली मनःस्थिति तो सहज सम्बन्ध की मानी जायगी...यह प्रेम भी सहज सम्बन्ध की भावस्थिति

हा है। वह तो यही समझ सकी है...उसके लिए इससे भिन्न अन्य कुछ सोच पाना सरल नहीं।...लेकिन आज लग रहा है उसका यह सब समझना...

कमरे में कोई प्रवेश कर रहा है...युवती ने देखा आरती है। उसे अनुभव हुआ, बहुत हल्की एक अनजानी संवेदना की तरह, यह आरती है...उसकी अपनी बहेन। आरती अपने को प्रकृतस्थ कर चुकी है, उसके मुख पर थमी हुई बूँदा-बाँदी जैसी शान्ति है...जिसमें आसमान का एक कोना खुल गया हो, आकाश झलकने लगा हो, ऐसा ही। वह मौन आकर कुर्सी पर बैठ गई, किताब उसने हाँथ में उठा ली। युवती देखती रही...

आरती उसके निकट सदा रही है, उसने आरती को बचपन से अपने साथ-साथ बढ़ते देखा है,...वह समझ रही है कि आरती को वह भली-भाँति जान सकी है, उसने अपनी बहेन को निकट से समझ लिया है। पर आज आरती के मुख को वह देख कर समझ रही है, उसे लग रहा है कि वह बहुत दिन बाद अपनी इस बहेन की बात को समझ पा रही है। आरती के गम्भीर शान्त मुख पर उसे किसी आन्तरिक अनुभूति की छाया दृष्टिगोचर हो रही है...आरती के मन में कहीं कोई उमड़न है, कहीं कोई आँधी है जिसे वह बाँधे है, जिसे वह रोके है... पर उसके साथ तूफान की प्रतिध्वनि लगी हुई है, और उसका आभास नीरा को मिल रहा है।...आरती ने जीजी बहेन की ओर देखा, उसे लगा उसके अन्दर के गुप्त भाव को वह पढ़ लेना चाहती है, उसने आँखें नीची कर लीं और पढ़ने का अभिनय करने लगी...युवती के सामने आरती बैठी है और उसके हाथ में—स्ट्रेट इज़ दि गेट—है...।

आन्द्रे ज़ीद...विश्वासहीन ज़ीद...आत्मा और शरीर के प्रेम का अन्तर्द्वंद्व...क्या है जो इधर खींचता है और उधर भी...कैसा है यह

प्रेम जो मन की ऐसी विकलता को जन्म देता है...यह विकलता भी कैसी है जो जीवन की सारी गति, सारी शक्ति को कुण्ठित कर अवरुद्ध कर देती है।... उसने नहीं माना है, वह जीवन के अवरोध को सह नहीं सकी है कभी...। उसने केवल जीवन को जाना है, उसने जीवन को अपने सारे बल से पकड़ा है...इधर वर्षों से, बीमारी की विभीषिका से घिरी रही है...लेकिन इस पीड़ा और क्लेश के जीवन में उसने मौत की अवहेलना करना सीखा है...घना घिरता हुआ अन्धकार...काली अँधेरी रात...सघन वन की भयानक छाया और उसमें चमकती हुई हिंस्र पशुओं की आँखें...और वह निर्भीक आगे बढ़ती गई है, उसके मन के संकल्प ने उसे एक क्षण के लिए विचचित नहीं होने दिया।...इस वातावरण के भय ने, शंका ने...उसकी अपनी वेदना और पीड़ा ने... उसे निर्भय रहना सिखाया है। उसके सामने अदृश्य, धुँधली-सी परन्तु फिर भी आभासित होनेवाली मृत्यु...फैले हुए बहुत हल्के धुँए के समान आकार ग्रहण करती हुई मौत...अपने काले भीमकाय भैंसे पर चढ़कर सामने क्षितिज की सीमा पर आविर्भूत होते हुए यमराज बहुत-बहुत दिनों से दिखाई दे रहे हैं। और इन सबके बीच उसने जीवन को ग्रहण किया है...उसने अपनी प्रत्येक साँस को अपनाया है... जीवन उसके लिए जीने की वस्तु रही है, क्योंकि पास ही मृत्यु की आहट मिलती रही है...।...और फिर उसके लिए गति का, शक्ति का अवरोध, मन की कुण्ठा का क्या अर्थ हो सकता है? जो केवल गति और शक्ति में, संघर्ष में ही जी रहा हो उसके लिए...उसके लिए...यह समझना सरल नहीं है...।

आज तक पीड़ा क्लेश वेदना...इनका सहना ही उसका जीवन रहा है...सहते-सहते आवेजेक्टिवली उनका अनुभव करते रहना उसकी चेतना की स्थिति रह गई है...इनका संवेदन करते रहना, यही जीवन है... और इनका अभाव...शायद...शायद यही मृत्यु है...।...और आज जब वह सब...पीड़ा, वेदना, कष्ट...कुछ भी नहीं रहा, तो उसे लग रहा है

कि उसके अस्तित्व का आधार ही हट गया है...पर इस खोते हुए, मिटते हुए अस्तित्व में भी न जाने कैसी-कैसी नई विचित्र संवेदनाएँ जाग रही हैं जिन्हें आज तक उसने जाना नहीं, पहचाना नहीं...। यह क्या है ? यह कौन-सा अस्तित्व है, चेतना का अंश है ? यह जो आज उसे इतना अपना, अपने से अभिन्न जान पड़ रहा है। कहाँ था, जिसको उसने कभी देखा नहीं, जिसका कभी अनुभव नहीं किया। फिर आज यही प्रधान है...दूर-दूर बहुत दूर से जो भी आभास मिल रहा है यह उसका ही।...उसका एक नया भिन्न व्यक्तित्व जागा है...पर आज जब उसकी समस्त चेतना ही मिट रही है।...लेकिन वह इसकी अवहेलना भी नहीं कर सकती है, कर पाती है, क्योंकि इसके प्रति उसका ममत्व जाग गया है।...ममत्व में पकड़ न हो, आवेग भी न हो, पर सघनता की गहरी अनुभूति ज़रूर है...।

आरती को वह समझ पा रही है...आज आन्द्रे ज़ीद को कुछ-कुछ समझ सकी है। उसे लगता है प्रेम सीधी रेखा नहीं है...प्रेम में कहीं अन्तर्द्वन्द्व हो सकता है, कहीं संघर्ष हो सकता है...उसकी परिधि दो केन्द्रों पर एक साथ घूम सकती है...घूम न सके तो खिंचाव में पड़ सकती है। यह प्रेम है जिसे उसने जाना ही नहीं, जिसे उसने अब तक पहिचाना नहीं...यह अनुभूति कैसी है ?...उसके मन में जैसे कोई शून्य हो...और यही शून्य विस्तृत होता जाता है...फैल कर इसकी सीमाएँ पीछे हटती जा रही हैं...और बहुत दूर इस शून्य क्षितिज पर डूबते हुये सूर्य की मानो अन्तिम लाली मिटती हुई गोचर हो जाती है। ...इसी लालिमा में नीरा अपने पिछले जीवन की अनुभूतियों को एक नया अर्थ दे देना चाहती है।

"जीजी, तुम अपनी टेबलेट ले लो।" आरती कुछ चारपाई पर झुकी हुई कह रही है नीरा ने आँख खोल दी, आरती को उसने देखा। वह कुछ देर उसकी ओर देखती रही जैसे वह अपनी नई संवेदना से नये

रूप में आरती को देख लेना चाहती है।...आरती नीरा की इस दृष्टि में कुछ देख पाती है। उसे अनुभव होता है कि जीजी के मन में कोई नया भाव जन्म ले चुका है...नीरा जीजी में कुछ ऐसा जाग रहा है जो पहले वर्षों से सो रहा था...कोई चेतना हल्की लहरें लेने लगी है जो युगों से निश्चेष्ट थी।

...झील पर झंझा तूफ़ान में हिम की वर्षा हुई...हिम जमती रही, जमती रही, और उसकी सतह पर बर्फ़ की सख्त पर्त जम चुकी है... झील का सारा नीला विस्तार, उसकी सारी तरलता, उसकी समस्त चेतना इसी बर्फ़ के नीचे दबी रही...वर्षों...युगों...। फिर एक दिन एकाएक न जाने किस अदृश्य सूर्य के अज्ञात ताप से बर्फ़ गल जाती है, विलीन हो गई...और झील मुक्त हो जाती है। पर क्या उसका नीला तरल जल साफ़ दिखाई दे सका? क्या उसकी संवेदना प्रत्यक्ष अनुभव की जा सकती है?...झील मुक्त हो चुकी है, उस पर की बर्फ़ पिघल कर विलीन हो गई और उसका जल, उसका नीला जल, तरल जल...नहीं वह अब भी घाटी के उस कोहरे से ढका हुआ है जिसने सारी घाटी के साथ झील के समस्त विस्तार को भी छा लिया है...केवल पानी के धूमिल तल का अनुमान लगता है, आभास मिल सकता है।

आरती को जीजी की यह ममता, आत्मीयता भारी लगी; उसे दीपक की अन्तिम लौ की दीप्ति की आशंका ने अभिभूत कर दिया। इस भाव से मुक्ति पाने के लिए उसने कहा—"जीजी, आज आप ऐसी-ऐसी क्यों हो रही हैं।" नीरा ने अपने को किंचित संयत करते हुए जवाब दिया—"आरती, क्या तुमने आन्द्रे ज़ीद को समझा है? तुमने 'स्ट्रेट इज़ दि गेट' पढ़ा है।" आरती चुप है, वह इससे क्या समझे, वह इस प्रश्न का क्या उत्तर दे। लेकिन वह अपनी जीजी के मन का भाव कुछ-कुछ ग्रहण कर पा रही है...पर इसका भी क्या उत्तर दे सकती है। उसके मन में एक उमड़ उठी और सारे अस्तित्व को घेरने लगी। नीरा ने रुक

कर फिर कहा—"नरेश भइया ने सजेस्ट किया था, मैंने पढ़ा है, बहुत पहले पढ़ा था।...पर आरती मुझे लगता है, मैंने आज ही इसे समझा है।" वह चुप हो गई, पर उसकी दृष्टि की बहुत दूर चलनेवाली छायाओं से जैसे उसका अर्थ व्यक्त हो सका। आरती कुछ देर तक अपने आप को सँभालते रुकी रही, पर उसके लिए मन के उमड़ते हुए तूफ़ान को रोक पाना कठिन हो गया, वह अन्दर चली गई जैसे एकाएक उसे कुछ याद आ गया हो।

नीरा ने उसकी गति और भींचन से समझ लिया, वह अनुभव कर रही है कि उसने आरती के मन का कौन सा तार छू लिया है। आरती की बात को वह जैसे समझ रही है, उसने आरती को आज पहिचाना है।...अपनी व्यथा के अभाव में यह संवेदना उसे बोझिल लग रही है।...ध्यान हटाने के लिए उसने खिड़की से बाहर देखा...बाहर सब कुछ शान्त है...सड़क का घूमा हुआ अर्द्ध वृत्त सूनसान है... पहाड़ी श्रेणी चुपचाप फैली है...दृश्य के प्रसार में कुछ भी नहीं है जो ध्यान को केन्द्रित कर सके...वह विवश होकर आँख मींच लेती है।

...आरती...राजे,...राजेश का कहना था कि आरती उसके जीवन का अंश है...नहीं रह सकेगा वह उसके बिना! पर...आरती का विवाह हुआ, वह सुखपूर्वक अपने पति के साथ विदा हो गई... और सब जैसा का तैसा चलता रहा। कौन कह सकता था कि आरती को किंचित भी क्षोभ, ग्लानि, वेदना थी।...और राजेश...उसने... उसने आरती को बुरा भला कहा, उसे लांछित और अपमानित करने में कुछ भी कसर नहीं रखी...उसने प्रतिशोध की भावना से अपने सम्बन्ध की बात लज्जा छोड़ कर कई लोगों से कही।...क्या यही है प्रेम, क्या यहीं है प्रेम का आदर्श जिसमें प्रेमी के बिना प्राण रखना असम्भव हो जाता है।...उसने राजेश को बहुत माना था, श्याम से कहीं

अधिक निकटता इन दोनों में रही है...पर उसी राजे को इस रूप में क्षमा करना कठिन लगता रहा है...इतना स्नेहशील रहा है, इतना आत्मीय उसका व्यवहार रहा है कि उससे इस प्रकार का व्यवहार काफी शाकिंग लगा है। पर उसने एक बार ज़िद पकड़ ली तो अन्त तक नहीं छोड़ी...आरती बिना वह नहीं रह सकेगा, उसके मन प्राण में आरती बसी है...वह किसी को शान्ति से नहीं रहने देगा...। ऐसा उसे क्या हो गया है, वह समझ नहीं पाई। उसने विश्वास में साथ उसीसे बात उठाई थी...उसे नीरा जीजी का शायद भरोसा रहा हो. इस विषय में भी वह सोचता रहा होगा कि जीजी उसकी मदद कर सकेगी...। कैसी लज्जा और ग्लानि की बात थी, और उसी के सामने पेश की गई...उसने राजेश को स्नेह किया है, बचपन से उसके प्रति ममत्व रहा है...अपने भाई से भी अधिक उसके लिए रहा है...और वही राजेश ऐसी लज्जा और अपमान की बात करेगा, इसका उसे अनुमान नहीं था। पहले वह स्वयं ग्लानि और लज्जा की भावना से चुप रह जाती है,...पर उसके मन में स्पष्ट है, तत्क्षण उसके मन में गूँज जाता है—ऐसा कदापि नहीं हो सकेगा, ऐसा नहीं, कभी नहीं हो सकता।'

वह समझा रही है—'राजेश, मेरे भइया, ऐसा भी कभी हुआ है। आरती तुम्हारी बहेन ही है। पापा और अंकिल में जो वर्षों से गहरा बन्धुत्व रहा है, क्या दो सगे भाइयों का सम्बन्ध इससे अधिक हो सकता है। तुम सोचो, विचारो यह होगा क्या ? दोनों परिवारों के लिए कितना शाकिंग होगा !' उसे लग रहा है कि इस समझाने मे उसके मन के ममत्व से अधिक व्यावहारिकता है, क्योंकि उसके मन में इस बात को लेकर आक्रोश अधिक है। वह राजेश की इस बात को एक छिछोरेपन से अधिक मान नहीं पा रही है...यह प्रेम क्या है जो किसी मर्यादा को मान कर नहीं चलेगा...किन्हीं सम्बन्धों की सीमा को मानेगा नहीं। राजेश लज्जा के साथ आँखें नीची किये कह रहा है—'जीजी, मैंने प्रयत्न करके देखा है, वर्ष भर से हम यही संघर्ष झेलते आये हैं...हमने स्वयं

बहुत चाहा है, हमारे मन का भाव बदल जाय, हमारे भाव की दिशा बदल जाय। पर नहीं हो सका जीजी। क्या हम नहीं समझते कि पापा के लिए यह कितना बड़ा शाक होगा, बाबू जी...वे शायद मेरा...मुझे क्षमा ही न कर सकें कभी। पर तुम बताओ, तुम्हीं बताओ हम क्या करें ?' इस निरुपाय उत्तर से वह कुछ द्रवित हो रही है, पर इस सबको, इस सारी बदनामी को, इस समस्त उद्दण्डता को वह नहीं सहन कर सकती। उसने अपने आप को राजेश की निरीहता से, उसके ममत्व से अलग रखते हुए कहा—'नहीं राजे, यह कभी नहीं हो सका। तुम अपने आप समझने का प्रयत्न करो, तुम खुद समझ सकोगे...यह कैसी अनहोनी, असम्भव बात है।' राजेश और आरती...प्रेम और विवाह...उन दिनों उसके लिए यह समझ पाना सरल नहीं था...उसको यह सब अनुचित ही नहीं अनैतिक भी लगता।

और नरेश भइया,...उनको छोड़कर किससे यह पूछा जा सकता था...उसे विश्वास रहा है कि भइया से राय ली जा सकती है, वे स्पष्ट मत दे सकते हैं। उनकी बात राजेश भी समझ सकेगा.. वह उनको मानता है, स्नेह करता है...वह पत्र लिखती है—नरेश भइया,... एक उलझन में पड़ गई हूँ। इसमें तुम्हारा ही सहारा है।...ऐसा भी कहीं हो सकता है, तुम खुद सोच सकते हो...पापा क्या कहेंगे...अम्मा क्या सोचेंगी...राजेश का कहना है कि हमारा सम्बन्ध केवल स्थापित है, रक्त का नहीं है...पर क्या उससे अधिक गहरा और उससे अधिक पवित्र नहीं है...मैं समझ रही हूँ...यह सब तुम्हारे लिए मुझसे अधिक क्लेशकर होगा...तुम्हारा स्नेह राजेश के प्रति है और आरती को भी तुम कम नहीं चाहते...तुम सबके हित की बात ही सोचोगे।...फिर प्रेम और सम्बन्धों की मर्यादा...यह सब तुम्हारा इतना किसने सोचा समझा होगा ?...तुम कहते रहे हो...यह प्रेम..., अनेक बार कैशोरावस्था की आकांक्षा का, उसकी लांगिंग का ही अतिरंजित रूप रहता है...राजेश के केस में भी इससे अधिक यह क्या हो सकता है ?...और

मैं तो तुमसे डिफ़र करती हूँ, करती रही हूँ...यह प्रेम सदा एडोलेसेंस की अपरिपक्व भावना का ही विस्तार होता है...जिसमें इतना भावावेश हो, मरने-जीने का उद्वेग हो, जिसके प्रभाव में व्यक्ति और कुछ सोचने-समझने में असमर्थ हो जाता हो, एक दूसरे को पोज़ेज़ करने की उत्कट इच्छा से आकुल-व्याकुल रहता है...वह और क्या हो सकता है। मैं जानती हूँ तुम कहोगे...।

उसे आहट मिली, पर उसने आँखें नहीं खोलीं...आज उसे लग रहा है उसके मन में बहुत बदल रहा है। न जाने कैसा है यह परिवर्तन ...और क्यों बदल रहा है, कुछ है जो बहुत आकस्मिक रूप से आज बदल चुका है...उसका अपना अब तक का व्यक्तित्व क्या हुआ? उसमें जादू से क्या परिवर्तन घटित हो गया है?...हाँ, आज उसकी चिरसह-चरी वेदना के साथ उसका अपनापन भी कहाँ गया!...उसकी पीड़ा, उसकी वेदना, उसका दर्द नहीं रहा...लेकिन फिर रहा भी क्या है? अपने अस्तित्व का बहुत हल्का संवेदनाहीन एहसास...और क्या... पर चेतना के इस दूर बहुत दूर के आभास में भी उस बदलाव की, इस बदले हुए रूप की झाँकी मिल जाती है।—"बाई, नीरा बाई, बहुत देर से दूध नहीं लिया। पी लीजिये, थोड़ा ही है, डाक्टर जी ने...।"

नीरा अधिक नहीं सह पायेगी...दूध, दवा, डाक्टर...किसलिए... आख़िर क्यों...यह सब क्या है? इस सब का क्या अर्थ है? उसने आँख खोल कर देखा दातादीन संकुचित सा खड़ा है, उसकी दृष्टि में में प्रार्थना है, निवेदन है...जैसे वह कहना चाहता हो यह उसका दोष नहीं है, उसने यदि कहीं कुछ बाधा पहुँचाई है तो यह विवशता है। बीमार के साथ एक क्रम चलता है...और वह चलता ही रहेगा, उसे चलना ही है...उसका लाभ क्या है? इस बात की अपेक्षा किये बिना

ही ! दातादीन अपनी सहज बुद्धि से समझता है कि नीरा बाई के लिए इस सारे क्रम का अर्थ ख़तम हो चुका है, उसका प्रयोजन अब नहीं रहा है। दवा लाभ न भी करे, पथ्य स्वास्थ्य वर्धक न भी हो...पर आशा बनी रह सकती है कि अगली दवा रामबाण के समान लाभ कर सकती है, पथ्य का अगला परिवर्तन आश्चर्यजनक असर दिखा सकता है...और तब तक, तभी तक बीमार के लिए, सेवा करनेवालों के लिए भी दवा का अर्थ हो सकता है, और पथ्य का प्रयोजन माना जा सकता है !...पर जहाँ सब कुछ समाप्त हो चुका है, सारी आशाएँ, सारा विश्वास मिट चुका हो...वहाँ...वहाँ यह सारा क्रम बीमार और परिजनों के लिए बोझिल ही नहीं, कृत्रिम भी हो उठता है...इसलिए यह केवल अर्थहीन प्रक्रिया मात्र रह जाती है।...पर यह चलता रहता है दवा...दूध, रस, फल...टेबलेट...इंजेक्शन...क्रम से, नियम पूर्वक, घंटों के निश्चित हिसाब से !

केवल इसलिए कि परिजन समझते हैं, क्लेश और पीड़ा के साथ समझने के लिए विवश हैं...इस प्रकार बीमार को वे एक भ्रम में रख रहे हैं कि उसकी दवा चल रही है, वह ठीक होने के रास्ते पर है... और बीमार समझता है कि इस प्रकार वह अपने स्नेहियों को, आत्मीयों को यह ज्ञात नहीं होने देता कि वह स्वयं उस निश्चित इनएविटेबिल से परिचित हो चुका है...उसकी यह बहुत बड़ी विवशता बन जाती है।... लेकिन अपने अन्तर्मन में दोनों पक्ष भली भाँति जानते हैं कि वे एक दूसरे की स्थिति से परिचित हैं...बीमार और परिजन उस मृत्यु की इसी भ्रम और आशंका के वातावरण में प्रतीक्षा करते हैं... दोनों एक दूसरे से उसी बात को छिपाते हैं जिसे वे जानते हैं कि दूसरा भी समझ रहा है...वास्तव में इस प्रकार वे अपने को छिपाते हैं, अपने से इस भयानक अनिवार्य सत्य को छिपाने का ही प्रयत्न करते हैं।

दातादीन ने सहारा दे कर नीरा को बैठा दिया, वैसे उसे लग रहा

हैं कि आज उसे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं है। वह चारपाई पर बैठी है और दातादीन सामने खड़ा हो गया है...उसे अब भी दूध पीना पड़ेगा, दवा पीनी पड़ेगी। दातादीन के हाथ से उसने ग्लास ले लिया...वह जैसे परितप्त हो गया...वह फिर लेट गई।...दातादीन हाथ में ग्लास थामे अब भी खड़ा है, वह कुछ कहना चाहता है... उसके मन में कुछ जैसे अटका है और वह उससे त्राण पाने के लिए कहना चाहता है। नीरा समझ रही है, दातादीन को उसने अपने बचपन से देखा, जाना है, उसकी भावना से वह भली भाँति परिचित है... इस परिवार की प्रत्येक चिन्ता, पीड़ा, वेदना उसके मन पर उभर आती है...परिवार के प्रत्येक दुःख को उसने अपना लिया है जैसे वह उसका अपना आत्मीय बन गया हो...परिवार की प्रत्येक आपत्ति विपत्ति को उसने अपने ऊपर झेलने का प्रयत्न किया है, भले ही दूसरों की दृष्टि में वह प्रयत्न कितना ही नगण्य क्यों न हो...

जब पापा थे...पापा के मन का आन्तरिक भाव, अन्दर का गहरा भाव दातादीन के मुख पर न जाने कैसे बिना किसी दुराव के प्रतिबिम्बित हो जाता था...और वही दातादीन कुछ कहना चाहता है। नीरा जानती है वह क्या पूछना चाहेगा, वह इन प्रश्नों से ऊब चुकी है, थक चुकी है...पर उत्तर देना होगा। प्रश्न भी सुनना होगा। 'दातादीन !' नीरा ने जैसे कहा हो क्या कहना है तुमको। दातादीन ने और भी संकोच के साथ कहा—"बाई कैसी तबियत है ? कुछ हल्की है ? नींद आ रही है।" उसने अधिक गहराई से उत्तर दिया—"हाँ, दातादीन, आज ऐसा लग रहा है जैसे तबियत बहुत हल्की है और नींद तो घेरती आ रही है। शायद इस बार...।" वह आगे नहीं कह पाई, उससे अपने को अधिक छिपाना इस इतने आत्मीय के सामने नहीं हो पाया। उसने जो कहा वह ठीक है, पर वह आगे क्या कहे। दातादीन अपनी नीरा बाई के इस उत्तर से पता नहीं क्यों चिन्तित ही

जान पड़ा, पर उसने अपने भाव को छिपाते हुए कह दिया—"ऐसा ही जान भी पड़ता है।" उसने समझा कि नीरा बाई को इस प्रकार वह जीने की आशा दे रहा है, स्वस्थ हो जाने का विश्वास दिला रहा है...। पर इस प्रकार वह अपने आप को ही किसी अपशकुन से बचाना चाह रहा हो, स्वयं से ही कुछ छिपा लेने के लिए जैसे उत्सुक हो।

वह देखती रही...दातादीन बहुत धीरे-धीरे कमरे से बाहर जा रहा है...उसे जान पड़ता रहा जैसे वह अब भी वैसे ही खड़ा है... उसकी आँखों में वही भाव झाँक रहा है...उसकी रुग्ण काया के प्रति अपार करुणा...दया; और जो उसे एक विचित्र छलना में फँसा रहा है...इसके ही कारण वह अपने से छिपाता है, अपनी नीरा बाई से छिपा रहा है जिसे वह एक दम साफ़ देख समझ रहा है...सत्य का अनावृत्त रूप...जिसे सत्य का नग्न रूप भी कहा जाता है। पर सत्य सुन्दर होता है...न जाने कहाँ-कहाँ, किन-किन पुस्तकों में उसने यही पढ़ा है। पढ़ा होगा, जाना होगा, पर आज उसे साफ़ अनुभव हो रहा है...उसके सामने सत्य है...और वह...निश्चय ही सुन्दर है...। सुन्दर सत्य का पक्ष नहीं है, जो सत्य निश्चित है कि घटित होगा, जिसके विषय में उसे कम से कम कुछ वर्षों से ज्ञान है कि वह अटल है, ध्रुव है। वह तो मात्र एक स्थिति है, उसमें सुन्दर असुन्दर किसी का प्रश्न उठता ही नहीं...वह आनेवाली निकट पहुँचने वाली एक घटना है जो जीवन के क्रम की एक स्थिति है, उसका एक बिन्दु है...उसको पार करना या उससे गुज़रना सभी के लिए अनिवार्य है...।

तब क्या समस्त कष्ट, सारी पीड़ा, दर्द-व्यथा से मुक्त हो जाना सुन्दर है...नहीं नीरा ऐसा नहीं है...इस सबके साथ तो वह भी मिट रहा है जो सुन्दर-असुन्दर की सीमा-रेखा बनाने में समर्थ हो पाता है। ...यह वेदना का अभाव भी नहीं, और यह मृत्यु की आगत सन्निकटता

भी नहीं...यह तो वह अनुभूति है, संवेदना है जिसने आज उसे जीवन के नये पक्ष से परिचित किया है। पहले-पहल वह अपने में कुछ ऐसा पा रही है जो उसे एकदम अपने अस्तित्व को स्पर्श करता, अपनी सारी चेतना को स्पन्दित आलोड़ित करता जान पड़ रहा है। पर यह सुन्दर कब उसके जीवन में झाँक रहा है, यह नई संवेदना उसे किस क्षण अनुभूत हो रही है...जब...जब उसका सारा अस्तित्व ही, चेतना ही अदृश्य हो रही है, विलीन हो रही है।...फिर भी वह अपने इन क्षणों के प्रति अत्यन्त मोह से देख रही है...वह स्पष्ट समझ रही है कि यह सब बहुत दूर, एक दम दूर क्षितिज पर झलकनेवाली अनुभूति मात्र है... पर उसके प्रति उसके मन में आसक्ति ने जन्म लिया है...आसक्ति जैसी उसके जीवन में कभी नहीं रही।

दोपहर हो चुकी है। अभी माँ आकर देखेंगी कि नीरा को नींद आ रही है या नहीं...माँ को सबसे अधिक सन्तोष इस बात में मिलता है कि उसे नींद आ सकी, वह कुछ क्षण के लिए सो सकी। माँ समझती है कि उतने ही क्षण उसे कम से कम कष्ट से कुछ राहत मिलती है। उसने आँखें बन्द कर लीं...माँ समझेंगी कि वह सो रही है। पर आज न थकान है, न तन्द्रा। उसके मन में न आगे सोचना है। कितनी अनुभूतियाँ आज नया भाव, नया अर्थ लेकर उपस्थित हुई हैं, और वह...

नरेश भट्टा कालेज़ के सबसे अच्छे विद्यार्थियों में हैं...उनका अध्ययन, उनका ज्ञान, उनकी प्रतिभा सभी आकर्षक रहा है...पर वे किसी से बोलते कम हैं, मिलते-जुलते भी कम हैं। सबके बीच बोलने लगते हैं तो जान पड़ता है कि अपने आत्मविश्वास के प्रभाव से श्रोताओं को अविभूत कर रहे हैं...कालेज में विद्यार्थी कम जानते हैं पर टीचर अधिक। क्लब, सोसाइटियाँ, असोसियेशनस् में उसको नरेश भट्टा की

अनुपस्थिति खलती है...उसे लगता है कि उनकी प्रतिभा के लिए इन्हीं क्षेत्रों में विकास का अवसर है। पर वह हैं कि उन्हें यह सब भाता ही नहीं...स्वयं उसे इन सब का बेहद शौक है...इण्टर सेक्शनस् के डिबेट में वह भाग ले चुकी हैं, और इस बार भइया ने ही उसे प्रिपेयर किया था,...वह ड्रामा असोसियेशन की सिक्रेटरी रही है...अनेक बार भूमिका में उतरी है...कहानी प्रतियोगिताओं में भी उसका इंट्रेस्ट है, कवि सम्मेलनों में भी उसकी रुचि है। अनेक बार उसे इस भावना ने बहुत आन्दोलित किया है कि वह स्वयं भी कोई कविता सुना सकती अथवा कहानी ही पढ़ सकती...उसने चुपचाप लिखने का प्रयास किया है, कभी कुछ लिख भी लिया है...पर उसे सुनाने का साहस कभी नहीं हुआ। उसे लगता उनमें वह केवल स्वयं को ही व्यक्त कर पाती है, अपने विषय में घुमा फिरा कर लिख पाती है और इस एकदम परसनल को वह दूसरों के सामने किस प्रकार सुना सकेगी...यह उसे निर्लज्जता जैसा लगता है।...पर उसे यह सब जीवन, उल्लास, उत्सव-आयोजन अच्छा लगता है। एक प्रकार से उसका मन इन्हीं चीज़ों में बसता रहा है...पर...पर नरेश...।

लेकिन नरेश भइया को वह इन सबमें खींच नहीं पा रही है...उसे अच्छा लगता है कि नरेश भइया भी इनमें जाएँ, इनमें भाग लें। और उसे लगता है कि उनके जाते ही सबकी दृष्टि उन्हीं की ओर होगी, क्योंकि उसे विश्वास है...उसके नरेश भइया के सामने कोई शायद ही ठहर सके...उनकी प्रतिभा, उनकी शक्ति पर उसे पूरा विश्वास है। डिबेटों में फिर देखें इस इलियास का एकक्षत्र कैसे रह पाता है... अभिनय में शायद उतरना उन्हें पसन्द न हो, पर डाइरेक्शन में देखें कौन उनको पाता है,...नाटकों को देख कर, पिक्चर्स देख कर वे कितनी सूक्ष्म फलाज़ की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनकी ओर वैसे ध्यान जाता ही नहीं। यही नहीं, लगता है उनका मन अपने कोर्स में भी नहीं लगता ...पता नहीं क्यों, न जाने किस-किस विषय की, और अपने विषय को

विभिन्न क्षेत्रों की पुस्तकें पढ़ते रहेंगे, पर कोर्स की चिन्ता उन्हें परीक्षा के दिनों में भी विशेष सताती नहीं...जैसे इन परीक्षाओं पर उनका कोई विश्वाश न हो। अच्छे अंक प्राप्त हो जाने से ही क्या? यह इलियास, यह गोयल, यह वावरे भी कभी क्या भइया से ऊपर पोज़िशन प्राप्त कर सकते हैं...कभी नहीं। उनका अध्ययन, उनका चिन्तन, उनका मनन इन सबसे भिन्न और कहीं अधिक है...वे पढ़ते हैं...इस दृष्टि से कि अन्तिम लक्ष्य परीक्षा है...पर लगता है भइया परीक्षा ही की चिन्ता सबसे कम करते हैं।

...वह कभी-कभी चिढ़ कर कहती है—'भइया आखिर परीक्षा भी देनी है, फिर क्यों न थोड़ा ध्यान उस ओर भी दिया जाय, उस दृष्टि से भी मेहनत कर ली जाय?' किसी के आवेश पर पता नहीं उनको मुस्कराना क्यों आता है—'परीक्षा में थोड़े कम मार्क्स आ जाने से कौन सा अन्तर पड़ता है। दस पाँच अंक कम वेश मिलने न मिलने से क्या बनता-बिगड़ता है?' इस असंगत बात से उसे और भी खीझ आती है—'अन्तर यही पड़ता है कि वह इलियास प्रथम आता है, और आप थर्ड फोर्थ।' भइया पर इसका कुछ असर हुआ हो ऐसा जान नहीं पड़ा—'अच्छा इतनी सी बात है। अरे भाई, इलियास और गोयल से मेरी दिशा भी तो भिन्न है। उन्हें यह चाहिये और मुझे, मेरे लिए इसका बहुत महत्त्व नहीं है।' नारा को एक तर्क सूझ जाता—'क्यों, तुम्हें क्यों नहीं चाहिये। यही न कि सरकारी सिविल सर्विस नहीं करनी है, पर भइया बैठे खाने के लिए घर में ज़मीदारी तो तुम्हारे भी नहीं है। अन्त में नौकरी तो करनी ही होगी?' और भइया कुछ हतप्रभ होते हैं, उसकी ऐसी इच्छा नहीं थी। भइया को दुःखी करना उसका उद्देश्य नहीं हो सकता था, वह कुछ संकुचित हुई। पर भइया कह रहे हैं—'नारा, तुम ठीक कहती हो। लेकिन अपनी प्रकृति से आदमी बहुत भिन्न नहीं हो पाता, प्रयत्न करके भी। मैं पढ़ते समय भूल जाता हूँ कि किस उद्देश्य से पढ़ रहा हूँ। और कोर्स के कोल्हू के चारों ओर

बैल की तरह घूमते रहना...इससे मुझे बहुत ऊब लगती है। फिर यही क्यों न मान लिया जाय कि मेरे साथी मुझसे अच्छे हैं।' इसका वह क्या उत्तर दे,...अपनी पहली बात से वह इतनी संकुचित हो उठी है कि चाह कर भी वह अब कुछ नहीं कह पायेगी।

...ऐसा उसका ही सोचना नहीं है, सभी प्रोफ़ेसरों का भी ऐसा ही मत है...लेकिन भइया को समझा पाना सरल नहीं है, ऐसा नहीं कि वे बात नहीं मानते या सुनते नहीं...कठिनाई है कि उनके पास विचित्र तर्क रहते हैं जिनका उत्तर देना कठिन हो जाता है।...वह स्वयं उसे कई बार खींच ले जाती है, मन बेमन से वह चला जाता है...उस बार डिबेटिंग सोसाइटी में विषय था—पिटी इज़ दि नाबुलेस्ट इमोशन आव ह्यूमन रेस—विषय एकाएक सामने लाया गया था। सभी सोच रहे हैं कि विषय बहुत गम्भीर और दुरूह है...बोलने वालों के हाथ उठे... केवल तीन वक्ता हैं...इलियास, दि साफ़िकलीज़, और दो एम० ए० कक्षा के विद्यार्थी। पर सभी पक्ष में बोलनेवाले हैं...तक़ू और डेविड का कहना है वे पक्ष में ही बोलेंगे या बैठ जायेंगे। केवल आशा का केन्द्र है दि साफ़िकलीज़। इलियास जानता है कि उसे विवश होकर विपक्ष में बोलना ही पड़ेगा, और ऐसे अवसर पर वह निराश नहीं करता है...उसका अभ्यास, उसकी शैली, उसकी भंगिमा, उसका विट और ह्यूमर साथ देता है...और वह विषय को केवल रिडिक्यूलस बना कर भी उसके पक्ष में बोलने वालों को निरुत्तर कर देने में सफल हो जाता है।

...पर यह भी कोई डिबेट है, वह इसे केवल वाक्चातुर्य मान सकती है। वह शायद पक्ष में बोल भी सके, यद्यपि उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के सामने उसके लिए यह भी साहस ही होगा...विपक्ष में बोलना है... उसको रोमांच होने लगा।...पर उसने देखा नरेश भइया खड़े हो गये हैं ...शायद उनको यह बहस भायेगी नहीं। उनका कहना है कि यह इलियास जब अपने विषय के विपक्ष में बोलता है, तब केवल शब्दों की

बाजीगरी से स्रोताओं को बहलाता है, उसके तर्क केवल वाक्चातुर्य रहते हैं...उनको यह पसन्द नहीं है। और विषय निश्चय ही उसी का रखाया होगा, वह इस क्लब का सेक्रेटरी भी है...उसने कम से कम कभी इसका संकेत अवश्य किया होगा।...पर...यह तो भइया विषय के विपक्ष में बोलने के लिए अपना नाम दे चुके हैं...भइया विपक्ष में बोलेंगे और वह भी इलियास, दि साफ़िकलीज़ के विरुद्ध...उसके शरीर में हल्की झुरझुरी सी दौड़ गई...वह विश्वास नहीं कर पा रही है। भइया उसके अनेक बार कहने पर भी किसी भी डिबेट में बोलने को तैयार नहीं हुए, उनको यहाँ आये डेढ़ वर्ष हो गया है पर इस क्लब में उनको वक्ता के रूप में कोई भी नहीं जानता। उसे स्वयं भी यह विश्वास करना कठिन लग रहा है कि भइया इस विषय के विपक्ष में बोलने का साहस कर सकते हैं...वह जानती है भइया बहुत पढ़े, अध्ययनशील हैं...अपनी प्रकृति के अनुकूल वे पक्ष में विश्वासपूर्वक बोल सकते हैं। पर उन्हें विपक्ष में बोलना है...और पक्ष में स्वयं सेक्रेटरी इलियास बोलेगा।...सामने नरेश को देख कर वह मुस्करा रहा है... व्यंग से अथवा प्रसन्नता से...वह समझ रहा था कि उसे विपक्ष में बोलने को कहा जायगा और फिर उसे अपना कौशल दिखाने का मौक़ा मिलेगा, लेकिन यह मौक़ा इस बिल्कुल नये आदमी के दुस्साहस से हाथ से निकल गया। पर वह यह भी जानता है कि सामने जो अनायास खड़ा है और उसको इस प्रकार चुनौती दे रहा है, वह ऐसे ही नहीं खड़ा हो गया है...उसे इस बात का एहसास है कि यह विपक्षी सरल नहीं है...शायद इस बात से उसे कुछ प्रसन्नता भी है।

उसके मन में न जाने कैसी हलचल होती रही...जैसे लग रहा है उसे स्वयं विषय के विपक्ष में बोलना हो, उसे स्वयं इलियास की स्थापनाओं का खण्डन करना हो। वह कौतूहल और जिज्ञासा की भावना से संवेदित होती रही...भइया बोलेंगे...वे कभी बोले नहीं तो क्या,

उनमें पूरा आत्मविश्वास है, और भाषण में सबसे अधिक अनिवार्य बात यही है...लेकिन वे विपक्ष में क्या कहेंगे ? अपने विश्वास के विरुद्ध उन्हें बोलना पसन्द जो नहीं, केवल बहस के लिए भी।...नरेश भइया तो उसके सामने ही हैं,...उनके मुख पर कोई परेशानी या चिन्ता जान नहीं पड़ती...अरे ये तो ऐसे बैठे हैं कि उनमें क्या, जिन्हें बोलना है बोलें, वह सुन रहा है सुन लेगा। पहले वक्ताओं की बातें भी वह ध्यान से सुन भी नहीं रहा है...उसे नोट्स लेना ही चाहिये, उसे जवाब इनका भी देना है...ऐसा तो नहीं भइया नरवस फ़ील कर रहे हों...बिल्कुल पहला मौका है। इलियास की नोटबुक पर पेंसिल दौड़ रही है...कभी-कभी वह नरेश की ओर तिरछी दृष्टि डाल लेता है...और उसे चुपचाप निरपेक्ष बैठा देख कर वह आँखों ही आँखों में हँस रहा है। उसकी यह हँसी नीरा को असह्य लगती है...यह भइया आज बैठे भी कहाँ हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता, साहस भी नहीं दिया सकता; लेकिन उनके मुख पर घबराहट तो जान नहीं पड़ती...पर वे अपने भावों को छिपा सकने में पूर्ण चतुर हैं।

...उसे लग रहा है कि यदि आज भइया की हँसी हुई तो यह उसका ही दोष होगा, क्योंकि उसने ही निरन्तर उन्हें प्रेरित किया था। पर उसका क्या दोष है...वह कैसे कह सकती थी कि भइया इस विषय में इस स्थिति में बोलें...बिना किसी पूर्व भूमिका के, बिना किसी तैयारी के...जब अपने कालेज का सर्वश्रेष्ठ वक्ता विपक्ष के पक्ष में उनके खिलाफ़ बोल रहा हो। उसका क्या दोष है...लेकिन उसने भइया को इलियास की प्रतिद्वंद्विता के लिए अनेक बार उकसाया भी है...और आज उसी का मौका आ गया है, आज उन दोनों का वास्तव में मुकाबला होगा। यह बात सोच कर उसका मन भावावेश से आकुल व्याकुल हो रहा है...पर हॉल में एक अजीब तरह की निराशा छा गई है, जब से श्रोताओं को मालूम हो गया है कि इलियास विपक्ष में नहीं

बोलेगा वरन् पक्ष में बोलेगा, तभी उनको लगा अब इसमें रहा ही क्या ? अब तो इलियास के पक्ष की स्थापना सुनना है और बस... और उनके सारे मनोरंजन में पानी फेरनेवाला है यह अनजान सा व्यक्ति ! खड़े होकर नाम लिखा देना सरल है, पर इलियास के उठाये हुए तर्कों का उत्तर देना बिलकुल भिन्न बात है...अभी देखना क्या गति बनती है...बोलते समय कैसी नरबसनेस लगती है, मुँह सूखता है, आँखों के सामने अँधेरा छाता है...। उसे लग रहा है समस्त हॉल के लड़कों के मन और ज़ुबान पर यही बात है...। वह अपना ध्यान इधर से हटा कर भाषण की ओर ले जाती है...

अब इलियास की बारी है...वह मुस्कुराता हुआ उठ रहा है, उसका हाथ, बायाँ हाथ शेरवानी की जेब में है, अपना रूमाल निकाल रहा है...वह ऐसा ही सदा करता है...वह डायस पर पहुँच चुका है, अपने बायें हाँथ के रूमाल से ओंठ पोछ रहा है और एक मुस्कुराती दृष्टि से वह सारी भीड़ को देखता है...फिर रूमाल ज़ेब में डालते हुए शुरू करता है। उसे लगता है कि वह शुरू करने के पहले एक व्यंग-भरी दृष्टि नरेश पर भी डाल लेता है...पर वह देख रही है...भइया के मुख पर कोई भाव परिवर्तन नहीं होता, वे केवल हल्की मुस्कान से जैसे उसके प्रश्न का उत्तर दे देते हो कि बोलो, शुरू करो, देखा जायगा।...वह चिन्तित और उद्विग्न है, उसकी धड़कन अधिक तेज़ हो गई है...उसे लग रहा है कि उसीका मुख सूख रहा है, उसे बोलने के लिए खड़ा कर दिया गया है...।...वह सुन रही है, बीच-बीच में उसके कानों में पड़ जाता है—वह मानव जाति के इतिहास में भावों के विकास पर बोल रहा है, वह मानव जाति के उत्थान के प्रश्न पर प्रकाश डाल रहा है...वह बौद्ध करुणा का विश्लेषण कर रहा है, वह ईसा के प्रतीकार्थ पर बोल रहा है...वह क्रिश्चियन पिटी की व्याख्या कर रहा है।

वह समझ रही है कि इलियास आज जम कर बोल रहा है, वह

आज एकदम गम्भीर है...एक दो बार केवल तालों की गड़गड़ाहट हुई, पर इस घोष में गम्भीर प्रतिक्रिया मात्र है, हँसी और व्यंग की चोटों पर दाद देने का भाव नहीं।...वह और उत्तेजित होती जा रही है, उसके मन में तनाव बढ़ता जा रहा है...उसने विकल दृष्टि नरेश पर डाली... उसने देखा, वह देख रही है...भइया अब गम्भीर हो चुके हैं, उनके मुख पर विचारों की छाया पड़ रही है...उनके मस्तक की रेखाएँ उसे जान पड़ा जैसे कुछ संकुचित हैं...दूर से देख पाना सरल नहीं है...उन्होंने अपनी नोट बुक भी निकाल ली है...कभी-कभी बीच-बीच में पेंसिल चल कर फिर रुक जाती है। उसे भइया की इस मुद्रा से लगा कि भइया अब तैयार हो रहे हैं...और वह अभ्यस्त है कि जब भइया के मुख पर यह भाव हो तो फिर समझना चाहिये कि उनका आत्मविश्वास जाग गया है। उसे अपने भइया पर विश्वास है, वह यहाँ तो कहती आई है...पर इसी इलियास के विपक्ष में उसे बोलना है...विषय के विपक्ष में...और भइया बोलते हैं तो अपने विश्वास के आधार पर, उन्हें केवल अभिनय से चिढ़ है...फिर क्या होगा इस विषय का?

इलियास बोल रहा है---यह पिटी, यह करुणा, यह अहिंसा, यह विश्वमैत्री जो भी कहो, जिस नाम से पुकारो मानवता के विकास की वह सीढ़ी है, मानव संस्कृति की वह उपलब्धि है जिसने वास्तव में उसे सारे प्राणियों में, सारी सृष्टि के क्रम में मनुष्य बनाया है...। सारे सांस्कृतिक विकास में यदि किसी सत्य ने मनुष्य को सबसे अधिक आगे बढ़ाया है तो वह एक यही पिटी है...यह विश्व बन्धुत्व का वह सूत्र है जिससे मनुष्य सम्पूर्ण मानव समाज की एकाई में बँध गया है...वस्तुतः सारे धर्मों का श्रेष्ठ तत्व यही है, क्योंकि इसी के सहारे मनुष्य ऊपर उठता है, दीन-हीन-पतित मानवता को गौरव प्रदान करनेवाला भाव यही है...।...और अब उसने एक ऐसा मोड़ अपने तर्कों में लिया कि श्रोताओं के मन में ससपेंस उत्पन्न हो गया, और वस्तुतः यहाँ उसकी

शैली है। वह कह रहा है—आधुनिक मानवतावाद के पोषक कह सकते हैं, तर्क दे सकते हैं कि इसी धार्मिक भाव ने मनुष्य के मूल्य को कम किया है, मार्क्सवाद और आधुनिक विज्ञान के समर्थक इसके विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं...। सारी जनता में एकदम सन्नाटा है, सब उत्सुक हो कर उसकी नई तर्क योजना सुन रहे हैं, और नीरा किंचित स्तब्ध है, किंचित अशान्त भी।

...वह सुन रही है—उनका कहना है कि मनुष्य पर मनुष्य को दया करने का अधिकार नहीं होना चाहिए, मनुष्य की यह व्यक्तिगत स्वीकृति समाज के विरुद्ध है, मार्क्सवादियों का यह कहना है। विज्ञान ने और भी विकृत रूप में पेश किया था, उसके अनुसार मनुष्य के विकास के लिए यह भावना हानिकर है, यह दया व्यक्ति को व्यर्थ के निरर्थक भावावेश में फँसाती है जिससे उसकी उन्नति, उसका विकास कुंठित हो जाता है। थैंक गॉड...आज इस प्रकार के तर्क देनेवालों का युग बीत गया है। आज विकासवाद का, तथा फ्रायडवाद का कुहासा संसार के नेत्रों से बहुत कुछ कट गया है, अब इनका नाम लेने वाले, इनका समर्थन करने वाले साफ़ सामने नहीं आते, प्रच्छन्न रूप धारण करते हैं।... अब केवल रह जाता है मार्क्सवादी दृष्टिकोण...इसका सामाजिक दाय, इसकी सामाजिक दृष्टि अवश्य संसार के लिए एक सीमा तक हितकर सिद्ध हुई है। पर आप गहराई में जाँय, गम्भीरता से विचार करें, तो देखेंगे इस सामाजिक चेतना में क्या भाव काम करता रहा है? आखिर किसने मनुष्य को समाज का अंग सिद्ध किया है, एक व्यक्ति ने, अथवा कई व्यक्तियों ने। उनके मन की प्रेरक शक्ति क्या रही है? उनके मन में क्या था जिसने मनुष्य को समाज की पीड़ा का अनुभव करने की शक्ति दी, वह क्या था जिसने प्रत्येक मनुष्य को समस्त कष्टों से मुक्त करने का उद्घोष किया? मैं कहता हूँ कि यह मानव मन की करुणा, दया ही थी जिसने मानव समाज के विकास के लिए इतने बड़े विद्रोह, इतनी बड़ी क्रांति को जन्म दिया...और इसमें धीरे-धीरे इसी मानवीय तत्त्व को

अवहेलना की जा रही है...समाज को एक यांत्रिक ढाँचे में कसा जा रहा है। इसीलिए आगे प्रश्न आता है गाँधीवाद का जिसका आधार है अहिंसा...और इसको प्रस्तुत संदर्भ में दया से भिन्न नहीं कहा जा सकता...।

ध्यान भंग हुआ, तालियों की लम्बी गड़गड़ाहट से हाल गूँज गया। उसका मन अब तक भाषण के प्रवाह में बह रहा था...वह चकित थी कि इलियास विषय की इतनी गहन विवेचना भी कर सकता है। उसके मन में फिर पहली उद्विग्नता उभर आई...वह चिन्तित भाव से सोच रही है कि भइया अब इसका क्या उत्तर दे सकेंगे, अब वे क्या कहेंगे? तालियों की गड़गड़ाहट लहरों और बौछार के समान बार-बार उठती और फिर समाप्त होते होते उठती रही है।...इनके सामने देखें भइया किस प्रकार जमते हैं,...हॉल के हलचल के ऊपर उसका ध्यान डायस की ओर ही है...नाम पुकारा जाता है—नरेश कुमार, विपक्ष में वक्ता ...बी० ए० द्वितीय वर्ष के विद्यार्थी, कालेज के श्रेष्ठ लड़कों में...चेयर को कोई नहीं सुन रहा है। वह चाहती है कि सब सुनें, ध्यान दें...उसे लगता है कि अनाउन्समेंट की इतनी जल्दी क्या थी...उसे लगता है कि यह शोर शान्त नहीं होने का, इसमें भइया बोल भी सकेंगे तो कैसे?...वह एकाग्र होकर केवल नरेश की ओर ही देख रही है जैसे इस प्रकार वह सब का ध्यान उस ओर खींच लेगी...वह चाहती है कि चेयर की ओर से लोगों से शान्त होने के लिए कहा जाए, रिक्वेस्ट की जाय। वह देख रही है...नरेश डायस की ओर बढ़ रहा है...उसका मन एकदम खिंचने लगता है, मन में भावों का तनाव बढ़ जाता है, जैसे साँस लेने में रुकावट हो रही है...भइया के मुख पर संकोच है, घबराहट है?...शायद केवल लज्जा...पर ऊपर से एकदम शान्त जान पड़ते हैं...वे धीरे-धीरे क्यों डायस की ओर बढ़ रहे हैं...लगता है पकड़ कर कोई ले जाया जा रहा...इलियास तो शेर की तरह दृष्टि डालता हुआ डायस पर जाता है...क्या उनको संकोच हो रहा है?...नहीं,

केवल अभ्यास की कमी ..कितनी बार कहा, पर सुनता कौन है। हाल में अब भी फुसफुसाहट, बातचीत चल रही है...सारा कमरा बाज़ार की तरह गूँज रहा है...यह भी कोई बात है, यह भी कुछ हुआ...इस हो-हल्ला में कोई कैसे बोल सकता है...और प्रो० दत्ता हैं कि कुछ कहेंगे ही नहीं, वैसे किसी के एक शब्द कहते ही उसके पीछे पड़ जायँगे, पर यहाँ मौन ग्रहण कर लिया है...।

...भइया बोल रहे हैं...वह साँस रोके सुन रही है...पर हाल में अब भी पहले जैसा हंगामा हो रहा है...ये सुनते क्यों नहीं, चुप क्यों नहीं होते...सब कितने...प्रत्येक को अपनी बात कहने का अवसर तो देना चाहिए। यह भइया कैसे खड़े हैं...जैसे खड़े कर दिये गये हों... डिबेटिंग का यह ढंग नहीं है, भाषण देने की यह शैली नहीं है...यह उन्होंने अपना इक्सप्रेशनलेस फ़ेस क्यों बना रखा है...हाथों को ऐसे क्यों डाल रक्खा है...बहुत धीरे शुरू कर रहे हैं ..और जब हाल में लोग एकाग्र नहीं हैं।...पर वह साँस रोके सुन रही, उसे सुनाई दे रहा है...वह एक-एक शब्द ग्रहण कर पा रही है—मि० प्रेसीडेन्ट... फेलोज़...फ़र्स्टली आई उड लाइक टू काँग्रेचुलेट माई फ्रेन्ड...हिज़ ब्रिलियेन्ट परफ़ारमेन्स...यह क्या कह रहे हैं भइया, ये तो उल्टे इलियास की प्रशंसा कर रहे हैं। धीरे-धीरे उसे लग रहा है कि उसकी साँस रुकती जा रही है, उसका दम घुट रहा है...हवा कम हो गई है, उमसन बढ़ गई है और साँस लेना मुश्किल हो गया है।

...धीरे-धीरे हाल की आवाज़ों के ऊपर नरेश की आवाज़ दृढ़ता के साथ उभरती आ रही है और हॉल शान्त होता जा रहा है...नरेश बोल रहा है, उसने अपने हाथ पीछे बाँध लिये हैं और बहुत जमते हुए आगे बढ़ रहा है...नीरा को जैसे साँस लेने को हवा की हल्की ब्रीज़ मिल गई हो—मैं प्रशंसा करूँगा कि हमारे मित्र ने अपनी बात बहुत चतुराई के साथ सामने रक्खी है...बड़ी योग्यता के साथ उन्होंने हमारे मन में यह भ्रम उत्पन्न करने की कोशिश की है कि सारी

मानवता का विकास, सारी मानव संस्कृति की उपलब्धि मनुष्य की इसी भावना के आधार पर हुई है...उन्होंने अपने श्रम के वातावरण में दया, करुणा, प्रेम, अहिंसा सब को एक साथ समेट लेना चाहा है...। और सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने यह सब आवेश, तेजी के साथ प्रस्तुत किया है...चुने हुये शब्दों और मुहावरों में यह सब कहा गया है जिससे हमें वे भली भाँति भ्रम में डाल सकें...अपने कौशल में फँसा सकें। नीरा सुन रही है...सारे हाल में पिनड्राप साइलेंस व्याप रहा है और सब उसमें डूबते चले जा रहे हैं। वह बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है पर उसका हर एक कदम जम-जम कर पड़ रहा है...वह बिना किसी प्रदर्शन के, बिना किसी अभिनय के श्रोताओं के मन को अभिभूत करता जा रहा है। नीरा के मन की आकुलता भाटा की तरह उतरती जा रही है, उसकी साँस अब बिल्कुल मुक्त हो चुकी है।

वह मानों किसी मैच को देख रही था...गेम शुरू हो चुका है... देखनेवाले एक चित्त होकर देख रहे हैं कि क्या होता है...खेल होते-होते समय अधिक हो गया है...इण्टरवल समाप्त हुए बहुत समय बीत चुका है...दोनों ओर अभी तक गोल नहीं हो सका है...अन्तिम समय दोनों पक्ष पूरा बल लगा कर खेल रहे हैं! वे खेल में अब बचा नहीं रहे हैं... वे डिसपरेट हो चुके हैं...अपने पक्ष की ओर बॉल आगे बढ़ता आ रहा है और देखनेवाला दम साधे बैठा है, उसे लग रहा है बॉल उसकी ओर ही आगे बढ़ता जा रहा है, वह अपने में घुटता घुमड़ता जाता है...वह अपना सारा बल लगा कर बॉल को आगे बढ़ने से रोक लेना चाहता है। उसके पक्ष का प्रत्येक खेलाड़ी जान लड़ा कर बॉल रोक रहा है... और देखने वाला अपनी सारी इच्छा-शक्ति से उसे रोक रहा है...वह एकदम साँस रोके तनाव के साथ बैठा है...बॉल पग-पग पर जैसे उसके प्राणों के ऊपर से निकल रहा है...और...वह देखो...बॉल अपने पक्ष के खेलाड़ी के द्वारा छीन लिया गया...वह अब आगे लेकर भागा चला

है...भाग चला है। दूसरे पक्ष के कई खेलाड़ी उसपर टूट पड़े हैं... पर बॉल आगे सरसराता हुआ वह भागा जा रहा है...दर्शक का सारा तनाव ढीला पड़ जाता है...और उसके मन में उल्लास का आवेग आ कर उमड़ने लगता है। अपने पक्ष के बढ़ते हुए खेलाड़ियों के साथ-साथ उसका मन भी आगे-आगे भाग रहा है, उसकी उत्सुकता में फिर तनाव बढ़ने लगता है...और इसी प्रकार नीरा के मन में उत्सुकता का तनाव बढ़ने लगा है...ध्यानमग्न होकर वह सुन रही है—

मैं कह रहा हूँ कि इस प्रकार दया, प्रेम, करुणा में अन्तर करके न चलना मनुष्य के मन को समझने के सम्बन्ध में अज्ञान प्रकट करना है। पिटी, दया शब्द का प्रयोग विशेष संदर्भ की अपेक्षा रखता है... क्रिश्चियनटी के साथ इसका विशेष सम्बन्ध रहा है।...वह सुनती रही...नरेश शब्द के इतिहास पर बोल रहा है...धर्म के सम्बन्ध में उसकी व्याख्या कर रहा है...सिन, कनफ़ेशन, पिटी, रिडेम्शन...के सूक्ष्म भेदों को सरल और सशक्त शैली में बतला रहा है...और यह सब वह इस प्रकार कहता चला जा रहा है, जैसे पानी में मछली तैर रही हो। प्रोफ़ेसर्स उत्सुकता से उसकी ओर देख रहे हैं...नीरा के मन में उल्लास और उत्साह गर्व की अज्ञात भावना में जैसे आवेगपूर्ण हो गया हो...। वह कह रहा है—और मैं करुणा की भावना तथा दया में अंतर कर चुका हूँ, यहाँ बौद्ध करुणा को उसी संदर्भ में ले लेता हूँ... मैं यहाँ एक क्षण के लिए आप से पूछना चाहूँगा यदि इस दया और इस करुणा से मानव-प्रेम और विश्वबन्धुत्व को अलग कर लिया जाय तो उनका क्या रूप रह जायगा? दया करनेवाला तो महान है, वह अपने स्वर्ग के आसन से नीचे पाप की ज्वाला में जलनेवाले मनुष्यों पर दया करता है...अकिंचनों पर अपनी दया का वरदान न्योछावर करता है। पर यह कल्पना मनुष्य के निरीह होने की है, उसके उन्नयन की नहीं, उसके विकास की नहीं...क्या इसके विपरीत उस प्रभु पुत्र की कल्पना अधिक गरिमा, अधिक गौरव से युक्त नहीं है जो मानव-

प्रेम में उसके सारे पाप-शाप को अपने ऊपर लेकर कष्ट झेलता है, पीड़ा सहता है और अन्त में क्रूसित होता है...। वह सुन रही है, सारा हॉल सुन रहा है...मन्त्रमुग्ध, सन्नाटे में सब सुन रहे हैं...वह कह रहा है—और करुणा भी...गौतम ने करुणा से क्या पाया...पालायन... घर से, पत्नी से, राज्य से, जनता से पालायन...यही तो हुआ परिणाम ...यद्यपि दया जैसी महानता करुणा में नहीं थी! यह केवल अपने ही जनों के प्रति, उनके कष्टों के प्रति संवेदनीयता की भावना थी, फिर भी इसमें कष्टों को फ़ेस करने के स्थान पर उनसे भागने की प्रवृत्ति ही जागी, कौन इंकार करेगा इस तथ्य से,...और भगवान् बुद्ध ने इसके बाद क्या पाया, उन्होंने सारी साधना, मनन, चिन्तन के बाद क्या खोज पाया...संसार से विरक्ति ही तो! उसमें एक अकेला विश्वबन्धुत्व ही ऐसा है जिससे इस करुणा को संसार में आश्रय मिल सका है...। उसके बोलने में धीरे-धीरे गति आती जा रही है, उसका स्वर बीच-बीच में ऊपर उठ जाता है, पर बहुत शीघ्र ही फिर समतल पर बहने लगता है। उसके मन के उल्लास ने तन्मयता की स्थिति प्राप्त कर ली है और वह एकाग्र चित्त से सुन रही है...सारी जनता एकदम उसके प्रवाह में डूब चुकी है...।

वह अपने तर्कों से अपने पूर्व वक्ता के तर्कों को जैसे एक-एक कर खोलता चला जा रहा है...वह अपनी स्थापनाओं से धीरे-धीरे अपने श्रोताओं के मन को अभिभूत करता जा रहा है...पर ऐसा कहीं नहीं लगता कि वह ज़ोर देकर कोई बात कह रहा है, या वह बल पूर्वक कोई बात मनवा ले रहा है। अभी तक ऐसा ही हुआ है कि वक्ता अपनी बात मनवा लेता है। वह अपनी बात के बल से, अपनी शैली के आग्रह से लोगों को बात मान लेने के लिए विवश कर देता है...पर वह कहीं कोई बल, आग्रह प्रकट ही नहीं करता है...केवल अपनी बात की ईमानदारी से, स्पष्टता से सबको विवश कर रहा है...। वह आगे बढ़ रहा है—मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया ईसाई

दया, बौद्ध करुणा से संसार ने क्यों आज तक सालवेशन प्राप्त नहीं किया...उत्तर दिया जा सकता है कि इस मुक्ति की समस्या व्यक्ति की है, व्यक्तिगत है। मैं पूछना चाहूँगा कि यदि सारी समस्या ही व्यक्ति की है, केवल व्यक्तिगत है तो इस दया और करुणा...अहिंसा का सवाल ही कहाँ उठता ? मैं जानता हूँ कि उत्तर दिया जायगा कि प्रश्न यहाँ व्यक्ति की दया का नहीं है...करुणा का स्रोत व्यक्ति नहीं है...वह तो प्रभु की दया का सवाल है...प्रज्ञापारमिता की अनन्त करुणा का प्रश्न है...। मैं सतर्क करना चाहूँगा, और मेरे मित्र भी इस विषय में मेरे साथ अवश्य सहमत होंगे कि इस बहस को हमें आध्यात्मिक आयामों में नहीं ले जाना है...यह ऐसा क्षेत्र है जिसके विषय में फ़िलहाल मौन रहना ही अधिक उचित होगा...।

...सब उत्सुक हो चुके हैं कि अब बहस का कौन पहलू सामने आता है...नीरा को इस मोड़ पर कुछ देर के लिए औरों की ओर देखने तथा उनके भावों को पढ़ने का मौका मिल जाता है। उसने किंचित मुड़ कर देखा हॉल में एक ओर बैठी हुई लड़कियाँ विभोर सी आत्मविस्मृत हैं...दाहिनी ओर कुछ तिरछे...सारे जनसमूह की आँखें एकदम नरेश की ओर लगी हुई हैं। उसे लगा जैसे वह स्वयं सब के सामने खड़ी है और ये हज़ारों आँखें उसी की ओर लगी हुई हैं...उसे न जाने कैसी लज्जा अभिभूत कर रही है। फिर उसका ध्यान दूसरे ही क्षण भइया की ओर आकर्षित हो जाता है...वे सहज मुद्रा में खड़े हैं, उनके मुख पर कोई आवेश आवेग नहीं है...उन्होंने अपने दोनों हाथ अब बगल में दाब लिये हैं और सहज भाव से बोल रहे हैं—

कौन किस पर दया करता है...सशक्त निर्बल पर, अमीर ग़रीब पर, महान निरीह पर...दया के साथ क्या ये दो सीमाएँ निश्चित नहीं हो जातीं ? मैं पूछता हूँ क्या इसीलिए, केवल इसी लिए कि दया करने का अवसर प्राप्त होता रहे इन दो वर्गों की स्थिति सुरक्षित नहीं हो जाती है। आप भ्रम में न पड़ें, मैं आपको वर्ग संघर्ष की चर्चा में

नहीं फँसाना चाहता...मैं कहता हूँ कि क्यों आवश्यक माना जाए कि अमीर रहेंगे और ग़रीब भी रहेंगे। आप यदि यह कहना चाहें कि यह ऐसा ही चलता आया है और ऐसा ही चलता रहेगा...यह सब आप नहीं मानेंगे, इसकी ओर से आप आँखें नहीं बन्द कर सकते। सामाजिक चेतना के विकास के साथ इस रूढ़िवाद को मनना देख कर आँख बन्द कर लेना ही है। हाँ, यह सम्भव है और बिना पिटी के ही सम्भव है...
...मैं तो कहना चाहूँगा कि दया के साथ मानव मन की, मानव व्यक्तित्व की रक्षा नहीं हो सकेगी...मानव जीवन की सबसे बड़ी ट्रेजेडी यही है कि उसमें दया जैसे भाव को गरिमा दी गई है जो मानव व्यक्तित्व को कुण्ठित करता है, जो उसकी गरिमा को खण्डित करता है...मनुष्य, व्यक्तित्व से युक्त मनुष्य दया का पात्र नहीं हो सकता, यह उसका अपमान है, यह उसके अन्तर्निहित सत्य की अवहेलना है...।

नीरा आज वर्षों बाद नरेश की इस ध्वनि को, उसकी इस वाणी को अपने मन में साफ़ स्पष्ट सुन पा रही है...वह चुप चाप लेटी है, उसने आँखें बन्द कर रक्खी हैं...पर वह अपनी चेतना में सारे भूत का अतिक्रमण करके वर्षों के जीवन को, अपने संस्कार को भूलकर इस समय अपने आप में स्वस्थ किशोरी हो गई है और वह सुन रही है जिसका अर्थ आज उसके जीवन के क्षणों में उसके अनुभव की नई प्रेरणा, नई संवेदना के साथ मिल कर एक नया सन्दर्भ ग्रहण कर रहा है।

उस दिन वह एकदम डूबी हुई सबके साथ बढ़ा जा रहा है...वह कह रहा है, कहता चला जा रहा है, उसके स्वर में बहुत हल्का आवेश आ गया है—आज मानव उस सीमा पर पहुँच चुका है, उस विकास के आयाम में प्रवेश कर रहा है जिसमें मनुष्य को अपना ही, अपने

ही व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग मानेगा, और कौन है जो अपने ही अंग पर, अपने ही ऊपर पिटी करेगा ! इस पिटी को, इस सेल्फ़ पिटी को तो हमारे दोस्त भी मानकर नहीं चल सकेंगे...सेल्फ़ पिटी तो मनुष्य के लिए उसके पतन की सबसे तीखी धार है, इस पर कोई नहीं बच सकेगा। मैं तो कहूँगा पिटी करना मनुष्य का संस्कार नहीं, उसका आदिम भाव है, उससे हमको आगे बढ़ना ही होगा।...नित्से की बात मैं नहीं कर रहा हूँ...पूर्ववक्ता ने अपने तर्कों में यह कहा है कि नित्से जैसे अविश्वासी ही दया जैसे मानवीय तत्त्व को अस्वीकार कर सकते हैं...हाँ, निश्चय ही उसने दया का, ईसाई दया का खण्डन बड़े ज़ोरदार शब्दों में किया था। उसने इस मसीही सत्य का मसीही शैली में और उसी आवेश के साथ विवेचन किया है। पर आप को यह भी ज्ञात होना चाहिये कि नित्से का आक्रोश, निराशा, अवसाद, हीनभावना से प्रेरित था...उसने निगेट किया, पर कोई पाज़िटिव सत्य की स्थापना नहीं की...आधारहीन, विश्वासहीन व्यक्ति केवल अपने फ्रस्ट्रेशन पर अधिक दिन नहीं चल सकता...नित्से की ट्रेजेडी का रहस्य यही है... इससे उसके दया पर किये गये आक्रमण के आंशिक सत्य का प्रत्याख्यान नहीं हो जाता...।

...युवती का ध्यान पुनः भंग हुआ...उसने श्रोताओं की दृष्टि में फिर जिज्ञासा की छाया देखी, जैसे सब के मन में केवल एक प्रश्न है ...वह अब किस बात की स्थापना करने जा रहा है, वह कौन सा पाज़िटिव स्टैण्ड लेने जा रहा है...। उसने अपने दोनों हाथ फैला लिये हैं, उसकी भंगिमा में अब निश्चय की अभिव्यक्ति है...वह कह रहा है— अन्त में मुझे केवल यह कहना है...आदर्शों की गरिमा बड़ी चीज़ है... उसको पिटी की कुण्ठा से, यांत्रिकता के बन्धन से अपमानित नहीं होने देना है...यह पिटी मनुष्य के व्यापक सत्य को झुठला कर चलती है... सामाजिक एकता का बन्धन भी अपने मूल में इसी दया की भावना से शासित है...क्योंकि उसमें भी पार्टी, दल, संगठन सारे मानव समाज

को दया का पात्र मान कर एक प्रकार से चलते हैं।...मानव समाज का वही नक्शा पूरा होगा, मानव विकास की वही रेखा निश्चित होगी जिसमें कोई किसी पर दया करने की स्थिति में अपने को नहीं पा सकेगा...तब मनुष्य एकसूत्रता के ऐसे बन्धन में रहेगा कि प्रत्येक का कष्ट दूसरे का कष्ट होगा, एक की पीड़ा सब की पीड़ा हो जायगी... यह असम्भव कल्पना नहीं है...क्या माता को अपने पुत्र के कष्ट को संवेदित करने के लिए दया का आश्रय लेना पड़ता होगा ? क्या...यह भाव है प्रेम, मात्र प्रेम...इसमें अपने और दूसरे की सीमाएँ मिटती हैं...।

शुवर्ती को लगा तालियों की गड़गड़ाहट उसके मन में अब भी गूँज रही है, सारे हॉल में उल्लास और आवेग का जैसे ज्वार आ गया हो और वही ज्वार उसकी चेतना में इस समय, आज भी लहरें लेता हुआ उमड़ा आ रहा है। वह इस भावावेश को अपने अस्तित्व में आज नये रूप में अनुभव कर रही है...उसके अस्तित्व में जो आज एक नया सा अंश उभर रहा है, विकसित हो रहा है...वह अंश जो आज तक बौना था, एकदम मौन था, चुप था...आज की मिटती हुई चेतना में पूरा विकास पा लेना चाहता है, मुखरित होना चाहता है...और उसी से यह ज्वार मिल गया है, यद्यपि आज ज्वार में हाहाकार का आभास भर है...। बहुत देर से आँख बन्द किये रहने के कारण यह सब उसके लिए बोझिल हो गया, उसने धीरे से आँख खोलने का उपक्रम किया। उसे आभास मिला उसके सिरहाने कोई...कोई नहीं यह तो माँ हैं... वे शायद काफ़ी देर से उसके पास आ गई हैं, पर इस भाव से बिल्कुल मौन रही हैं कि वह सो सके, उसकी नींद में किसी प्रकार की बाधा न पड़े...।

उसने आँख खोली...सामने माँ बैठी हैं...उसकी माँ...वे ऐसी चुप हैं जैसे अपना सारा अस्तित्व को समेटे हुए हों, जिससे उसके

आराम में किसी प्रकार बाधा न पड़ने पाये। माँ के हाथ में गीता है...गीता-प्रेस का वह संस्करण जिसमें मोटे टाइप में मूल है और उसके नीचे शब्दार्थ तथा टीका दी गई है...यह उसके पापा की चिरसहचरी रही है और अब माँ उनकी अनुपस्थिति में उसका पाठ कर लेती हैं...। लेकिन माँ गीता की भावना से दूर 'रामचरित' की भावना के अधिक निकट हैं...उसने देखा माँ का पाठ चल नहीं पा रहा है...उनकी दृष्टि एक स्थल पर रुकी हुई है और उनका मन कहीं अन्यत्र है। वे निश्चय ही उसके विषय में ही सोच रही हैं, उनका मन अब शायद किसी अन्य बात में जाता नहीं...उसकी बीमारी, उसका निरन्तर चिन्ता का कारण स्वास्थ्य और फिर उनके प्रभु...यही उनके मन के आश्रय स्थल हो गये हैं।

माँ की आँखें झुकी हुई हैं, पलकों पर जैसे कोई भाव उतर रहा है, नेत्रों की छाया उन पर पड़ रही है...युवती के सामने केवल पलकें हैं, नेत्र पुस्तक पर ही झुके हैं...लेकिन पलकों की छाया से यह पढ़ा जा सकता है कि माँ के मन में कोई बवंडर मंडरा रहा है...कोई आँधी घिर रही है, कहीं कौंधे चमक रहे हैं। वह देखती रही...माँ के जीवन का सारा अतीत जैसे इस समय सघन हो गया हो।...माँ की माता जी बचपन में ही नहीं रही थीं...उनका पालन पिता के हाथों ही हुआ था, पिता की धार्मिकता, उनकी भक्ति ने माँ को बचपन से समर्पणशील बनाया है।...और माँ ने ही कहा है कि उन्हें अपने अनेक बच्चों की मृत्यु देखनी पड़ी है...उसकी बीमारी, उसकी इस लम्बी बीमारी ने माँ के हृदय को जरजर कर डाला है...इधर पापा की मृत्यु उनके लिए सबसे कठोर प्रहार और सबसे क्रूर नियति का व्यंग सिद्ध हुआ है...। पापा...पापा उनके मन के लिए बहुत बड़े अवलम्ब थे...प्रभु के प्रति उनका समर्पण पापा के माध्यम से ही था.. समस्त कष्ट, समस्त आपदाओं में वे अपने मन को प्रभु के प्रति समर्पित करके जिस प्रकार निश्चिन्त हो जाती हैं, उसी प्रकार वे सारे प्रमादों, उपायों के लिए पापा

पर निर्भर रहने की अभ्यासी रही हैं...यही कारण है कि पापा के बाद वे निरुपाय अधिक हो गई हैं। उनको मन से विचलित उसने नहीं देखा है, पर वे अब पापा के अभाव में एक विशेष प्रकार के शून्य का अनुभव करती हैं।

वे अपनी भरी हुई माँग के साथ जैसे भरी-भरी जान पड़ती थीं, पर अब वे सामने श्वेत वस्त्रों में एकदम शान्त नीरव हैं...और उनके सफ़ेद बालों के ठीक मध्य में सीधी माँग की रेखा ऐसी जान पड़ती है ...घने जंगल में कोई अकेला चला जा रहा है, उसका सहचर बिछुड़ गया हो...और वन की नीरव उदासी चारों ओर छाई हुई है...केवल झींगुरों की झंकार भर सुनाई दे रही है...और अकेला यात्री बढ़ रहा है उसी के बीच से, उसके लिए कोई उपाय शेष नहीं रह गया है...आगे बढ़ना एक ऐसी ही लाचारी है जिसे किसी हालत में छोड़ा भी नहीं जा सकता...और माँ सब कुछ झेलती हुई आगे बढ़ रही हैं। श्याम ने ज़रूर माँ का हृदय दुखाया है,...वह एक ऐसा अंश है...वह एक ऐसी चोट अवश्य है जो माँ की सहन शक्ति से अधिक सिद्ध हुई है...माँ को ऐसी आशा उससे नहीं थी। लेकिन माँ उसका उल्लेख कभी नहीं करतीं...शायद कर नहीं पातीं...माँ अपने पुत्र को नालायक मानने को कभी तैयार नहीं होतीं...सम्भवतः इसीलिए माँ अपने मन में यह भ्रम पालना चाहती हैं कि श्याम बस है और वह अपने आप में सुखी है, माँ के लिए यही बहुत बड़ा अवलम्ब है...वे अज्ञात रूप से व्यथा का अनुभव करती हैं, और चुपचाप ही उसे सह लेती हैं...।

माँ को जैसे आहट मिली, उन्होंने दृष्टि ऊपर उठाई...नीरा की दृष्टि से उनकी दृष्टि मिली, दोनों दृष्टियाँ एक क्षण मिली रहीं... एक दूसरे का भाव ग्रहण करती रहीं, एक दूसरे की छाया को पकड़ती रहती हैं...माँ के हृदय की समर्पित शान्ति में उसकी वेदना की गहरी

होती छाया नेत्रों में उतर आई है और नीरा का आज का मिटता हुआ अस्तित्व उसको जान कर भी संवेदित नहीं कर पा रही है...वह केवल उसके उसी अंश का स्पर्श कर रहा है, जिसमें उसका नया संस्कार जागा है। उसे लग रहा है कि माँ का स्नेहत्व अपमानित हुआ है, मातृत्व कुण्ठित हुआ है...माँ यह सह सकती थी कि श्याम ने अपनी इच्छा से विवाह किया है, उसने अन्य जाति की लड़की अपना ली है और वे यह भी क्षमा कर सकती थीं कि श्याम ने उनकी इच्छा के विरुद्ध बीच में मेडिसिन की पढ़ाई छोड़ कर नौकरी कर ली है...श्याम का कहना है कि पापा के बाद इस प्रकार वह परिवार पर तीन वर्ष के लिए बर्डन किस प्रकार रह सकता था...पर माँ के लिए यह व्यक्तिगत पराजय के समान है कि वे पापा की इस इच्छा को पूरा नहीं कर सकीं।

वे सदा कहा करते थे—मेरे लड़के को नौकरी नहीं करनी पड़ेगी, मैंने करके जान लिया है कि सरकारी नौकरी में, वह अफ़सरी ही क्यों न हो...बड़ी ज़लालत है, उसमें आत्मा का पतन होता है, और श्याम भई, तुम सब करना पर नौकरी न करना। ..इसी कारण उन्होंने उसे मेडिसिन में भेजा भी था।...और श्याम ने वही किया...उसने नौकरी ही स्वीकार कर ली...मैं जानती हूँ...यह श्याम का बहाना था ..उसे विश्वास नहीं था कि माँ उसके इस विवाह के बाद भी सहायता देना पसन्द करेंगी...इसी लिए उसने विवाह और नौकरी एक साथ स्वीकार कर ली...और माँ को यह अपमानजनक लगा है कि उनका ही लड़का उनका विश्वास न कर सका...वह माँ के ऊपर को देख सका है, पर अन्तर नहीं देख सका। यह माँ के लिए, किसी भी माँ के लिए बहुत बड़ी लज्जा और ग्लानि की बात हो सकती है...और इस पर श्याम ने अपनी ओर से सारे सम्बन्ध छोड़ से दिये हैं, उसे शायद भय रहा है कि इस स्थिति में परिवार में उसकी पत्नी का

जाने या अनजाने अपमान हो सकता है।...पर माँ का आन्तरिक क्लेश है कि उसे श्याम ने एक अवसर भी नहीं दिया...वे संकुचित दृष्टिकोण की हो सकती हैं, उनके अपने संस्कार हैं, पर वे माँ हैं और माँ अपने लड़के के लिए क्या स्वीकार नहीं कर सकती ? उनके मन में एक स्थायी भाव इस प्रसंग को लेकर हो गया है कि पापा होते यह सब उन्हें झेलना नहीं पड़ता...तब वे सब सँभाल लेते, तब यदि कुछ होता भी तो उनकी क्या ज़िम्मेदारी थी...वह उनपर सब कुछ छोड़ कर अपने प्रभु के प्रति अपने मन को समर्पित कर सकतीं...उन्होंने तो उसको यह सुख का आश्रय भी नहीं छोड़ा...।

पता नहीं माँ ने नीरा के मन के भाव किस प्रकार पढ़ लिये और उनकी आँखें गीली हो गईं...बहुत चुपचाप आँसुओं की कुछ बूँदें पलकों में उलझ गईं और चुपचाप ही गालों पर लुढ़क पड़ीं...माँ ने अपने पल्ले के छोर को अँगुलियों से उठा कर धीरे से आँख और गालों पर फेर लिया...फिर सब कुछ शान्त हो गया।...शान्त...नहीं केवल शान्ति के आवरण में तिरोहित हो गया...एकाएक आया एक झोंका वातावरण में विलीन हो गया। नीरा ने माँ को सहारा देने के लिए कहा—"माँ !" और माँ ने अनुभव किया कि उनकी कमज़ोरी पकड़ ली गई है, उन्होंने प्रसंग बदलने के भाव से कहा—"नीरा, कैसा जी है ! लगता है आज कुछ आराम है, क्या नींद आ रही है।" उन्होंने बात से ध्यान हटाने के लिए इतना कुछ कह दिया है, वैसे उनको किसी प्रकार इसका अनुमान है कि यह आराम, बीमारी से मुक्ति की नहीं है। आगे उनके लिए सोच पाना सरल नहीं है...उन्होंने अनजान में एक पीड़ा से बचने के लिए दूसरे घाव का दुखा दिया है...यह उन्होंने जान लिया, पर वे कह चुकी हैं...और उनके मन में वह बात तीखा दर्द उत्पन्न करते हुए पैठ गई।

नीरा शान्त दिखाई पड़ रही है...पर यह बीमारी के बाद की आशा

और विश्वास को जन्म देनेवाली शान्ति नहीं है...यह तो निरन्तर युद्ध के बाद की श्रान्ति है, थकावट है...वह भी विजय की सम्भावना से स्फुरित नहीं...केवल लड़ने की अन्तिम आशा को लिये हुए व्यक्ति की थकावट जैसी ! फिर उससे यह पूछना क्या अर्थ रखता है कि क्या उसे आराम है...माँ अपने प्रश्न से संकुचित हैं...नीरा ने माँ के प्रश्न को सुना, उसने माँ के संकोच और व्यथा को देखा और उनको इस भाव से मुक्त करने के लिए कहा—"अम्मा, हाँ...आज मुझे नींद आ रही है। मुझे आज क्या खाना दोगी, कुछ नमकीन चीज़ खाने की इच्छा है।" "नमकीन दही का रायता तुमको अच्छा लगेगा, अच्छा मैं भेजती हूँ।" माँ नींद शब्द पर कुछ रुकी थीं, उनके मन में जैसे कुछ ऐंठ सा गया, पर खाने की बात का आधार उन्हें मिल गया और वे उसी के सहारे उठ कर भीतर जाने लगीं...।

और नीरा को भी लगा उसने अनजान माँ के हृदय को बहुत कोमल स्थान पर दुखा दिया है, पर उसने किसी प्रकार उसका परिहार कर लिया है...माँ के लिए इससे अधिक सुख की क्या बात हो सकती है कि नीरा ने बहुत दिन बाद उससे कुछ खाने के लिए खुद कहा है। लेकिन नीरा जानती है कि माँ को इन बातों से ठगना सरल नहीं है... माँ को इन बातों में बहकाया नहीं जा सकता है...वे एकाएक उत्साहित चली जो गई हैं वह केवल अपने मनोभाव को नीरा पर प्रकट न होने देने के लिए...।...यह कैसी लुका छिपी है...यह कैसा धूप-छाँह का खेल है जो माँ-बेटी एक दूसरे से खेल रही हैं...दोनों इस अनिवार्य, निश्चित, इनएवीटेबिल स्थिति से परिचित हैं...चुपचाप, मौन भाव से उसकी प्रतीक्षा में हैं...एक मार्मिक वेदना को सँभाले हुए, और दूसरी अपने अस्तित्व के खोते हुए क्षणों को असम्पृक्त भाव से देखते हुए... पर दोनों के मन में एक विराट शून्य फैल रहा है जो बढ़ता जा रहा है; और उसी में वे अपनी संवेदनाओं को डुबो रही हैं...कोई अन्य जैसे मार्ग नहीं है, उपाय भी नहीं है।

मीरा ने देखा माँ अन्दर चली गई हैं...उनकी चाल में जैसे उत्साह हो, पर वह जानती है, यह केवल बल पूर्वक लाया गया उत्साह है.... हारने वाला भी अन्त तक इस बात का आभास देना चाहता है कि वह बल लगा रहा है, उसने अन्त तक हार नहीं मानी है, वह दूसरा विचारा के भ्रम को कम से कम बनाये रखना चाहता है कि अन्त तक जूझा है... जूझता रहा है, उसके लिए यह बहुत बड़ा संतोष है ! माँ कमरे के दरवाज़े के बाहर हो गई हैं और उसे लग रहा है माँ अब भी बाहर जा रही हैं।

माँ उससे दूर बहुत दूर चलती चली जा रही हैं.. वे दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ रही हैं...सामने एक क्षितिज है,...सामने बहुत दूर, बहुत दूर पीछे हटती हुई क्षितिज रेखा पर माँ की आकृति बढ़ रही है....। क्षितिज पर लालिमा की हल्की गहरी आभा झिलमिल रही है...बादलों की बहुत हल्की पर्तों में यह लाली फैलती जा रही है...और दूसरी क्षितिज की ओर माँ बढ़ती जा रही हैं...उसी रेखा पर वे चल रही हैं और चलती ही चली जा रही हैं। मीरा को लगा दूसरी क्षितिज के समान जीवन पर वे आगे बढ़ती आई हैं...वह देख रही है...क्षितिज की लाली मिट रही है और उसके स्थान पर अन्धकार छा रहा है...अन्धकार के प्रसार में सारा दृश्य मिटता, डूबता जा रहा है। पर माँ अब भी उसी रेखा पर चल रही हैं...उसे अनुभव हो रहा है कि माँ जीवन के धूमिल पथ पर आगे बढ़ रही हैं...शिथिल और थकित गति से....। उसका मन भर आता है...वह अज्ञात विकलता का अनुभव करती है... उसे लगता है उसकी दृष्टि में न जाने कहाँ का शून्य समाया जा रहा है, जिसमें वह न जाने कहाँ के चित्र उभरते देखती है...।

एक बहुत छोटा सा बच्चा खेल रहा है,...अभी उसने गिर गिर कर चलना सीखा भर है...वह खड़ा होता है, प्रयत्न के साथ खड़ा भर हो

पाता है...पर खड़े होते ही उसका उल्लास, उसकी प्रसन्नता उद्वेलित कर देती है...और फिर वह हिल जाता है, हिल कर संतुलन बिगड़ जाने से गिर पड़ता है...अपनी इस विफलता पर वह खीझता है... कुछ ठुनठुनाता है और फिर खड़े होने के प्रयत्न में लग जाता है। माँ पास ही बैठा उसका फुलोवर बिन रही है...माँ बीच-बीच में कनखियों से उसे देख रही है...उनके मन के उवार का अनुभव उसने उस दिन नहीं किया था पर आज वही अनुभव इस चित्र के साथ प्रमुख हो गया है...उस दिन तो माँ उसकी बात का ध्यान नहीं दे रही हैं, इस कारण वह झुँझला रही है...वह जा कर टिनी को पकड़ना चाहती है, खड़ा हुआ टिनी भागने के लिए आगे बढ़ते ही गिर पड़ता है...चोट नहीं लगती, वह रोता है, और उठा कर चुपाने पर भी चुप नहीं होता—'नीरा,तू अच्छे खासे खेलते बच्चे को रुला कर ही मानती है। तेरी यह क्या आदत है ?' माँ ने आगे बढ़ कर उसे गोद उठा लिया, वह चुप हो जाता है। वह रुष्ट होता है, अम्मा तो टिनी को ही प्यार करती हैं, उसी की चिन्ता करती हैं...यह टिनी भी कैसा रोना है, ज़रा सी बात में टीं-टीं करने लगता है...ऐसा भी क्या लड़का ?...उसे आज उस ईर्ष्या का एहसास हो रहा है, माँ को सब को समान प्यार करना चाहिए...।

पर उस दिन का भाव आज जाग नहीं पा रहा है, आज तो उसके मन में टिनी ही एकरूप धारण कर रहा है...वह माँ की भावना को पकड़ते हुए उसको अपने निकट पा रही है...टिनी किलकारी मारता हुआ भाग रहा है, किसी चीज़ से ठोकर खा कर गिर जाता है और रोने लगता है...वह दौड़ कर उठा लेती है...टिनी उसके गले में हाथ डाल कर लिपट जाता है। उसे लग रहा है टिनी उसके हृदय में समाया जा रहा है...वह अपने आकर्षण से उसके मन को खींच रहा है...वह अपनी मुस्कान से उसके मन में न जाने कैसी उमड़न पैदा कर रहा है। टिनी दंतियाँ निकाल कर कुछ अस्पष्ट कह जाता है और माँ के स्थान पर आज नीरा के हृदय में न जाने कैसी संवेदना जाग जाती है...आज उसे लग

रहा है कि माँ क्यों टिनी के प्रति अधिक स्नेहशील थीं !...टिनी धीरे-धीरे अपने डग रखता हुआ...डगरमगर उसकी ओर ही बढ़ा आ रहा है, लगता है अब गिरा अब गिरा और वह अपने कमज़ोर पैरों पर आगे बढ़ रहा है...क्षितिज की बहुत दूर की सीमा रेखा से वह इसी प्रकार उसकी ओर चला आ रहा है...डगरमगर...हिलता हुआ, जैसे अब गिरा अब गिरा...उसके मुख पर उल्लास है, आह्लाद है, उमंग है...और इस भाव से मुस्कराता हुआ, दँतियाँ निकाले वह आ रहा है। युवती ने अपने हाथ पसार दिये हैं उसे गोद में भर लेने के लिए, उसे आलिंगन में कस लेने के लिए...और यह बिल्कुल नया अनुभव है, नई संवेदना है उसके लिए,...जैसे यह भी उसके उसी नये विकसित होने वाले अस्तित्व का ही एक अंश है...बहुत सूक्ष्म, बहुत हल्का...।...फिर...माँ टिनी का हाथ पकड़े जैसे उसकी ओर आ रही हों...उसे माँ और टिनी एक साथ आते जान पड़ते हैं...उसे लगता है टिनी माँ के साथ आते-आते विलीन हो गया हो, वह माँ के अस्तित्व में समा गया हो... टिनी माँ से अभिन्न है, वह उसी का रूप है। टिनी अब नहीं है, वह माँ में अन्तर्निहित हो गया है...वह माँ के अस्तित्व का ही अंश था...।

नीरा ने सामने से माँ को दातादीन के साथ आते देखा, माँ खाना ला रही हैं और दातादीन के हाथ में पानी तथा चिलमची है।...उसने देखा माँ आ रही हैं...केवल माँ आ रही हैं...जैसे वे क्षितिज पर बढ़ती गई थीं, उसी प्रकार वापस आ रही हैं...धीरे-धीरे ...बहुत धीरे-धीरे। उनके लिए चुपचाप सहने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं, उनको किसी प्रकार मुक्ति नहीं, तब भी नहीं जब टिनी, उनका प्यारा टिनी उनकी गोद छोड़कर एकाएक चला गया था...और आज भी नहीं, आज भी नहीं, जब उनकी सबसे बड़ी संतान...नीरा...। "आज तुम्हारी पसन्द की चटनी है, नीरा।" नीरा एक प्रकार से चौंक पड़ी उसने सामने प्रत्यक्ष माँ को देखा, वे अपने सारे आँधी तूफ़ान को सँभाले सदा की तरह खड़ी हैं...।

अलवर स्टेशन पीछे छूट चुका है...एक्सप्रेस ट्रेन अपनी गति से तैरती जा रही है...सटसटसटट सटट सट् खटखटखटट खट...ट्रेन दौड़ रही है...उसकी छाया युवक की खिड़की के ओर पड़ रही है। युवक उस ट्रेन की छाया को देख रहा है, वह देखता है कि छाया भी उसकी रफ़्तार के साथ सरकती चली आ रही है...छाया ट्रेन का अभिन्न अंग है...छाया होकर भी वह उसे छोड़ नहीं पाती, वह उसके साथ ही लगी चलती है, उसी के साथ रुकती है, उसी के साथ चलती है। और आदमी आदमी के लिए छाया जैसी ममता नहीं रखता... क्योंकि आदमी अभिन्न होकर भी छोड़ देता है, प्रेम करके भी प्रेम पात्र को भुला देता है...भुला देना ही उसके लिए जैसे अधिक स्वाभाविक है, अधिक सहज है। वह धीरे-धीरे किसी विचार की गहराइयों में डूब गया।

नीरा बहुत बीमार है...उसका कहना है कि उसका अन्तिम समय शायद निकट आ रहा है...कौन कह सकता है कि वह आ ही गया है! उसके मन में न जाने कैसी टीस उठती है और उसके अस्तित्व को घेरते हुए छा जाती है। नीरा नहीं रहेगी, पर वह देखेगा सब कुछ जैसे का तैसा चलता रहेगा, कहीं कुछ भी बदलेगा नहीं...नीरा कहीं किसी छाया का साथ नहीं ले सकी, उसके ममत्व को किसी का छाया जैसा आश्रय भी नहीं मिल सका। पर यह कैसी छाया है जो आदमी को घेरती है, जो मनुष्य के अस्तित्व का अंग बन कर उसके साथ सदा लगी रहने के लिए विकल रहती है...यह छाया...यह छाया क्या है? इसके बिना लगता है आदमी पूरा ही नहीं हो पाता।...और यह है कि उसके साथ-साथ ही लगी डोलती है...जीवन के प्रत्येक प्रकाश में वह उसका साथ नहीं छोड़ेगी...और...और जीवनी की गहरी होती सन्ध्या में,

जब जीवन का सारा प्रकाश सिमट कर गोधूली में डूबने लगता है... जब अन्धकार की घिरती हुई, फैलती हुई सीमाओं में प्रकाश की अन्तिम किरणें मिटती घुलती रहती हैं...तभी, केवल तभी इस विस्तृत फैलनेवाली छाया में वह अपनत्व की अकिंचन छाया विलीन हो जाती है...उसके पहले नहीं, उसके पहले वह व्यक्ति को नहीं छोड़ पाती, वह उसका अपना अभिन्न अंग, उसके व्यक्तित्व का अविच्छिन्न अंश बनी रहती है...।...पर नीरा...नीरा का वह अविच्छिन्न अंश क्या रहा है, उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंश क्या रहा है ? वह क्या रहा है जिसने उसके मन को जीवन का अर्थ दिया है, जिसने उसके अस्तित्व को बनाया है...वह छाया ही कहाँ, कौन रही है जिसने उसे घेरा है, जिसने उसका सदा पीछा किया हो...।

नीरा...हाँ नीरा को उसने बहुत निकट से देखा है...दोनों में काफ़ी घनिष्ठता रही है...मित्रता की सीमा में वे एक दूसरे के बहुत समीप पहुँचे हैं...पर उसके जीवन का, जीवन कहना शायद उतना ठीक नहीं है, उसके अस्तित्व का, उसकी चेतना के प्रवाह का कुछ ऐसा अंश भी रहा है जिसे उसने नहीं जाना। अपने एकान्त के क्षणों में, अपने सौहार्द के स्नेहमय आदान-प्रदान में उसने अपने को छिपाया नहीं... ऐसा कभी नहीं लगा कि वह अपने को अलग रख पाती है...उसने पूरी मित्रता का निर्वाह किया है...उसने कभी नियम का उल्लंघन नहीं किया, ऐसा ही तो लगा है।...पर आज उसे लग रहा है कि नीरा के जीवन को निःशेष रूप से पढ़ पाने का वह दावा नहीं कर पायेगा...वह स्पष्टतः कुछ भी नहीं जानता, पर उसे आभास हो रहा है कि नीरा के साथ की उस छाया को नहीं जान सका है...वह नहीं जानता कि किस आश्रय पर वह जी सकी है। सचमुच आज ही तो उसे यह लगा है कि आदमी बिना छाया के शायद जी नहीं सकेगा...पर उसे कभी क्यों नहीं इस बात का एहसास हुआ, उसने कभी क्यों नहीं सोचा कि नीरा के लिए भी कोई जीने का आधार चाहिए, उसका भी कोई आकर्षण हो सकता है

जिसे वह अपने जीवन की छाया मान सके, जिसे वह अपने अस्तित्व का, व्यक्तित्व का अंश...।

...उसने सदा युद्ध किया है, जीने के लिये, जीवन की आकांक्षा से नहीं जीवन की आसक्ति से नहीं, वरन् जीवन को सार्थक करने के लिये, मृत्यु को चुनौती देने के लिए...उसने यही सोचा है, उसने यही नीरा का सत्य माना है।। पर वह देख रहा है...मरण की छाया उसके साथ भागती, सरकती चली आ रही है...वह उसका अनिवार्य अंश है। और आज उसे न जाने क्यों यह लग रहा है...जब नीरा अपने मार्ग की अन्तिम मंज़िल पार कर रही है...जब वह अन्तिम बार साँसों का युद्ध लड़ रही है...और जब वह आख़ीरी बार मृत्यु को चुनौती दे रही है कि वह उसके सामने झुकेगी नहीं, पराजित होकर भी पराजय स्वीकार नहीं करेगी...उसे क्यों ऐसा लग रहा है...नीरा के किसी अंश से वह अब तक अपरिचित रहा है। उसे ऐसा लगने लगा है कि आदमी के लिए युद्ध और संघर्ष के लिए भी मात्र उसका आवेश पर्याप्त नहीं, केवल चुनौती देने का आवेग उसे जीने की वह शक्ति नहीं दे सकता जिसे वास्तव में जीने का अर्थ दिया जा सके...और यह उसे ऐसा नहीं लगा कि नीरा ने केवल साँसों के भार को ढोया हो, उसने जीवन को केवल ढोना मान लिया हो...यह उसके स्वभाव, संस्कार के बिलकुल विपरीत रहा है...वह सीधे चलेगी, तन कर चलेगी, अपने पैरों के तले की धरा पर जम कर खड़ी होगी...घसिटना, कढ़िलना उससे नहीं हो सकता, इसके पहले वह खण्ड-खण्ड होकर बिखर जायगी, टूट जायगी, कण-कण होकर धूल में मिल जायगी...उसकी मुद्रा से, उसकी भंगिमा से ऐसा ही लगा है, पराजय वह मान कर चलती ही नहीं...

...नीरा को ऐसा ही समझा है...फिर क्या है यह जो उसे भ्रमित कर रहा है...जो उसे अज्ञात रूप से आभासित हो रहा है...जो उसकी अनुभूति का क्षण बन रहा है। उसने नीरा के उस अंश को ही सब कुछ समझ लिया था, उसी को सम्पूर्ण नीरा मान लिया था...नीरा जो

बीमार थी, जो पीड़ा, कष्ट, वेदना का जीवन बिताती रही है... और नीरा जो दर्प, अभिमान, साहस के साथ सबको चुनौती दे सकी है...उसके सामने उसके चरित्र, उसके व्यक्तित्व के ये दो रूप प्रधान रहे हैं और वह इस नीरा से इतना अभिभूत रहा है, इतना व्यस्त रहा है कि उसे किसी अन्य नीरा की कल्पना ही नहीं हो सकी... वह नहीं जान सका कि नीरा कुछ और भी हो सकता है।...आज यह कैसा भाव मन में जन्म ले रहा है, यह कौन-सा नीरा के चरित्र का व्यक्तित्व का अनजान पक्ष, अंश मन में ऊपर उभर रहा है...पर वह उसे पकड़ पाने में, स्पष्ट समझ पाने में असमर्थ है...ज्यों-ज्यों वह समझ पाने का प्रयत्न करता है, वह और भी अधिक दुरूह, अधिक धूमिल होता जाता है...।

...बालक जा रहा है, आगे बढ़ता जा रहा है...सामने अज्ञात अपरिचित आसमान का झुकाव है...वह समझता है कि उसी को पकड़ पायेगा...वह आगे बढ़ता है, आगे चलता जाता है...और आसमान आगे खिसकता जाता है...उसका अज्ञात रूप उतना ही आकर्षक लगता है...लड़के का मन उसे पा जाने के लिए मचल रहा है...वह उस बिलकुल पास लगने वाले क्षितिज को छू पाने के लिए आगे बढ़ता जाता है...पर वह नहीं मिलता , नहीं मिल पाता है...।

युवक की दृष्टि पर दूर का क्षितिज है...उसने देखा हरे-भरे खेतों का छोटा सा खण्ड उसकी दृष्टिपथ से भागता चला जा रहा है पीछे की ओर। उसका एक छोर कहाँ प्रारम्भ हुआ था, उसे स्मरण नहीं, पर अब यह अन्तिम सिरा सरकता हुआ समाप्त हो रहा है...आगे दाहिनी ओर से झुकती हुई एक पहाड़ी घेरती आ रही है...सीमान्त की रेखा भी उसीसे रुक गई है...पीछे का सारा विस्तार इस श्रृंखला ने बाँध लिया हो जैसे और अब चारों ओर से यह पहाड़ी निकट आती हुई ट्रेन का रास्ता रोकने का उपक्रम कर रही है...ट्रेन उसकी बाधा की चिन्ता न करती हुई और भी तेज गति से मानों दौड़ रही है...

झकझक झकझक झकझकझक...करती हुई वह उसकी चुनौती को स्वीकार कर रही है...उसने मोमेन्टम गेन करने के लिए जैसे गति तेज कर दी हो। पहाड़ी शृङ्खला ने एकदम घेर लिया है और ट्रेन अब बाहरी शृङ्खलाओं को काटती हुई आगे बढ़ रही है...वह मोड़ लेती, घूमती हुई प्रमुख शृङ्खला का थोड़ा चक्कर लगा रही है,...जैसे वह पहाड़ी को पराजित करने के लिए कोई दाँव ढूँढ़ रही हो। उसने देखा...ट्रेन मोड़ लेकर थोड़ा चक्कर काट कर इस पहाड़ी श्रेणी में छिपी हुई घाटी में प्रवेश कर रही है...अब उसने देखा यह एक नहीं, दो पहाड़ियाँ पास आ गई हैं...दो श्रेणियाँ यहाँ पास आते-आते एकदम निकट पहुँच कर रुक गई हैं...और इसी द्वार से ट्रेन घाटी में प्रवेश कर रही है...दोनों ओर की श्रेणियाँ इस स्थल पर ढाल में झुकती हुई समतल हो कर मार्ग दे रही हैं।

...अन्दर घाटी का विस्तार फैला हुआ है...श्रेणियाँ एकाएक फैल गई हैं...फैलती गई हैं...और घाटी का विस्तार सुन्दर जंगल से घिरा है...पेड़ों की हरियाली गहरी हो कर धूमिल पड़ गई है और घाटी के बीच में एक नदी का सूना पेटा है...रेत की एक रेखा सी वृक्षों की सघनता के बीच में थोड़ी दूर पर साथ-साथ चली आ रही है...यह किसी बरसाती नदी का पेटा है। वह पेड़ों की सघनता के बीच से इस रेत की मोटी रेखा को देख रहा है...न जाने क्यों इस हरी-भरी घाटी में, तितलियों के नृत्य और चिड़ियों के कलरव को छोड़ कर उसका ध्यान उस सुनसान, जलहीन सरिता की ओर आकर्षित हो रहा है... वह ट्रेन के पास के ऊँचे वृक्षों की हिलती हुई डालों, और उन पर लिपटी हुई वल्लरियों की ओर ध्यान नहीं दे पाया, उनका निमंत्रण उस यात्री ने स्वीकार नहीं किया...घाटी का सारा आकर्षण, सारा सम्मोह उसके लिए जैसे निरर्थक हो गया है...केवल...केवल वह देख रहा उस नदी के पेटे को जिसमें जल के स्थान पर केवल रेत-शेष है और कगार के स्थान पर केवल बड़े-बड़े पाषाण खण्ड किनारे पड़े हैं। वह मौन है,

गम्भीर है...ट्रेन दौड़ती हुई घाटी पार कर रही है...उसने साहस करके घाटी में प्रवेश तो कर लिया है...पर अब ऐसा जान पड़ता है कि किसी आशंका से आक्रांत है।

ट्रेन मन ही मन भयभीत है...घाटी की शान्ति को उसने भंग करने का अपराध किया है ,और उसे भय है कि घाटी का देवता जाग जायगा और फिर उसके इस अपराध के लिए वह माफ़ नहीं कर सकेगा... वह क्रुद्ध होकर उसकी ओर अपना हाथ बढ़ायेगा और अपने उस बढ़े हुए हाथ से वह सारी ट्रेन को अपनी ओर खींच सकता है। ट्रेन लगता है इसी भय से बेतहासा भाग रही है...और उसे लग रहा है यह सूखी पहाड़ी नदी का पेटा इसी देवता की सूखी आत्मा है...वह अपनी आत्मा को सुखा चुका है, उसका सारा रस, उसकी सारी तरलता घाटी के दैत्य ने अपने जादू से खींच लिया है...और अब देवता बिना इस तरलता के, बिना इस जल के सूखी आत्मा के साथ सो रहा है...कितना कठोर हो गया है वह, कितना निर्मम जान पड़ता है...वह। इस ऊँचे शिखर पर रहनेवाले दैत्य ने घाटी के देवता की आत्मा का अपहरण किया है...देवता सो रहा है, आत्मा खोकर सो गया है... पर ऐसा नहीं कि देवता की आत्मा का कोई आभास ही नहीं मिल रहा हो...देवता की सजल आत्मा का, देवता की हरी-भरी आत्मा का आभास उसे घाटी में ही मिल रहा है। ट्रेन नहीं पहिचान पा रही है, पर उसे लग रहा है कि देवता की आत्मा अब भी है और इस घाटी में ही व्याप रही है...घाटी में अब भी हरियाली फैली है, अब भी वृक्षों पर, पत्तियों पर, डालियों पर, लताओं पर, पक्षियों के स्वरों में, तितलियों के पंखों पर घाटी के देवता की आत्मा सजीव है। पर सोनेवाला देवता स्वयं इस आत्मा के रूप से अपरिचित है...ट्रेन इस हरी घाटी के बीच से पास कर रही है...कुछ दूर साथ-साथ चल कर वह पहाड़ी नदी का पेटा घूम गया है और ट्रेन धड़धड़, धड़ड़ धड़, सटसट, धड़धड़ करती हुई उसको पार कर रही है...पार कर चुकी है और अब इस ओर उसे

वह नहीं दिखाई दे रहा है...हरियाली की सघनता में वह उस नाले को खोज रहा है...देवता की खोई हुई आत्मा को जैसे वह ढूँढ़ रहा हो... ढूँढ़ रहा हो...

नीरा ने विवाह नहीं किया...बाद में इसका प्रश्न उठा भी नहीं... उसकी लम्बी और निरन्तर चलनेवाली बीमारी...उसके सामने किसी ने कुछ सोचा नहीं, बड़ी बुआ का आग्रह, फूफा जी के प्रयत्नों का इसके आगे क्या अर्थ हो सकता था...वह बात जैसे उठते-उठते स्वाभाविक रूप से रुक गई...फिर किसी ने उसकी चर्चा कभी की नहीं। एक प्रकार से टाला है...इसलिए भी कि नीरा को यह अप्रिय लग सकता है...वह विवाह के विपक्ष में रही है...इस सत्य को सबने स्वीकार कर लिया और फिर, उस विषय को लेकर सब कुछ शान्त हो गया। इसके बाद चर्चा इस बात की कभी हुई है कि नीरा जीजी ने विवाह नहीं किया, उन्होंने उसे सदा अस्वीकार किया है...पर यह बात क्या उठती कि नीरा का अब क्या मत है? यह भी कोई बात हो सकती है?...बुआ के मन में एक कसक बनी रही है...नीरा ने विवाह नहीं किया, उसका विवाह वह नहीं कर सकीं...और फूफा जी के मन को जान सकना सदा कठिन रहा था...।...इसके बाद नीरा के क्लेश पीड़ा के जीवन में किसका ध्यान जाता उस ओर...फिर तो उसका संघर्ष का, द्वंद्व का, जीवन के लिए पग पग पर लड़ने का युग प्रारम्भ होता है...।

...पर...पर उसको यह लगता रहा था कि नीरा विवाह को अस्वीकार करके शायद प्रेम का पक्ष लेना चाहता है, वह विवाह के प्रचलित के विरुद्ध होकर विवाह के क्षेत्र में जाने-अनजाने प्रेम को स्वीकार करना चाहती है...उसने अपने तर्कों में इसका आश्रय लिया भी... सैद्धांतिक रूप से...पर उसने प्रेम के विषय में सम्बन्धों की घनिष्ठता से अधिक स्वीकार नहीं किया—'नरेश भइया, मैं समझ नहीं पाती यह प्रेम क्या हो सकता है, इससे भिन्न। पास, निकट रह कर हम आपस में

एक दूसरे के प्रति अधिकाधिक सहानुभूतिशील होते जाते हैं, समर्पणशील होते जाते हैं...क्या यह इतना ही नहीं है प्रेम, यदि इससे यह अधिक है, तो भइया मैं स्पष्ट कहूँगी कि मुझे इसका ज्ञान नहीं है...वह मेरी समझ के बाहर की बात है।' वह बिना किसी भावावेश के कह रही है और उस पर अविश्वास करने का साहस वह नहीं कर सकता।

बीमारी के बहुत समय बाद तक उसका मन इससे बहुत भिन्न नहीं रहा है...केवल चार वर्ष पहले उसने लिखा था...आरती के विषय में चिन्तित होकर उसने लिखा था, वह अत्यन्त उद्विग्न हो उठी थी उस प्रश्न को लेकर। राजेश का वह व्यवहार उसे असह्य लग रहा था...वह किसी प्रकार यह समझने के लिए तैयार नहीं थी कि राजेश और आरती...! उसके पत्र में उसके मन का यही भाव अनेक प्रकार व्यक्त हुआ था... यह क्या है? यह क्या सम्भव है? ऐसा कहीं हो सकता है। यह इन्हें क्या हो गया है, भइया! यह कैसी विचित्र बात है...यह प्रेम भी क्या है? जिसमें उचित अनुचित विचार ही छोड़ देना होगा...किसी अन्य की भावना का ध्यान नहीं रखना है। भइया आखिर यह क्या हो गया है राजेश को...मुझे लग रहा है, वह मेरे समझाने को बिल्कुल स्वीकार नहीं कर सका...उसके मन में मेरे प्रति न जाने कैसा विद्रोह उत्पन्न हो गया है कि वह मुझे शत्रु ही मानने लगा है। और तुम जानते हो... वह मुझे बहुत अधिक मानता आया है...उसने मुझसे बहुत अधिक स्नेह पाया है...यह आरती का प्रसङ्ग कब बीच में आ उपस्थित हो गया, इसका पता भी नहीं चला...फिर अब उसके सिवा राजेश को कुछ दिखाई ही नहीं देगा, उसके बिना वह किसी के प्रेम, स्नेह को कुछ मानेगा ही नहीं...यह भी कैसा प्रेम है जिसमें एक के प्रति आदमी इतना केन्द्रित हो जाता है कि दूसरा कोई उसकी परिधि में घिर ही नहीं सकता। तुम ही समझाओ भइया, वह शायद तुम्हारी बात अधिक समझ सके, किसी की बात मानने के मूड में वह कतई नहीं है...।

नीरा को इसमें इतना उद्विग्न होने की क्या बात है...वह बिल्कुल

नहीं समझना चाहती, ऐसा मानना चाहती कि यह ऐसा हो सकता है, और इसमें ऐसी कोई अनहोनी बात नहीं है। माना यह बहुत उचित भी नहीं है, आरती और राजेश दो परिवार में रह कर भाई-बहेन के समान पले हैं, उनके संस्कार इसी प्रकार के पड़ने चाहिये थे, पर इस प्रकार के संस्कार को वे नहीं ग्रहण कर सके तो फिर इसको अनहोनी अघटित मान लेने से ही क्या बनेगा। उनके मन का भाव क्या होना चाहिए था, वह एक अलग प्रश्न है, उस पर एक दूसरी दृष्टि से विचार किया जा सकता है...लेकिन जो है, जो स्थिति है, जो घटित है उसे कैसे अस्वीकार किया जा सकता है...जो है उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा, उसका न करना असत्य होगा, मिथ्या होगा।

और...'राजेश, तुमने अपनी बात खोल कर रखनी चाही है, यह बहुत साहस की बात है, उसके लिए मैं तुम्हारी तारीफ़ करूँगा। नीरा जीजी की बात भी तुमने लिखी है, तुमने उनके विषय में बहुत उतावली से सोचा है, तुम्हारा आरोप आक्रोश को ही प्रकट करता है। यह तुम नहीं कह सकते कि वे तुम्हारी बात को, तुम्हारे मन को समझने का प्रयत्न नहीं कर सकी हैं...यह तो फिर भी एक बात हुई...पर तुम्हारा यह आक्षेप उचित नहीं है, असंयम का सूचक है...नीरा की वास्तविक आपत्ति इस कारण है कि तुमको वह अयोग्य समझती है...क्यों नहीं तुम यह मानना चाहते कि वास्तव में नीरा जीजी तुम्हारी इस बात से व्यथित हो सकती हैं, यह हमारे संस्कारों के विपरीत है, यह हमारे लिए शायद रिवोल्टिंग बात हो सकती है। हम युगों से भाई-बहेन के सम्बन्ध को एक निश्चित परिप्रेक्ष्य में देखने के अभ्यस्त रहे हैं...भले ही वह सम्बन्ध रक्त का न हो, उसकी स्थापना हमारे लिए उतनी ही पवित्र, उतनी ही सार्थक रही है। फिर यदि हमारी बात जाने भी दी जाय, हमारे बड़े हैं, हमारे गुरुजन हैं उनके सामने यह बात किस रूप में आयेगी, क्या तुमने कभी सोचा है...क्या तुमको उनकी भावना का, उनकी इच्छाओं

की अवहेलना इस सीमा तक करनी चाहिए, या यह किसी प्रकार उचित माना जायगा...

'''तुम अब बड़े हो, इन सब बातों के व्यापक प्रभाव और परिणाम को तुम भी भली भाँति सोच-समझ सकते हो! पर मेरा कहना है कि यदि सब कुछ के बावजूद तुम को ऐसा लगे कि तुम्हारे अस्तित्व की पुकार है, तुम्हारे सारे अपनत्व की माँग है कि यही उचित है, तो...पर मैं अपना आशीर्वाद देने के पहले तुमसे बड़े होने के नाते कहना चाहूँगा... यह जो तुम इस समय एक विशेष मनःस्थिति में हो, इसको ठीक समझ पाना सरल नहीं है...विशेषकर जब इसको लेकर न जाने कितनी परम्पराएँ और गाथाएँ बन गई हैं, जुड़ गई हैं...।...लेकिन यह ऐसी बात भी है जिसका जीवन से, सारे जीवन से गहरा सम्बन्ध है...इसको लेकर आगे आनेवाले जीवन का सारा भविष्य है, अतएव यही वह क्षण है जब व्यक्ति को पूरी तरह सोच-समझ लेना चाहिए। विचित्र परिस्थिति है, विचित्र बात है...जब व्यक्ति को सबसे अधिक सतर्क होना चाहिए, जिस विषय में उसे सबसे अधिक विचारशील होना चाहिए...तब वह ऐसे भावावेश में होता है कि उसकी सारी तर्क-शक्ति, सारी विचारशीलता नष्ट हो जाती है...वह ऐसे कल्पना लोक में विचरता है, उसके स्वप्न देखता है, उसी में जीता है कि...। हाँ मैं लिख रहा था...यह ऐसा नहीं कि इसमें धोखा नहीं हो सकता, इसमें भ्रम नहीं हो सकता...और मेरा कहना है कि तुम आवेश और भावुकता को छोड़ कर इस सारे प्रश्न पर विचार कर लो, फिर जो समझना उचित है उसे निर्भीक होकर करना... तब मेरा आशीर्वाद होगा कि तुम्हारा मार्ग मंगलमय हो, तुम्हारे लिए यह पथ शुभ हो...।'

युवक के सामने फैली हुई घाटी है...अब घाटी का विस्तार बहुत अधिक हो गया है...दोनों श्रेणियाँ दूर चली गई हैं, दो हरी सीमाएँ घाटी के चारों ओर घेरती हुई फैल गई हैं...और इसी घेरे में

ट्रेन भाग रही है, लगता है वह इन सीमाओं का अतिक्रमण करने के लिए व्याकुल होकर भाग रही है। वह अपनी खिड़की पर तिरछा बैठा है, उसके सामने बाईं ओर दूसरी खिड़की का शीशा एक कोण पर आ गया है, और वह घाटी के दो भागों को जोड़ कर एक साथ देख रहा है...सामने जंगल की हरियाली की विस्तृत तरंगों के ऊपर सरकती हुई दृष्टि सीमान्त पर समानान्तर चलनेवाली पहाड़ी श्रेणी पर चढ़ती है। पहाड़ी पर घने वृक्ष हैं, पर चढ़ती दृष्टि को बड़े-बड़े पाषाण खण्ड भी पार करके ही चढ़ना पड़ रहा है...बीच-बीच में पाषाण की बहुत बड़ी चट्टानें आ जाती हैं जिन्हें पार करने में कुछ प्रयत्न करना पड़ रहा हो जैसे। पर अन्ततः दृष्टि आगे आनेवाली एक ऊँची चोटी पर जाकर रुकती है, और दूसरी ओर पहाड़ी श्रृङ्खला का एक भाग दिखाई दे रहा है जो बहुत धीरे-धीरे ऊपर उठ रहा है...पर सारा दृश्य धूमिल है। युवक के ध्यान केन्द्र में दोनों श्रेणियाँ चलते-चलते मिल गई हैं, और उनकी हरियाली मिलजुल कर एक हो जाती है...उसमें से केवल चट्टान की एक श्रृङ्खला उभरती है जो आगे बढ़ती-बढ़ती उस शिखर में जैसे समाप्त हो गई हो...

जीवन में...जीवन में, उसकी श्रृङ्खला में...उसकी श्रेणी के चढ़ाव में एक शिखर होता है, पर्वत में श्रृङ्खला क्यों अनिवार्य है? और प्रत्येक श्रृङ्खला में एक चोटी का होना अनिवार्य हो जाता है? यह शिखर! इस शिखर के बिना क्यों नहीं चलता है? यह क्या है जीवन में जो इतना अलग, इतना प्रमुख और फिर भी इतना अपना लगता है...जिसके बिना लगता है जीवन सार्थक ही नहीं हो पाया, उसका अपना विकास ही पूरा नहीं हो पाया! अपने अस्तित्व का इतना अभिन्न अंग, इतना अविच्छिन्न अंश इस प्रकार न जाने कैसे भूला-भूला रहता है, हम अपने ही किसी पक्ष से जैसे न जाने कब तक अपरिचित रहते हैं। और जब वह एकाएक हमारे सामने आ जाता है और प्रस्तुत होकर अपने को परिचित कराता है, तब हम आश्चर्य से देखते रह जाते हैं...अरे, यह भी...यह भी है जो

मेरा अपना ही है, बिल्कुल अपना है...और आज तक हम जान ही नहीं सके, हम यह भी हैं !

...ऐसा ही होता है, यह ऐसा ही लगता है...पहाड़ पर चढ़नेवाले यात्री के लिए केवल सामने की ऊँचाई ही सत्य है।' वह पहाड़ पर चढ़ता है, चढ़ता जाता है...सामने पहाड़ की ऊँची श्रृङ्खला है और वह उसी पर चढ़ता जाता है, उसे चारों ओर की प्रकृति आकर्षित करती है, रोकती है, पर वह आगे ही बढ़ता जाता है, उसे आगे ही बढ़ना है, उसे ऊपर ही चढ़ना है। उसे पर्वत के ऊपर जो चढ़ना है, वह नहीं रुकेगा, उसे कोई रोक सकेगा भी नहीं...वह अपराजेय यात्री है, उसका साहस दुर्दमनीय है...वह ऊपर पहुँच कर ही मानेगा।...वह ऊपर चढ़ता जा रहा है, चीड़, देवदार, बलूत, बाँस, न जाने कौन-कौन उसको अपना निमंत्रण देते हैं, रुकने का आग्रह प्रकट करते हैं...पर यात्री के मन में एक ही धुन है, एक ही आकांक्षा है...वह पहाड़ पर चढ़ने का संकल्प लेकर चला था और उसी के सहारे आगे बढ़ भी रहा है। वह नीचे की ओर देखता है, नीचे उसकी ही अपनी धरा है...उसके अपने ममत्व की, अपने समस्त सम्बन्धों की धरा है जिससे उसने संस्कार ग्रहण किया है, जिससे उसने सारे अपने अस्तित्व के पोशक तत्व ग्रहण किये हैं !... पर धरा का आकर्षण भी उसको रोकने में, आगे बढ़ने से मना करने में असफल सिद्ध हुआ, नहीं रोक सका वह...और यात्री असम्पृक्त भाव से आगे बढ़ता रहा, ऊपर चढ़ता रहा !

लेकिन यह क्या है ? इस मोड़ से यह क्या गोचर हो गया है, दिखाई देने लगा है...श्वेत, एकदम सफ़ेद, रुई के पहलों जैसी ऊपर उठती हुई चोटी, यह क्या है ? यात्री का मन उस ओर बरबस खिंच जाता है। क्या है यह...धुएँ सा चारों ओर फैल रहा है...एक ओर, एक दिशा में...नीचे की ओर न जाने कितनी धुँधली-धुँधली श्रेणियों के बीच... उनकी फैली हुई श्रृङ्खलाओं के छोर पर...छाते हुए धुएँ के बीच से उठता हुआ सा...यह क्या है...श्वेत सफ़ेद शिखर सा ! यात्री मंत्रमुग्ध सा

देखता रह जाता है, वह एकाएक भूल गया है कि उसे पहाड़ पर चढ़ना है, उसे ऊपर पहुँचना ही है। उसे उस क्षण यह भी विस्मृत हो गया है कि नीचे उसकी अपनी धरा है...वह केवल एकटक देख रहा है उसी श्वेत शिखर को, उसी धुएँ के बीच से उठनेवाले भव्य शिखर को और अन्यत्र अब उसका मन जाता ही नहीं। वह सब कुछ भूल गया है, अब उसके लिए किसी का अस्तित्व शेष नहीं रहा...उसके तन, मन, प्राण में केवल वही रम गया है, और अब वह विस्मित विमुग्ध उसी की ओर चल पड़ा है। उसे दिशा का ज्ञान नहीं, उसे मार्ग का अनुमान नहीं, पर उसे ही वह खोजेगा, उसे ही पायेगा...अब उसके लिए और कोई उपाय ही नहीं है!

आदमी के जीवन में यह क्या है जो एकाएक इस प्रकार आ जाता है, और फिर इतना अनिवार्य हो उठता है, इतना अपरिहार्य हो जाता है!...क्या यह भ्रम ही तो नहीं है जो उसको दिग्भ्रमित करने के लिए ही उसके सामने एकाएक आ जाता है...यह बर्फ से आच्छादित शिखर मात्र विडम्बना तो नहीं है जो आदमी को केवल भटकाने के लिए ही जीवन के किसी आकस्मिक मोड़ पर दिखाई पड़ जाता है...। और फिर व्यक्ति, बेचारा वह...!...राजेश...उसका पत्र आया था...कितने भावावेश का वह पत्र था...कई पत्रों के बाद उसी सम्बन्ध का यह पत्र था, निराशा, ग्लानि, व्यथा से भरा वह पत्र था...पत्र...उन दिनों नीरा के भी पत्र पर पत्र इसी सम्बन्ध में आते हैं। वह समझ नहीं पा रहा है इस सम्बन्ध में कर्त्तव्य क्या है, उसे करना क्या चाहिए एक ओर नीरा... आरती और राजेश के सम्बन्ध को लेकर आक्रोश में है, वह यह सब सहन नहीं कर पा रही है, उसे इसमें केवल अनैतिकता और कायरता दिखलाई पड़ती है...'यह क्या ऐसा है जिसके लिए परिवार के सभी सम्बन्धों को एकदम ठुकराना होगा, स्नेह के सभी बन्धनों को अपमानित और लज्जित करना होगा...थोड़े संयम के अभाव में, किंचित व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए दो परिवारों के सम्मिलित सुख-संतोष को मिटा देना है

होगा,...वह नहीं मान सकेगी, वह नहीं स्वीकार कर सकेगी। राजेश को समझना चाहिए, उसको अपना यह हठ छोड़ना चाहिए...राजेश को ऐसा कभी नहीं समझती थी...उसने उसे सदा अनन्त ममता ही दी है। पापा का कहना रहा कि मैंने उसे बिगाड़ा है...अँकिल से तो मैंने अनेक बार राजे को लेकर बहस की है...वह स्नेहशील है, उसमें परिवार के प्रति अन्य सभी से अधिक ममत्व है...। वह सचमुच ऐसा ही है, पर यह उसे क्या हुआ है...क्या भइया तुम नहीं मानते...यह पिक्चर्स और नावेल्स कच्चे दिमागों पर बुरा असर डालते हैं, मुझे तो ऐसा लगने लगा है, नहीं तो राजे...।'

राजे ने लिखा है—'भइया, व्यक्ति क्यों इतना स्वार्थी हो जाता है, जब उसका अपना सवाल उठता है,...यही नीरा जीजी थीं, जो मुझे श्याम दादा से अधिक मानने का दम भरती रही हैं, पर आज जब बहन का प्रश्न उठा है तो वे मेरे सबसे अधिक विरुद्ध हो गई हैं। भइया, तुम नहीं मानते, मैं कैसे समझाऊँ तुम्हें, लेकिन मेरी बात सही है और किसी दिन तुमको भी विश्वास दिला सकूँगी।...भइया, तुम्हारा मुझे भरोसा है, तुम मुझको गलत नहीं समझोगे...। मैं मानता हूँ, नरेश भइया, यह बहुत अच्छा नहीं हुआ, मैं यह भी मानता हूँ कि मेरे इस व्यवहार से बाबूजी तथा ताऊजी को अतिशय कष्ट होगा, शायद वे मुझे माफ़ न भी करें...और माँ तथा ताई जी दोनों में से कोई मेरा मुँह देखना भी पसन्द न करें!...पर मैं क्या करूँ भइया, मेरे लिए यह सब सोचने समझने का कोई उपाय ही नहीं रहा है...मैंने तुम्हें सब कुछ लिखा है, कुछ भी नहीं छिपाया है। आज की बात नहीं है, हमने वर्षों से एक साथ अनेक कल्पनाएँ की हैं...हमने एक दूसरे के प्रति पूर्ण समर्पण किया है...क्या हमारा यह समर्पण केवल प्रवंचना सिद्ध हो जायगा...। भइया, इसके बाद मेरे लिए कोई क्या उपाय रह जाता है...यह क्यों हुआ इसकी विवेचना करना व्यर्थ है...आज हमारे सामने यह सत्य है, इसी को हमें फ़ेस करना है। मुझे तो नहीं लगता कि इसके बाद कोई

अन्य उपाय रहा है...और तुम कहते हो वह कायरता होगी। जीजी जिन पर मुझे विश्वास था हमारे बिल्कुल प्रतिकूल हो गई हैं, वे हमारा मुख भी नहीं देखना चाहतीं...तुम्हीं बताओ भइया मैं क्या करूँ? मैं न जाने कैसी निराशा से घिरता जा रहा हूँ, न जाने कैसे काले विचार मुझे दबाये आ रहे हैं...बताओ, भइया, तुम क्या कहते हो। यह लज्जा, अपमान, घृणा का जीवन कैसे बिता सकूँगा...मेरे भइया, केवल तुम्हीं प्रकाश की एक किरण मेरे लिए रह गये हो...राजेश!'

राजेश को किस प्रकार समझाया जा सकता था, उसके मन में जो आवेग चल रहा था, उसमें उसको सँभालना ही महत्त्वपूर्ण है...उसको समर्थन देने से बनेगा नहीं, उसके पक्ष में खड़े होने से उसका लाभ नहीं हो सकेगा। यह उसके लिए उचित नहीं है, जब आरती की ओर से कोई आग्रह नहीं है, नीरा ने यही लिखा है, आरती के मन का यह भाव नहीं है, वह इस बात से स्वयं लज्जित है।...और राजेश का कहना है कि वह स्वीकार करना चाहती नहीं, इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सम्बन्ध को अस्वीकार करती है...वह मात्र संकोच के कारण यदि स्वीकार नहीं करती, तो इसमें सारी बात को केवल उसके मन का भ्रम कैसे कह कर टाला जा सकता है।...नीरा का कहना है कि वह राजेश के सामने आरती से पूछ लेना चाहती है। पहले संकोचवश राजे ने नहीं स्वीकार किया था, पर इस बार निराशा के आवेश में उसने स्वयं लिखा है कि वह नीरा जीजी के सामने आरती से साफ़ बात करना चाहेगा...देखें वह किस प्रकार अस्वीकार करती है, वह नहीं कर सकती, नहीं कर सकती। उसकी समझ में नहीं आ रहा है कि वह किस प्रकार इस समस्या का हल निकाले!

अन्ततः वह नीरा को लिखता है—'नीरा, मैं सीधे ढंग से सारी बात को देखता हूँ। मैं तुम्हारी अनेक बातों से सहमत होकर भी यह मानने के लिए तैयार नहीं हूँ कि यह किसी प्रकार सम्भव हो ही नहीं सकता। यदि दोनों ने अपनी ओर से कोई सम्बन्ध मान ही लिया है, यदि उनका दृढ़ आग्रह है, यदि उन्होंने अपने मन का समर्पण एक दूसरे को दिया है

तो...तो फिर नहीं समझता क्यों इस सत्य को स्वीकार न किया जाय। इस सत्य को वीरता के साथ क्यों न स्वीकार कर लिया जाय, क्यों असत्य से उसको छिपाने का प्रयत्न किया जाय। मैं नहीं समझता कि इस असत्य से किसी भी लाभ हो सकता है?...मैं तो सत्य को, ईमानदारी को बड़ी बात मानता हूँ...जो इनके अन्दर विकसित हुआ है, यदि वह गलत है, उनके हित का भी नहीं है, फिर भी वह सत्य है और मैं मानता हूँ, इसी लिए वह बड़ा है, मेरे लिए महान्।...नीरा देखो, यहाँ अपने मोह को, अपनी लज्जा को, अपने संस्कारों से ऊपर उठ कर हमें सोचना चाहिए...यह प्रश्न दो ज़िन्दगियों का है, उनके बनने और नष्ट होने का है...ध्यान देना है कि कहीं हम केवल अपने ही दृष्टिकोण से सारे प्रश्नों का उत्तर नहीं खोज रहे हैं...ऐसा अन्याय हमसे कहीं न हो जाय, इसके लिए हमको सतर्क रहना है।...लेकिन...लेकिन...यह भी हमको सोचना चाहिए कि यदि यह केवल इनका क्षणिक मोह है, इसमें कोई गहराई नहीं है, कोई आन्तरिक सत्य नहीं है, केवल कैशोर्य का आकर्षण है, मोह है, तब हमको भरसक समझाना चाहिए...यह गलत होगा...बाद में उनके लिए पछताने की बात हो सकती है...।'

और राजेश...उसे तब लग रहा था कि आरती के परिवार के लोग किसी प्रकार भी इस बात से सहमत नहीं हो सकेंगे...नीरा के लिए ही जब यह सह्य नहीं है तो परिवार के अन्य लोगों की बात क्या कही जा सकती है।...राजेश की बात पर अविश्वास कर सकना भी उसके लिए कठिन है और वह यह भी समझ रहा है कि नीरा के मन में इस सम्बन्ध के प्रति इतनी वितृष्णा है कि वह सारी चीज़ों को पूर्वाग्रह के बिना नहीं देख पाती है...। पर वह क्या करे, उसके लिए उस समय सबसे कठिन यही है कि वह किस प्रकार राजेश को समझा सके, किस प्रकार उसे इस तीखे भावावेग से मुक्त कर सके। उसके सामने एक यही समस्या प्रमुख हो गई है...।

''''राजेश, तुम कैसे हो रहे हो। आदमी को इतनी जल्दी हार मान

लेना शोभा नहीं देता।...ऐसा कैसे मान लेते हो कि तुम्हारी बात पर विश्वास करने के लिए तुमको यह सब इस प्रकार सिद्ध करना पड़ेगा। मैं तुम्हारी बात मानता हूँ...मैं समझ रहा हूँ। पर भइया एक बात है, तुमको इस प्रकार निराश देखना मुझे अच्छा नहीं लगता। मनुष्य का जीवन किसी बड़े उद्देश्य की ओर संकेत करता है, वह किसी एक सीमा में बन्दी होकर समाप्त हो सकता है, ऐसा नहीं माना जा सकता है। आरती, माना आरती तुम्हारे जीवन का एक प्रेरणा है, वह तुम्हारा अंश है, ऐसा भी मान लेता हूँ। पर यदि किसी कारण...किसी कारण उसके सम्बन्ध में तुमको निराश होना पड़ता है, तो फिर कुछ और शेष रह ही नहीं जायगा, यह मैं नहीं मान सकता!...यदि केवल भावावेश है तो मैं समझता हूँ भइया, यह उचित नहीं होगा...किशोरावस्था की अनेक ऐसी कल्पनाएँ होती हैं जिनको पूरा करना सम्भव नहीं होता और वे पूरी हो भी जायँ तो वे आगे सुखद नहीं होतीं।...और यदि तुम्हारा प्रेम विचारपूर्वक निश्चय है तो भी इस विषय में निराश होने की बात नहीं हो सकती। जो अपना स्नेहपात्र है, उसके लिए व्यक्ति सब कुछ कर सकता है, वास्तविक प्रेम वह है जो उत्सर्ग के लिए सदा प्रस्तुत रह सके...और आरती पर तुम्हारा अधिकार नहीं रहता तो भी प्रेम में क्या अन्तर पड़ सकता है, प्रेम तो ऐसी वस्तु नहीं कि अधिकार की माँग करे, उसके लिए तो त्याग उत्सर्ग ही श्रेयस्कर मार्ग है...'

इस प्रकार उस दिन राजेश को बचा लेने के लिए उसने न जाने क्या-क्या लिखा, वह सब उसे आज याद नहीं आ रहा है, पर इतना निश्चित है कि उसने न जाने कितनी पुस्तकों की ऐसी बातों को भावुकतापूर्वक लिख डाला था जिन पर उसे शायद कभी विश्वास नहीं रहा। पर उसे राजेश की रक्षा करनी है, उसे ज्ञात है कि वह उस भावावेश में आकण्ठ मग्न है जिससे उसका त्राण करना इतना सरल नहीं है...केवल साधारण समझाने-बुझाने से उस पर क्या असर हो सकता है...इस मनःस्थिति में प्रेम के सैद्धान्तिक आदर्श का सहारा मात्र लिया

जा सकता है...और वह ले रहा है...।

युवक खिड़की पर बैठा देख रहा है, सामने की पहाड़ी श्रेणी निकट आ रही है। नीची होती जा रही है...तिरछे कोण पर उसने देखा उस ओर की पहाड़ी समतल होती जा रही है...घाटी सकरी हो रही है... वृक्ष कम सघन हो रहे हैं...पत्थर के ढोंके चारों ओर बिखरे हुए हैं...। युवक की दृष्टि पथ पर जैसे पुनः वह सब घाटी का दृश्य उभर आया हो।...घाटी ज्यों-ज्यों सकरी होती जाती है, पहाड़ी श्रेणियाँ ज्यों-ज्यों झुकती जाती हैं, पास आती जा रही हैं, त्यों-त्यों ट्रेन अधिकाधिक तेज होती जा रही है, घड़घड़घड़घड़घड़, घटघटघट करती हुई एक्सप्रेस दौड़ती है, जैसे लग रहा है यह इस घाटी से निकलने के लिए व्याकुल हो गई है, वह उसे निकट पाकर और भी उत्साहित हो गई है।...वह देख रहा है, पर उसके मन पर न जाने कौन से दृश्य हैं जो उसे छोड़ नहीं पाते हैं, वे उसके इतने अपने रहे हैं कि आज सामने के दृश्य से वे अधिक साक्षात् जान पड़ते हैं...दोनों पहाड़ियाँ, निकट आते-आते रुक गई हैं और उसी द्वार से ट्रेन घाटी को पास कर जाती है...घाटी समाप्त होगई है, घाटी का सारा हरा-भरा सौन्दर्य, आकर्षण विलीन हो गया...।

...पहाड़ी के जादूगर दैत्य ने अपने सारे सम्मोहक माया जाल को अपने हाथ के पंजों के तनाव के साथ खींच लिया हो जैसे।...परन्तु युवक के मन में घाटी का स्वप्न अब भी अटका हुआ है...घाटी में गुज़रते हुए उसके मन में न जाने कितने विचार उठते रहे हैं, परन्तु अब घाटी के बाद जाने के बाद उसके मन पर घाटी की छाया ही मड़रा रही है। घाटी का देवता...उसकी सोई हुई आत्मा...सारी घाटी में, उसके सौंदर्य में, उसके आकर्षण में मड़राती, चक्कर काटती उसकी व्यथित आत्मा...यही उसके मन पर भी जैसे मड़रा रही है, छायी हुई है।...ट्रेन अब बलुही मिट्टीवाले मैदान में दौड़ रही है...बीच-बीच में खेत आ जाते हैं और फिर सूखे पड़े मैदान चक्कर काटते हुए भागने

लगते हैं...पर युवक के मन में घाटी और उसका सोई हुई आत्मा का देवता...उसकी आत्मा का अपहरण करनेवाला दैत्य.

...आरती, आरती ने ऐसा क्यों किया होगा...अस्वीकार करने में उसका क्या भाव हो सकता था...संकोच, लज्जा, स्नेह की रक्षा, क्या हो सकता है ? नीरा के सामने, उसके सामने आरती का संकोच...इस विषय में।...पर यह जीवन का साधारण प्रश्न नहीं था...नीरा के उग्र भाव से आतंकित...राजेश ने उसको लांछित और अपमानित करते हुए तो यही माना था—'प्रवंचक स्त्री जाति...आरती अपनी जाति से भिन्न नहीं निकली...इसके आगे मेरा कोई आग्रह नहीं रह जाता। अच्छा, मैंने मान लिया है...वह सब मेरे मन की प्रवंचना ही रही है। मैं नीरा जीजी को अब कुछ नहीं कहता...यह ठीक है कि मैं उन्हें माफ़ नहीं कर सकता, इसलिए नहीं कि उन्होंने बाधा पहुँचाई है, इसलिए नहीं कि उन्होंने आरती को विवश किया है...वरन् इसलिए कि उन्होंने साधारण ढंग से, व्यावहारिक ढंग से हमारे सम्बन्धों को केवल इसलिए अस्वीकार किया है कि मैं उनकी दृष्टि में अपढ़ और आर्थिक दृष्टि से मेरा भविष्य उज्वल नहीं जान पड़ता।...भइया मुझे अपमानजनक बात यही लगी है, जीजी का क्रोध, आक्रोश मैं सब समझ सकता था, पर उनकी यह व्यावहारिक दृष्टि मेरे लिए सबसे अधिक कलेशकर रही है !...ख़ैर, अब सब समाप्त है, मुझे उनसे अब क्या शिकायत हो सकती है, उनकी विजय और मेरी पराजय हो गई है...।...आरती, मैंने उसे कभी क्यों नहीं समझा कि वह अन्य सभी नारियों से भिन्न नहीं है, उसकी कायरता कोई नई बात नहीं है !...पर भइया, मैंने नारी का वह परिचय उसीसे पाया था और अब यह परिचय जो उसका शाश्वत तथा युग युग से चला आनेवाला परिचय है, मुझे उसीसे मिला है...।'

राजेश ने क्रोध के आवेश में अपना संतुलन खो दिया है, उस दिन उसे ऐसा ही लगा था...पर आज वह गहराई से न जाने क्यों इस

प्रश्न पर विचार कर लेना चाहता है...क्या है जो इतने दिनों बाद उसके मन को घेर रहा है...मीरा ने क्यों ऐसा किया, उसने क्या सच-मुच आरती का सम्बन्ध इस कारण नहीं पसन्द किया था...नहीं... ऐसा कैसे हो सकता।...उसे लग रहा है, मीरा ने प्रेम को कभी समझा ही नहीं, वह समझ सकी ही नहीं कि यह ऐसा भी हो सकता है... ऐसा भी जीवन में अनिवार्य, इनएवीटेबिल जैसा आ सकता है...और वह ऐसा आ जाता है कि उसके सामने सारे तर्क, सारे विचार, चाहे एक सीमित समय के लिए ही क्यों न हो, ठहर नहीं पाते, एक नहीं पाते। उसने केवल जीवन की सीधी रेखा को जाना है, पहचाना है... उसकी वेदना में शरीर इतना प्रधान रहा है, उसके क्लेश में शारीरिक पीड़ा ही प्रधान रही है...उसने जीवन के सुख-दुःख को नहीं जाना पहचाना। शायद उसे मन की पीड़ा का आभास इन पीड़ाओं के सामने नहीं हो सका...उसकी सारी संवेदनाएँ इन्हीं कष्टों, इन्हीं व्यथाओं के नीचे सोती रही हैं...उन्हें समझ पाने, जान पाने का उसे मौका ही नहीं मिला...।

...किसी पहाड़ी दैत्य ने घाटी के देवता की आत्मा को सुला दिया है...आत्मा घाटी में साखू, शाल, आम, जामुन के वृक्षों पर, अपने सुन्दर रंग बिरंगे पंखों पर नाचती हुई तितलियों में, कलरव करते हुये पक्षियों के गानों में मड़रा रही है...मड़रा रही है!...पर घाटी के देवता की आत्मा को पहाड़ी के दैत्य ने अपने जादू से सुला दिया है।

...मीरा मान कर नहीं चल सकी कि प्रेम भी जीवन में बाढ़ की, सैलाब की तरह एकाएक आ जाता है...अनायास ही, अप्रत्याशित ही... और एक बार आ जाता है...तब फिर उसके आवेग में सब कुछ डूबता जाता है, निमग्न होता जाता है...कोई रोक, कोई बाँध काम नहीं आती, सब बेकाम बेकार...उसके फैलते हुए विस्तार में, उसके सर्वग्रासी प्रसार

में सब कुछ एक समय के लिए डूब जाता है...युवक की कल्पना में घाटी की नदी का सूखा पेटा आ जाता है।

...धीरे-धीरे उसमें पानी का स्रोत्र अविर्भूत होता है...न जाने कितने पहाड़ी सोते फूट निकलते हैं...चारों ओर से उनका जल उमड़ता आ रहा है, और नदी का प्रवाह बढ़ता जा रहा है...उसका छोटा सा पेटा उसकी उमंग को सँभालने में असमर्थ है...उसमें सैलाब का पानी नहीं समा रहा है...पानी फैलता जा रहा है और अपने आवेग में सारी घाटी को भरता जा रहा है, डुबोता जा रहा है। सारी घाटी उससे आन्दोलित और निनादित हो गई है...घाटी का जीवन जैसे अधिक वेग, अधिक संपन्दन के साथ मुखरित हो गया है...दैत्य के चंगुल से, उसके जादू से देवता की आत्मा मुक्त हो गई है और अब सब कुछ बदल गया है...।

मीरा के जीवन में न कोई सैलाब, न कोई बाढ़...वह बीमार रही है...उसके जीवन में 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' का स्वर निनादित ही हुआ था कि सूखा पड़ गया, निरन्तर बीमारी का अकाल पड़ गया... वर्षा मेह का समय आया ही नहीं, उसकी जीवन की सरिता कभी भरी ही नहीं, बह चलने का सवाल ही कहाँ? सैलाब आने की बात ही कहाँ उठती है?...फिर उसका दोष क्या...।

ट्रेन अब किसी गाँव को पार कर रही है...वह अनजान ही देख लेता है...छोटे-छोटे रेत के मकानों का छोटा सा गाँव...रेत की दीवालों पर फूस के छप्पर...निर्धन बहुत ग़रीब गाँव। राजस्थान में ऐसे ही गाँव हैं या फिर पक्के कई मंजिला मकानों के कस्बे...जिनमें सेठों की कई-कई धर्मशालाएँ।...और गाँवों के कच्चे रेत के मकान...रेत के घर...यह कैसी बात है...रेत के भी कहीं घर होते हैं...रेत पर भी कहीं दीवार उठती होगी! रेत...रेत के घर...रेत की दीवार कैसा अद्भुत है...पर आदमी रेत के, बालू के मकान ही नहीं, महल बनाना

चाहता है...मनुष्य कैसा विचित्र है ! उसे अनायास याद आ रहा है, उसकी स्मृति में कोई चुपचाप प्रवेश कर गया है और वह अब उसी के बहने लगा, उसे अपने पर नियंत्रण रखना कठिन लग रहा है...वह सोचना चाहता है...नीरा की सोई हुई आत्मा, भावना की बात, पर उसे याद आ रहा है...एक दूसरा चरित्र...एक दूसरा व्यक्ति... जिसने...जिसने...।

चाँदनी...शांता चाँदनी.. एक नई मिसरानी रक्खी गई है, बुआ ने उसे रक्खा है...उसपर उनकी विशेष कृपा है, वह उनकी विशेष स्नेह की पात्री है।...उसके साथ कई कहानियाँ भी आई हैं...वह युवती है, विधवा है, समाज द्वारा जिस पर हर प्रकार से नियंत्रण है।...शांता वैसे विपन्न नहीं है, उसे एक आश्रय चाहिये और बुआ के समीप रह कर उसको वह आश्रय मिल सकेगा, साथ ही फूफा जी के सामाजिक विशिष्ट स्थान के कारण उसे ऐसे वैरी लोगों से भय भी कम हो जायगा।...वह कितनी सुशील है, कितनी स्नेहशील है...बुआ, बड़ी बुआ और हम सब उसके स्वभाव से मुग्ध हैं...फूफा जी को अवश्य यह सब उसके प्रति परिवार जैसा व्यवहार कभी अच्छा नहीं लगा !... और चाँदनी परिवार के साथ हिलती-मिलती जा रही है...उसने देखा... वह अधिक प्रसन्न रहने लगी है, वह अधिक उल्लसित रहती है। उसके मन की उदासी, क्लान्ति धीरे-धीरे न जाने कहाँ विलीन हो गई है।

वह युवती है, सुन्दर है, उसे इसका अनुमान आज ही हो रहा हो जैसे...उन दिनों तो केवल वह उसकी दया की पात्री थी, उसके ऊपर वह थोड़ी कृपा कर लेता है, वैसे ही जैसे घर के अन्य सब लोग...।... उसे इस बात की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं था कि शांता युवती है, वह सुन्दरी भी है...उसे आज लग रहा है...शान्ता की आँखों की मादकता में कोई आकर्षण है, कोई निमंत्रण है जो किसी के लिए

फैला रहता है...और उसी आकर्षण से घिरी हुई वह खड़ी है उसके सामने।...कभी उसे बुआ ने नाश्ता लेकर भेजा है, कभी दूध लेकर भेजा है, कभी नौकर नहीं है, इसलिए उसे पानी लेकर आना पड़ा है... और वह खड़ी है...उल्लसित सी, उमंगित सी।...तब वह समझता शान्ता का मन अब ठीक हो गया है, बुआ की छत्रछाया में वह सुखी है, सन्तुष्ट है।

...पर यह क्या है! यह कैसा निवेदन है...यह कैसा भाव है... जिसे वह इस प्रकार व्यक्त करना चाहती है!...वह यहाँ इतनी रात में कैसे खड़ी है...उसके कमरे के द्वार से लगी न जाने कब से खड़ी है वह...आखिर क्यों...'क्या है चाँदनी, कुछ कहना है, क्या कोई किताब लेनी है। किताब नीरा जीजी के यहाँ से ले लेना। मेरे पास शायद कोई तुम्हारे लायक किताब निकलेगी नहीं...।' पर वह इतनी चुप क्यों है...वह अपने नाखून दाँतों से कुतर क्यों रही है? उसकी आँखें नीचे झुकी क्यों है? क्या है यह सब!...वह इसी प्रकार खड़ी रहती है, खड़ी रहती है, वह देख रहा है, उसकी घनी काली बरौनियाँ ऊपर उठने का उपक्रम करती हैं, पर वह अपने लहँगे के छोर को अँगुली पर लपेटती रही। अन्त में उसका धैर्य टूटने लगता है और वह उससे कुछ कठोर स्वर में पूछता है...'क्या बात है शान्ता!' बात इतने ज़ोर से पूछी जाती है कि घर के दूसरे लोग भी सुन सकें...वह तो किसी ने सुना नहीं। वह चौंक पड़ती है, उसकी हरिण जैसी आँखें ऊपर उठती हैं, वह अपनी बरौनियों को किंचित तिरछी करती हुई उसको देख रही है, जैसे कह रही हो—'ऐसा भी कोई करता होगा, कुँअर जी? उसकी आँखों में न जाने कैसा भाव उस दिन तैर रहा था...वह उस दिन कुछ भी नहीं समझ सका कि यह शान्ता क्या उससे चाहती है, वह क्यों एकान्त में इस समय यहाँ है।

उसकी यह विमुग्धता देखकर जैसे वह विचलित होती है, कुछ संकुचित होती है।...उसे लगा कि आज उसकी साँसों का उद्वेग बढ़

गया, पर उस दिन केवल वह सोच रहा था कि चाँदनी को कोई कष्ट है, कोई आपत्ति है उस पर। उसने अपने स्वर में कुछ आत्मीयता का भाव लाते हुए कहा—'शान्ता, क्या बात है! क्या कुछ कष्ट है तुम्हें, क्या तुमको कुछ कहना है? बुआ से...नहीं...तुम नीरा जीजी से अपनी बात निस्संकोच कह सकती हो...।' शान्ता के ओंठ आवेश में कुछ फड़के, उसकी बरौनियाँ किंचित तरंगायित हुईं, जैसे उसने कुछ कहा हो, पर वह कुछ नहीं कह रही है।...अब उसने सोचना प्रारम्भ कर दिया था—क्या यह इस प्रकार शान्ता का खड़ा रहना उचित है...कोई इसको क्या उचित मानेगा, इसका क्या अर्थ लगायेगा? वह कुछ परेशान है, उसके इस प्रकार खड़े रहने पर वह कठोर होना चाहता है...शायद उसकी भंगिमा पर उसके मन का भाव प्रतिबिम्बित हो जाता है...क्योंकि युवती की मुद्रा में परिवर्तन होता है, उसकी आँखों की आकुल आकांक्षा और मादक निमंत्रण एक क्षण में विलीन हो जाता है और वह उपेक्षा और निराशा के भाव से कह देती है—'कुछ नहीं कुँअर, आज रात अधिक हो गई थी, इसलिए आप से कहना...।' उसने सोचा बस इतनी-सी बात, इसके लिए वह बेचारी इतना संकोच कर रही है...नरहरि और किशन शायद नहीं होंगे और बुआ अधिक रात हो जाने पर किसी को पहुँचाने भेजती ही हैं...। वह बिना सोचे, बिना किसी तर्क-वितर्क के चल पड़ता है...और चाँदनी बहुत धीरे-धीरे चल रही है। सड़क पर इस प्रकार उसके साथ चलना बहुत शालीन नहीं है...पर वह इसकी परवाह नहीं करता, वह शान्ता के प्रति इतनी सहानुभूति अवश्य रखता है...फिर चाँदनी स्वयं भली प्रकार रहती है...।

एकाएक किसी छोटे स्टेशन को...सटसटसटसटसटसट, खटखटखटखटखट करती हुई पार कर गई...एक क्षण के लिए युवक की चेतना में कोई झटका लगा और फिर चित्रों की एकसूत्रता कायम हो गई...उसके

अस्तित्व के साथ ट्रेन की गति का सम फिर चलने लगा और वह अपने में, अपने भूतकाल में बहने लगा।

वह नहीं समझ पाता यह स्त्री, यह शान्ता नामक नारी उससे क्या चाहती है...उन दिनों उसे इसका किंचित आभास होता था, परन्तु उसने गम्भीरता से इस पर विचार नहीं किया...पर आज वह न जाने क्यों उसी प्रश्न को अपने भाव केन्द्र में पा रहा है। उससे किसी प्रकार अपने को मुक्त भी नहीं कर पा रहा है...वह युवती, उसकी झुकी हुई बरौनियाँ, उसकी आमंत्रण देती हुई आँखें, उसका सारा सलज्ज व्यक्तित्व, यह सब आज उसे अर्थपूर्ण लग रहा है। उसकी ओर उसने कभी ध्यान नहीं दिया था, उसने उसके मन को कभी आकर्षित नहीं किया, उसे तो ऐसा ही लगता है।...पर आज वह अपने सारे आवेश, आवेग के साथ उसके मन में चित्रित हो रही है।

···वह उसे एक दिन अपने मन्दिर के सामने से जाते देख कर किसी बच्चे से बुलवा लेती है। एक बार वह सोचता है क्या यह उचित होगा, पर इस प्रकार किसी का अपमान नहीं करना चाहिए, कौन बड़ा है, कौन छोटा!...वह सन्ध्या समय अपने मन्दिर का दीपक जला चुकी है...बीच में वह छुट्टी लेकर मन्दिर में दीप जलाने के लिए आती है। उसके कमरे में एक हल्का बल्ब जल रहा है...उसका कमरा मन्दिर के बायें ओर के भाग में एकान्त में है...सुरुचि से सजाया गया है। वह बैठा है, वह अभी आई कह कर चली गई...मन्दिर की पूजा के लिए कुछ सामान देना है शायद...कमरा अच्छा साफ़-सुथरा है। यह इसमें चित्र किसके हैं—स्वामी राम, विवेकानन्द और यह कृष्ण...राम...और यह क्या है... यह चित्र यहाँ कहाँ...क्रास पर ईसा...शान्ता को यह चित्र कहाँ से मिला होगा...उसके संस्कार और यह चित्र!...और यह...गाँधी, तिलक...।...किससे इसने यह प्रभाव ग्रहण किया है? और कहा जाता है कि...पुजारिन का पिछला इतिहास अच्छा नहीं रहा है...उसका

सम्बन्ध...कितने सेठों का, कितने जौहरियों का, कई जागीरदारों का नाम लिया जाता है...किंवदन्तियों के कई रूप, कई क्षेत्र, कई परम्पराएँ चलती हैं!...हम इन सब पर विश्वास नहीं करते रहे हैं...सोचते रहे हैं, यह ऐसा ही होता है, यह ऐसा ही लोक का स्वभाव है।...पर कुछ होता है जिसके आधार पर लोक-रुचि काम करती है, ऐसा भी है... और यह उसी स्त्री का कमरा है, यह उसी की रुचि की सजावट है, साफ़-सुथरी।...इस पर ये चित्र...उसने खोजती हुई दृष्टि से देखा... कमरे में रामचरित मानस है...और यह गीता भी...यह स्त्री पढ़ी ही क्या है? मानस तो ठीक है, पर यह गीता...। एक ओर पलँग है, जिस पर बिल्कुल धुला हुआ चादर बिछा हुआ है...तकिया पर कुछ कढ़ा है... इतनी दूर से पढ़ा नहीं जाता...यह ऐसी ही रही है...या हुआ, मीरा जीजी का प्रभाव पड़ा है...सम्भव है...सम्भव है...मीरा जीजी का शिष्यत्व इसने ग्रहण किया है...।

...वह न जाने कैसे-कैसे विचारों और भावों में बह रहा है...उसके मन पर शान्ता का एक नया ही रूप आया था...आज...आज तो वह उसके उस व्यक्तित्व की ओर ही परबस खिंच रहा है। युवक इस भाव को पकड़ पाना चाहता है कि क्यों वह इस चित्र से अपने को मुक्त कर नहीं पा रहा है। यह बीती बात क्यों उसके मन को अभिभूत कर रही है, क्यों उसका मन उसी में उलझा हुआ है और मुक्त होना भी नहीं चाहता!

वह कमरे में प्रतीक्षा कर रहा है...आज लग रहा है उस दिन भी उसकी प्रतीक्षा में कोई उत्सुकता मन में जाग गई थी, उसके कमरे ने, उसकी सुरुचि ने उसे प्रभावित किया था। पर इतना ही नहीं था उस प्रतीक्षा में...कमरे का वातावरण, उसकी गन्ध, उसकी सजावट किसी नारी के अपनेपन से अभिन्न हो गई है और उस नारी की प्रतीक्षा वह कर रहा था उस दिन।

...और आज...आज स्मृति में उस दिन की उत्सुकता से कहीं अधिक उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा है...क्यों,? क्योंकि वह आज अपनी जीवन की सारी संवेदनाओं को अधिक गहराई से पकड़ रहा है...वह उनको कहीं अधिक सघनता के साथ अनुभूत कर रहा है, गत जीवन का प्रत्येक क्षण, उसकी अनुभूति का हर मोमेंट आज वह फिर जी रहा है... और इन क्षणों को वह कहीं अधिक अपना समझ पा रहा है...ये गत जीवन के क्षण उसके लिए कहीं अधिक अर्थवान, कहीं अधिक संदर्भयुक्त हो गये हैं।

कमरे में जाने कैसी नारी गन्ध भरी है, जो उसके मन को मादक कर रही है...कमरे में किसी की आत्मा मड़रा रही है, किसी का अस्तित्व फैला हुआ है जो उसके प्राणों को घेर रहा है, आच्छादित कर रहा है... लेकिन वह केवल कुछ उद्विग्न हुआ था, कुछ घबराहट का अनुभव कर रहा था...बस इससे अधिक नहीं ...।

शान्ता ने प्रवेश किया...वह सफ़ेद धोती पहिने हुए है...उसका घाँघरा कहाँ है, उसने अपनी लूगड़ी क्या की...वह सदा ऐसा ही पहिनती रही है...हाँ रसोई की बात अलग है, उसके लिए बुआ उसे घर से धोती देती हैं...। उसने यहाँ कैसे धोती पा ली...कैसी विचित्र बात है? पर इसमें आश्चर्य की क्या बात हो सकती है...वह क्यों आश्चर्य कर रहा है...वह पुजारिन है और उसके लिए पूजा के अवसर पर।...वह आ रही है, उसने कमरे में प्रवेश किया है...सिर से पल्ला खिसक गया है, उसे पहिनने का अभ्यास जो नहीं है...उसके लम्बे केश कन्धों पर बिखरे हुए हैं...वह सिर पर आँचल डालने का प्रयत्न नहीं करती...वह किसी भाव में विभोर है...कैसी आत्मलीन-सी लग रही है...जैसे उसे इस बात का ध्यान ही न हो कि वह वहाँ इतनी देर से उसके लिए, उसके आग्रह से बैठा है।...कमरे में हल्का नीला बल्ब जल रहा है...सारे कमरे में हल्का नीला प्रकाश फैला है...इस प्रकाश में

उसका रंग कुछ नीलाभ जान पड़ता है, उसकी धोती भी हल्की नीले रंग में रंगी जान पड़ती है...सब कुछ हल्का नीला हो गया है।... शान्ता उसके सामने आकर खड़ी हो जाती है...उसके मुख पर न जाने कैसा खोया-खोया सा भाव है...वह न जाने क्या सोच रही है, किस भाव में डूबी हुई है...।

उस दिन वह सोच लेना चाहता है— वह पूजा के बाद आरती करा कर आ रही है...जीवन में वह बिल्कुल अकेली है, उसके कोई नहीं है... वह अपने सूनसान जीवन में...उसके लिए यह क्षण निश्चय ही घनी वेदना और आत्मनिवेदन के होते होंगे, जब वह अपने प्रभु की सेवा में रहती होगी...वह अपने प्रभु के पास से आ रही है, वह उनके समीप से आ रही है।...वह भूली-भूली सी कुछ क्षण खड़ी रही...वह खड़ी है, उसकी बरौनियाँ, उसकी काली घनी बरौनियाँ, उसकी बड़ी-बड़ी आँखों पर तिरछी झाकर झुकल-झुकल रुक गई हैं...उसके खोये हुए मुख के भावों पर एक मुस्कान आकर रुक गई है...और लगता है अपनी वेदना के अन्दर से वह मुस्कुरा रही है।...प्रभु ने ही दिया होगा उसे यह सामर्थ्य, यह विश्वास!...उसकी पलकें जैसे और झुकीं, उसका अधर फड़का।

उसे इस वातावरण में उस दिन भी न जाने कैसा-कैसा लगने लगा था, और उसके लिए, उसकी चेतना के लिए धीरे-धीरे उस कमरे का वातावरण जैसे किसी उत्तेजना से भरता जा रहा था...पर उस उत्तेजना का अनुभव आज अधिक प्रत्यक्ष लगता है। उस दिन तो वह सोचने की कोशिश कर रहा था...यही है शान्ता जिसके विषय में इतनी किंवदन्तियाँ, इतनी जनश्रुतियाँ सुनी जाती रही हैं...कैसा है यह समाज, कैसा है यह जनमत? और यही सामने है शान्ता प्रभु की आरती-सी पूत और उनकी पूजा जैसी ही पवित्र! कौन कहता है कि...पर...यह बदल भी सकती है।...इस बीच निश्चय ही वह बदली है...और यह

नीरा का प्रभाव हो सकता है...ये चित्र...यह सौष्ठव...निश्चय ही यह नीरा का ही है।

...आगे उससे अधिक रुकना कठिन है, इस प्रकार इस भंगिमा में उसका खड़ा रहना वह किसी प्रकार नहीं सह सकेगा—'शान्ता, तुम तो एकदम भक्तिन लग रही हो! क्या आरती हो गई।' उसने कुछ भी कहने के लिए कह दिया, वह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि क्या कहे और शान्ता ने जैसे प्रतिज्ञा कर ली हो कि वह आज बोलेगी ही नहीं। शान्ता को जैसे होश आ गया हो। 'हाँ कुँअर जी! मैं तो पेशे से ही पुजारिन हूँ, मेरा क्या। लेकिन मेरे तो आज भाग्य जागे कि कुँअर जी यहाँ पधारे हैं, यह तुम्हीं कर सकते थे। मुझे तो कभी आशा नहीं थी कि कुँअर मेरे बुलाने से इस प्रकार आ जायँगे। यह भी मेरा भाग्य था?' वह न जाने किस भावावेश में कहती ही जा रही है, वह उसके इस आदर और संकोच से स्वयं लज्जित हो रहा है, यह इतना भी अभिनय क्या? 'इसमें चाँदनी, इतने आदर की, इतने सम्मान की क्या बात है। मैं आ गया, मुझे आना चाहिए था। नहीं भी आता तो मेरी हीनता प्रकट हो जाती, तुम्हारा क्या बिगड़ता। तुम जैसे चल रही हो, वही ठीक है, इसमें किसी के सामने क्षुद्र बनने जैसी बात ही नहीं उठती।'

वह ध्यान से सुन रही है, उसकी गहरी काली पुतलियों वाली आँखों पर घनी बरौनियाँ झुकी हैं, और वह उसे सुन रही है...उस दिन वह समझ रहा था कि उसे आत्मविश्वास के लिए प्रोत्साहन दे रहा है...पर वह इस प्रकार उसे सुन रही है कि उसे वाणी के माध्यम से ग्रहण कर रही है, जैसे भक्त प्रभु की कथा के माध्यम से स्वयं अपने प्रभु को ही प्राप्त कर लेता है, उन्हें साक्षात् ग्रहण करता है...। 'नहीं कुँअर जी, ऐसा ही नहीं है, मेरे लिए तुम्हारा आना, ऐसी साधारण बात नहीं है। तुम आये हो, तुमको मैंने बुलाया है। तुम्हारी मैंने प्रतीक्षा की है। कुँअर, तुम्हारे आजाने से मुझे क्या मिल गया है, यह तुमको क्या बताऊँ।' वह कहते-कहते रुक गई, उसके गले में जैसे कुछ अटक

गया हो, उसकी आँखों में एक चमक आ गई, उसके मुख का एक कोना फड़क गया।

वह बैठा है, नहीं समझ पा रहा है उसके सामने की नारी क्या कहना चाहती है, क्या कह रही है? वह मौन रहा, वह समझ नहीं पा रहा है कि वह क्या कह सकता है, उसे क्या कहना चाहिए! वह यह ज़रूर समझ रहा है, उसके अंतर्मन में यह बात स्पष्ट हो गई है...उसे इस भ्रमजाल से बचना है, इससे उसे किसी तरह भी बचना है...यह सब बहुत स्पष्ट और सीधा नहीं है, जैसा वह समझ रहा है। अपनी उस बेचैनी का अभास उसे साफ़ हो रहा...पर उस दिन उसे लगा था कि यह व्यर्थ की उद्विग्नता, विह्वलता है! उसके सामने की नारी ने अपने जीवन को प्रभु को समर्पित कर दिया है, वह अपने पूजा के वेश में कितनी पवित्र, कितनी गरिमामयी लगती है...वह केवल अपनी उसी भावना को इस प्रकार अभिव्यक्त कर रही है...और उसे लग रहा है जैसे मीरा ही की वाणी उसके स्वर से निकल रही है।

वह बात बदलने के लिए कहना चाहता है—'और शान्ता, तुमने तो अपने को इस प्रकार कर लिया है। मैं उस दिन तुमसे कह रहा था कि तुम विवाह क्यों नहीं कर लेतीं।' वह अपनी बात का अर्थ स्पष्टतः स्वयं भी नहीं समझ सका। शान्ता के दोनों अधर एकाएक फड़के, उसकी भौंहें किंचित वक्र हुईं, उसे लगा उस दिन की तरह इस दिन भी विवाह की बात उसे रुची नहीं है। वह प्रतिवाद करना चाहती है। उसने अपनी स्थिति स्पष्ट करनी चाही—'शान्ता बीदनी, उस दिन की बात का तुम बुरा न मानना, मैं बिना समझे ही कह गया था। और मैं समझता हूँ कि तुम भी मानोगी कि साधारण स्थिति में किसी व्यक्ति के लिए जीवन भर विवशता से बैठा रहना अस्वाभाविक है। मैं तो आज भी कहता हूँ कि जीवन के प्रति यह अपराध है, पाप है। लेकिन तुम्हारी बात, जैसा मैं देख रहा हूँ और है। तुम उस दिन की बात को न लेना, शान्ता।'

वह कहता गया, कहता गया, उसे लग रहा था कि उसी को कुछ कहते रहना है, शान्ता बोलेगी नहीं, वह बोल क्यों नहीं रही है ? इस कमरे का वातावरण न जाने कैसा मन को खींच सा रहा है, उद्वेलित कर रहा है, सारे शरीर के स्नायुओं में एक प्रकार का तनाव पैदा हो गया है, हृदय में रक्त का प्रवाह अधिक हो गया है जिससे लगता है कि शरीर पर पूरा अधिकार नहीं रहा जा रहा है। अभी तक केवल उसके मस्तिष्क पर उसका कोई असर नहीं है...इसीलिए वह बोलते जाना चाहती है, वह चुपचाप नहीं रहना चाहता। अपने आप को वह व्यस्त रखना चाहता है, और शान्ता आकर सामने स्टूल पर बैठ गई है...। वह समझना चाहती है कि यह वह इस प्रकार क्यों कहता जा रहा है—'शान्ता, यदि जीवन में किसी व्यक्ति को व्यापक आधार मिल जाता है, फिर उसके लिए इन सामान्य बातों का अर्थ नहीं रह जाता। तुमने जब अपने प्रभु को ही पा लिया है, तब सांसारिक पुरुष से उसकी क्या तुलना !' वह स्वयं ठीक नहीं समझ रहा है कि उसे क्या कहना है, और वह क्या कह रहा है। शान्ता के नेत्रों का उल्लास, उन्माद किसी शून्य में जैसे खो गया हो, वह चुपचाप बैठी रही। उसकी बरौनियाँ एक कोण पर जैसे रुक गई हों, उसकी काली पुतलियाँ विजड़ित हो गई हों... उसका सारा भावावेश धीरे-धीरे शान्त होता जा रहा हो। वह कुछ कहना चाहती है, पर उसके अधर हिल कर रुक जाते हैं...।

...फिर शान्ता कह रही है—'कुँअर जी, तुम्हारी ऊँची बातें मेरी जैसी स्त्री की समझ के परे की हैं। मैं बहुत नासमझ हूँ, मेरे लिए यह सब समझ पाना सहज नहीं है। मैं तुमको जानती हूँ, मैंने तो तुमको...तुमसे ही यह सब सीखा है, और तुम समझते हो कि यह ठीक है, मेरा यह रूप तुम्हें पसन्द है...।' वह न जाने क्यों बहुत रुक-रुक कर, सोच-सोच कर बहुत धीरे-धीरे कह रही है,...वह नहीं समझ पा रहा है कि...यह क्या कहा जा रहा है...उसे कमरा का वातावरण पुनः घेरने लगा, अपनी इच्छा आकांक्षा के खिलाफ़ उसको जैसे कोई

भ्रमजाल में फँसा रहा हो। उसको कोई सम्मोहक बन्धन कसता जा रहा है, चारों ओर से घिरता जा रहा है...वह देख रहा है, महसूस कर रहा है...पर वह न जाने कैसी विवशता से लाचार है...।

...शिकारी का जाल कसता जा रहा है, घिरता आ रहा है...पर हिरन न जाने कैसे आकर्षण में मुग्ध खड़ा है...न जाने कैसी सम्मोहक बंशी की ध्वनि उसके कान में पड़ रही है...और जानता है कि यह ध्वनि, यह बंशी का नाद उसके लिए बन्धन का कारण हो सकता है, पर उसकी सारी चेतना अभिभूत होती जो जा रही है, उसका समस्त अस्तित्व न जाने किस अज्ञात की ओर खिंचता जा रहा है!...

वह युवती कहती जा रही है—'तुमने कहा था कि किसी मृतात्मा के लिए बैठे रहने...उसकी प्रतीक्षा करते रहना जो कभी लौटा नहीं, विडम्बना है। मनुष्य का जीवन अधिक बड़े उद्देश्य के लिए हुआ है...और मैंने देखा निश्चय ही मेरे लिए यह विडम्बना ही है...। तुमने मुझे सत्य दिया, तुमने मुझे मार्ग दिखलाया...तुमसे छिपा नहीं है और मैं...मैं केवल तुम्हें ही अपनी बात बताना चाहूँगी...और जो परनिन्दा में रस लेनेवाले हैं, जो अपनी ओर न देख कर केवल दूसरे की, किसी अनाथ की झूठी-सच्ची बातों में सुख पाते हैं, उन्हें उनके सुख से क्यों वंचित किया जाय...।...मेरी कमजोरी के मूल में यही सत्य रहा है, जो चला गया, उसको लेकर कुछ दिन काटे जा सकते हैं, रो-धो कर, पर जीवन नहीं बिताया जा सकता।...कुँअर यह नीरा जीजी नहीं, यह तुम हो हो, तुम देखते क्यों नहीं, समझते क्यों नहीं...तुम नीरा जीजी का नाम ले कर...इस प्रकार बचा नहीं जा सकता...तुमने ही उस दिन अपने प्रभु ईसा के जीवन से किसी पापात्मा स्त्री की कथा मुझे सुनाई थी...तुम कहोगे कि वह केवल प्रसंग की बात होगी...नहीं...नहीं...वह मेरे लिए, मेरे जीवन के लिए केवल प्रसंग की बात नहीं थी, तुमने मेरे जीवन को लक्ष्य करके क्या नहीं कहा था...बोलो, उत्तर दो...तुम ऐसे-ऐसे क्यों होते हो...यह तुमको क्या हो गया है...।...मैं पूछती

हूँ...क्या तुमने ही मुझे इस नये, इस पवित्र जीवन की प्रेरणा नहीं दी...तुम्हें आश्चर्य हो रहा...मैं तुम्हारी ही भाषा में बोल रही हूँ... मैंने अपना तो भरसक छोड़ने का प्रयत्न किया है। तुमने ही कहा था कि चाँदनी, तुम इन सब बातों को लेकर इतनी चिंतित क्यों रहती हो, तुम्हें जब ज़रूरत हो मेरा सहारा ले सकती हो...तुमने कहा कि संकोच न करना और मैं संकोच किये बिना ही यह सब तुम्हारे सामने कह रही हूँ...।'

वह सुन रहा है...वह कानों से नहीं अपनी चेतना से सुन रही है... वह केवल उस पलँग पर बैठा है जिसे शान्ता ने सुरुचि के साथ सजाया है। वह केवल समझता है...मीरा जीजी से उसने यह सब सीखा-समझा है, उसके इस परिवर्तन में उसी का हाथ है...पर इस शान्ता को हुआ क्या है?...उसके मन पर न जाने कैसा आतंक फैलता जाता है...यह क्या कह रही है! उस दिन वह साफ़ कुछ भी समझ नहीं सका था...आज उसके लिए सब साफ़ स्पष्ट है...उसने जो कुछ कभी कहा होगा वह इस प्रकार इस स्त्री के जीवन के लिए इतना महत्वपूर्ण हो उठेगा, इतना उसका अंग हो जायगा, यह उसने क्या कभी सोचा होगा। वह हतप्रभ है, वह किंकर्तव्यविमूढ़ है...हल्की नीली रोशनी सारे कमरे को रँगती हुई उसके प्राणों को जैसे छू लेती है...और यह नारी अपने आपको उसके सामने एकदम खोल कर रख रही है, जैसे वह उससे किसी प्रकार का दुराव रख कर नहीं चलेगी—

'और कुँअर, तुम ऐसे क्यों हो रहे हो...ऐसा लगता है कि तुम्हारा पैर अनजाने किसी साँप पर पड़ गया हो...जाने दो, तुम मुझे छोड़ो, मेरा क्या? लेकिन एक बात मैं कह देना चाहूँगा...जिन्होंने मुझे इस प्रकार ठगा था, वे सामाजिक दृष्टि से कायर थे, उनमें क्षणिक आवेश था और वे उसके प्रति बाद में ईमानदार नहीं रह सके। पर...उन्हें मैंने इससे अधिक समझा ही नहीं था, उनसे मैंने इससे अधिक आशा ही नहीं की थी...और तुम...तुम देखते क्यों नहीं मेरी ओर...।' उसकी सारी चेतना जैसे झनझना उठी हो, उसने एकाएक दृष्टि ऊपर कर ली...

सामने वही नारी है...न कहीं शान्ता, न कहीं बींदनी जो उसके यहाँ खाना बनाती है, और न पुजारिन जिसे वह यहाँ इतनी देर से देख रहा था। वह केवल नारी है...उसके निमंत्रण में आवेश है, उसके समर्पण में सब कुछ पा लेने की, अपना लेने की उत्कट इच्छा है। वह स्टूल पर बैठी है और उसके मुख पर वितृष्णा का भाव उभर आया है...भृकुटियाँ कुंचित हो गई हैं, नेत्र शायद खुले हुए हैं, उनमें अब कोई रहस्य नहीं झाँक रहा है, केवल आवेश, आक्रोश का छाया है...मुख का बायाँ कोना बार-बार काँप जाता है...उसकी धोती का पल्ला अब भी गिरा हुआ है और कसे ब्लाउज़ के नीचे उसका वक्ष कुछ अधिक तेज़ी से धड़क रहा है। वह बहुत शान्त स्वर में कह रही है, पर उसके मन में कहीं कोई ज्वार है, इसका पता चल रहा है...उसके मुख पर ठुड्डी की नोक का गड्ढा और दाहिने गाल का तिल उभर कर अधिक व्यक्त हो गया है...।

···वह देख और सुन रहा है, पर उसे न कुछ सुनाई दे रहा है और न वह कुछ देख ही रहा है...वह अपने अस्तित्व से सारे वातावरण में मिल जाना चाहता है...भूल गया है कि वह किसी के आमंत्रण से इस कमरे में आया है, भूल गया है कि वह एक युवती के सम्मुख बैठा है...उसे केवल एहसास हो रहा है कि उसके मन में कहीं से कोई प्रवेश कर रहा है, कहीं कोई सारे व्यक्तित्व को अतिक्रान्त कर रहा है। उसका अपने पर ही अधिकार नहीं रहा है...यह उसके लिए बिल्कुल नया अनुभव है। इस वातावरण से बचने के लिए वह अपने को किसी प्रकार संयत करके कहता है—'लेकिन...लेकिन तुमने मुझे ग़लत समझा है, शायद। मैंने तुमको माना है, आदर दिया है...मैंने यह भी कहा था कि अवसर पड़ने पर तुम मेरा भरोसा कर सकती हो! पर शान्ता, मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि तुम क्या कह रही हो, तुम क्या चाहती हो मुझसे? तुम क्यों नहीं कहतीं...तुम्हारे सामने कौन कठिनाई आ गई है, क्या आवश्यकता आ गई है?'...वह कहता जा रहा है, केवल उस वातावरण में साँस लेने की छटपटाहट में, वह कहता जा रहा है...

'शान्ता, तुमको हम अपने परिवार का ही व्यक्ति मानते हैं।...यदि तुम्हें कुछ संकोच हो, तो तुम नीरा से कह सकती हो...नीरा तुमको अपनी...।'

वह एकाएक खड़ी हो जाती है और व्यंग के समान मुस्करा देती है, उसका बोलना बन्द हो जाता है। वह चुप हो जाता है। उसकी भंगिमा वक्र है, वह आवेश में तनी खड़ी है। उसकी भृकुटियाँ और संकुचित हो गई हैं, उसकी बरौनियाँ फैल कर आँखों पर छा गई हैं, उसकी नाक कुछ चौड़ी हो गई है...लगा वह अपने आवेश में फूट पड़ेगी, क्रोध में चिल्ला पड़ेगी...। पर दूसरे ही क्षण उसकी भंगिमा फिर बदलने लगी, धीरे-धीरे उसका आवेश शान्त हुआ, उसकी पलकें झुक गईं, उसके मस्तक की वक्र रेखाएँ मिट गईं और वह फिर वहीं बैठ गई। उसे लगा ज्वार आते-आते उतर गया, सैलाब आते-आते रुक गया। वह शान्त स्वर में कह रही है—'मुझे कुछ भी कहना नहीं रह गया। मैं भ्रम में थी, मुझे आज ही, इस बार ही सचमुच भ्रम हुआ, धोखा हुआ। और जब उसे ही नहीं सुनना है जिसे सुनाने का कुछ अर्थ हो सकता है, तो दूसरे से कहने से प्रयोजन ही क्या ?...तुम भूल जाओ कुंअर, तुम मेरी चूक माफ़ कर देना।...लेकिन मैं नहीं समझ पा रही हूँ कि वह मेरा पहला जीवन विडम्बना था, या...यह जिसको मैंने अपनाना चाहा, जिसके लिए मैंने अपने को बदलना चाहा, वह जीवन मेरे लिए अधिक बड़ी प्रवंचना है... तुम देख रहे हो...तुम केवल इतना समझना चाहते हो कि यह सब तुम्हारी नीरा के कारण मुझमें घटित हुआ है। क्या कहूँ मैं...यह सब, यह सारा कमरा, यह और यह...'

उसे लगा इस यह में उसने अपने को कहना चाहा है, अपने सारे जीवन को प्रस्तुत करना चाहा है—'यह देखो...इधर...यह जो मैं हूँ... वह केवल...तुम्हारी और तुम्हारी नीरा की कल्पनाओं से बनी हुई हूँ...।' वह न जाने कैसे किस भाव से मुस्करा दी...उसकी इस मुस्कान ने उसके सारे व्यक्तित्व को हिला दिया हो, उसने जैसे उसकी चेतना को कुंठित कर दिया हो।...वह उसी प्रकार, उसी भाव से मुस्कराती रही,

उसी प्रकार व्यंग से, वितृष्णा से, उपेक्षा से ! और वह बैठा रहा... खोया-खोया...भूला-भूला...उसे लग रहा है...उसके सारे तत्व को किसी ने खींच लिया हो, उसके सारे रस को किसी ने सोख लिया हो, उसकी सारी शक्ति को किसी ने, निकाल लिया हो। वह खड़ा हो गया निर्जीव सा, वह बेहोश सा चल पड़ा, वह मन्दिर के आँगन में आ गया बेसुध-सा ! और तब उसे भान हुआ कि मन्दिर के द्वार पर शान्ता सैलाब के बाद उतरी हुई नदी के समान खड़ी हो उसे विदा दे रही है, हाथ जोड़ कर नमस्कार करते हुए...शायद उसकी आँखों में भाव था...जो हुआ उसे न हुआ मानना, और मुझे माफ़ करना।...पर उसमें उत्तर देने की शक्ति नहीं है...वह वापस लौट रहा है...उसे लग रहा है, उसकी सारी अनुभव की शक्ति पक्षाघात से जड़ हो गई है...उस कमरे में वह जिस तनाव, उद्वेग, घबराहट का अनुभव कर रहा था, वह सब का सब उसी के साथ निजड़ित हो गया है ..जैसे परी के शाप से राज-कुमारी के साथ सारा राजमहल जहाँ का तहाँ जड़, स्तब्ध रह गया हो... मानों किसी गहरी तन्द्रा में सो गया हो...।

वह चौड़ी सड़क पर चलता चला जा रहा है, पर उसे यातायात का बिल्कुल ज्ञान नहीं, उसे किसी साथ चलने वाले राही का किंचित बोध नहीं...।

युवक ने चौंक कर आँखें खोल दीं...ट्रेन एक हल्के झटके साथ रुक गई है, उसे लगा...अभी ट्रेन सटटसटटसट, खटखट करती हुई रुक रही थी और अब रुक भी गई है...कोई स्टापेज़ होगा...कौन-सा स्टेशन है... जानने की इच्छा होती है, पर वह पूछे किससे ? उसने पहली बार ध्यान दिया...उसके साथ अलवर से कौन यात्री आ रहे हैं ? वे जान सकते हैं...उसने देखा एक महिला, संभ्रांत महिला दूसरी बर्थ पर खिड़की के सहारे बैठी हुई हैं...वे अलवर से चढ़ी हैं, इधर की हो सकती हैं... उन्हें ज्ञात होगा...पर उनको सम्बोधित किस प्रकार किया जाय...

इधर देख भी नहीं रही हैं...फिर अकेली स्त्री...उन्हें अच्छा नहीं भी लग सकता है। वह कम्पार्टमेंट की दूसरी ओर प्लेटफ़ार्म की तरफ जाता है और दरवाज़ा खोल कर खड़ा हो जाता है...सामने प्लेटफ़ार्म है, डिब्बा बहुत पीछे है, इस कारण स्टेशन का मुख्य भाग दूर है...मुड़ कर पीछे के बोर्ड को उसने पढ़ना चाहा...साफ़ पढ़ नहीं पा रहा है...थोड़ी ही भीड़ है, केवल दस-पाँच लोग जो आगे की ओर चढ़ और उतर रहे हैं।...उसके सामने सूना है...खोंचेवालों का ध्यान भी उसी ओर है...वह मिली-जुली आवाज़ें सुन रहा है...जिनमें कुछ स्पष्ट ध्वनियाँ हैं...गरम...मीठा...छोले...मसालेदार...पर सब मिल-जुल कर उसकी चेतना में एक हो जाती हैं।

...वह खड़ा है, उसके सामने किसी स्टेशन का प्लेटफ़ार्म है... जो लगभग सूना है...। उसे लग रहा है...वह किसी चौड़ी सड़क पर वापस लौट रहा है...हारा थका, शिथिल...संवेदनाहीन, अनुभूति-शून्य...। वह सूनी दृष्टि से प्लेटफ़ार्म देख रहा है...वह स्टेशन का नाम जान लेना चाहता है...पर उसको बतानेवाला कोई नहीं है। वह यह भी नहीं जानता वह कहाँ है, किधर जा रहा है...वह सब कुछ भूल गया है उस क्षण। उसके मन में तीव्र लालसा जागती है कि वह किसी से पूछ ले...यह कौन स्टेशन है? गार्ड से पूछा जा सकता है...वह उसकी बोगी से आगे ही तो है...स्टेशन की ओर से वह उसी ओर बढ़ रहा है, उसी की ओर आ रहा है। पर इतनी छोटी-सी बात उससे क्या पूछना... उतर कर स्टेशन बोर्ड पर पढ़ भी तो सकता है...अभी गाड़ी ने सीटी नहीं दी है...अभी गार्ड के हाथ में हरी झण्डी नहीं है, उसके मुख में सीटी भी नहीं है...वह उतरेगा, पता लगायेगा। पर उसके मन पर यह कैसी निष्क्रियता छाती जा रही है, यह कैसी जड़ता है। वह आगे बढ़ना चाहता है...पर मन रुका हुआ है, आख़िर क्या होगा जान कर, यह कौन स्टेशन है...कितने स्टेशन निकल चुके हैं...जानने की इच्छा नहीं हुई, इसमें ही क्या है।...वह निश्चय नहीं कर पा रहा है...और गार्ड

ने सीटी मुँह में लगा ली है, हरी झंडी निकाल ली है...अब व्यर्थ है! गार्ड की सीटी बजती है, हरी झंडी हवा में फहराती है...गाड़ी लम्बी सीटी देती हुई आगे बढ़ने लगती है...वह अपनी सीट पर आने के लिए मुड़ जाता है...

उसकी दृष्टि उस साथ की स्त्री पर पड़ जाती है...श्याम वर्ण की छोटे गोल मुँहवाली यह स्त्री दक्षिणी जान पड़ती है...पर बहुत चुप उदास लगती है उसे। वह खिड़की पर तिरछी होकर बैठी बाहर की ओर देख रही है, उसकी दृष्टि ट्रेन के पीछे की ओर है...अन्य यात्री ट्रेन में उसकी भागती हुई गति को पकड़ पाने के लिए आगे की ओर ही देखते हैं...पर यह है कि भागती, पीछे छूटती हुई पृथ्वी को देखती हुई यात्रा कर रही है. .क्यों है ऐसा?...अरे वह स्टेशन का नाम जानना चाहता था और उसे ध्यान ही न रहा कि आगे बोर्ड में भी नाम पढ़ा जा सकता है...वह अपनी सीट से ही देख लेना चाहता है...पर बोर्ड पीछे छूट गया है, और तिरछे कोण से पढ़ना कठिन है। वह अपनी सीट पर पैर फैला लेता है...नहीं जान सका उसका नाम! लाभ ही क्या?... फिर यह दक्षिणी स्त्री पीछे की पृथ्वी को क्यों ममता से देख रही है, उसे अपनी यात्रा के प्रति ममत्व क्यों नहीं है, उत्सुकता क्यों नहीं है। और वह पुरुष...एक्सक्यूज़ मी, आई हैव टु गेट डाउन...वह पुरुष और यह नारी...वह पीछे की ओर देख रही है...वह किस ध्यान में मग्न है, किस चिन्ता में लीन है...यात्रा में किसी के मिलने की उत्सुकता हो सकती है...पर...पर अलग होने की बात भी होती है।...और साथ की स्त्री...

वह जैपुर छोड़ कर प्रयाग आ गया है...उसे यहाँ का विश्वविद्यालय ज्वाइन करना पड़ा...उसे प्राचीन काल के साथ इतिहास में एम० ए० करना है, और वहाँ उसकी सुविधा नहीं है...साथ ही वह अन्तिम डिग्री प्रयाग से ही लेना चाहता है...उसकी रुचि का सवाल होता तो

वह कलकत्ता जाता, या कम से कम बनारस से डिग्री लेता...पर कलकत्ते में जापान के बम का ख़तरा घर वालों को सताने लगा था... और बनारस...वह युनीवर्सिटी सरकार की छाप नहीं रखती, इसलिए फूफा जी को पसन्द नहीं...। प्रयाग में वह अपने परिवार के लोगों के अधिक निकट आ गया है, परन्तु न जाने क्यों उसे यहाँ बहुत अधिक सूना लगता है...उसे हॉस्टल में, उसके डेढ़ सौ लड़कों के शोर गुल में भी अकेलापन लगता है, उसे फूफा जी के पास रहने के दिनों की सुधि सताती रहती है...।

वह अपने कमरे में अकेला कुर्सी पर बैठा है...सामने का दरवाज़ा खुला है...आगे घने पेड़ों के बीच से सड़क की रेखा चली गई है... सन्ध्या का अँधेरा धीरे-धीरे छा रहा है...आकाश की हल्की लाली घुल कर मिटती हुई अंधकार में विलीन हो रही है। सामने की फील्ड अब खाली हो गई है, एक-दो खेलाड़ी इधर-उधर घूम रहे हैं...शायद किसी पिछली मैच की चर्चा करते हुए अथवा किसी खिलाड़ी का बखान करते हुए।...सड़क पर कहीं दूर से घड़ की आवाज़ आती है, पास आती जाती है और घड़घड़ करता हुआ एक एक्का सामने की सड़क से गुज़रा...देर तक उसकी घड़घड़ाहट आती रही, और फिर धीरे-धीरे मिट गई! वह चुपचाप बैठा है...सामने का दृश्य अपने आप में फैला है, और उसमें अनजान परिवर्तन होता जा रहा है...वह देखता है, देख रहा है...पर उस देखने में कहीं भी कोई ऐसी पकड़ नहीं है जिससे वह अपने को उस दृश्य का अपने आप का अंश समझ सके। दृश्य अपने आप में समस्थूक्त, अपने आप में निरपेक्ष फैला है...और वह देखता हुआ भी कुछ देख नहीं रहा है...वह सहस्रों मील दूर, देश काल की सीमा से अलग अपने अस्तित्व के अतीत में फैले हुए क्षणों में लौट गया है...।

वातावरण की उदासी चारों ओर के वृक्षों की सघनता की रेखाओं पर प्रसरित होती हुई उसके अस्तित्व को घेर रक छा रही है...वह

अकेला है, नितान्त अकेला। कौन है जो उसके मन के इस शून्य को भर सकता है...कौन है जो उसको अपनी सीमाओं में घेर सकता है... उसके अपने भइया-भाभी, उसके अपने बहेन-बहनोई...वे अपने आप में कम व्यस्त नहीं हैं, अपने बच्चे...अपनी गृहस्थी...अपना काम-काज! उनको कहाँ फ़ुरसत है...पत्र आ जाते हैं, समाचार मिल जाता है और समाचार पूछ लिया जाता है। चिन्ता भी प्रकट की जाती है, ख़रच भी समय से मिल जाता है...बढ़ती महगाई और तंगी की शिकायत भाभी के पत्र में प्रायः रहती है...यह सब उसे उबा देनेवाला लगता है। पर वह भी उत्तर दे देता है, समाचार दे देता है और पूछ लेता है...भइया की व्यस्तता का वह उत्तर दे तो क्या दे, भाभी की ज़माने की शिकायतों के विषय में वह अपनी क्या राय दे...हाँ घर पर उसका एक मात्र आकर्षण है कुमी। कुमी है कि अपने अंकिल को हरदम छोड़ना नहीं चाहती, और जब वह घर से बाहर होता है, तब वह अपने अंकिल को दिन भर में कई बार पत्र लिख-लिख कर नौकर को छोड़ने के लिए दिया करती है...उसके ये पत्र डाकवालों की लापरवाही से उस तक कभी नहीं पहुँचते, पर भाभी को जब कभी अपनी अनगिनत शिकायतों से छुट्टी मिलती है या कुमी ख़ुद उन्हे तंग करके अपनी शिकायत लिखने के लिए विवश कर देती है, तब उसकी सारी बातें उसको पढ़ने को मिल जाती हैं...

...वह हॉस्टल में बहुत अकेला है...उसे सदा लगता रहा है कि एकान्त में पढ़ाई-लिखाई अच्छी होती है, कहीं कोई बाधा नहीं, कहीं कोई व्यवधान नहीं।...बस एक दम पुस्तकों का साथ...पर इन दिनों उसे हो क्या गया था, उसे लगता कि इस एकान्त में उसका मन उचट गया है, उसे न जाने कैसे शून्य का अनुभव होता, लगता हवा वातावरण से बिल्कुल खींच ली गई है, धीरे-धीरे खींच ली जा रही है...और उसे साँस लेने में धीरे-धीरे कठिनाई हो रही है। हवा हल्की होती जा रही है, कम होती जा रही है...और उसे लग रहा है कि साँस रुकती जा

रही है, उसका दम घुट रहा है, घुटा जा रहा है।...आज इतने वर्षों बाद भी उसे वह अनुभूति प्रत्यक्ष सी जान पड़ती है...उससे बचने के लिए अपने अस्तित्व के अतीत क्षणों में वह साँस लेने वापस लौट जाता है...

...बुआ जी और उनका घर...फूफा जी जिनसे वह अधिक अपनेपन का कभी अनुभव नहीं कर सका...पर राजू...सीधा और भावुक राजू और चतुर संध्या...बातें बनाने में पूरी होशियार। और बड़ी बुआ जी, उनकी ममता...फूफा जी, बड़े फूफा जी उनका गम्भीर स्नेहशील चरित्र...यह सब कितना मोहक रहा है, आकर्षक रहा है। वहाँ के वे कुछ वर्ष कितनी आसानी से बीत गये,आनन्दोल्लास में, हँसी-ख़ुशी में... और अब वह सब केवल एक स्मृति रह गई है...लेकिन इस स्मृति में एक ऐसा चुम्बक है कि उसका सारा अस्तित्व उसी केन्द्र पर खिंच रहा है...उस दिन का उसके मन का शून्य उसे उसी ओर प्रेरित कर रहा है...।

...वह अपने कमरे में चुपचाप बैठा है...सन्ध्या हो चुकी है, प्रकाश की रेखाएँ अब केवल बहुत दूर के वृक्षों के ऊपर की सीमा पर मिट रहा है...सारा हॉस्टल सूना है, जैसे सभी विद्यार्थी इस समय छोड़ कर चले गये हों...पर वह, वह...उसे कहाँ जाना है, कौन है जिससे उसे मिलना है, किससे उसे बातें करनी है...उसका यों अभी कोई ऐसा साथी भी नहीं है...।... उसके मन की उदासी, एकान्त और सूनापन फैलते अंधकार के साथ मिल कर एकाएक बोझिल और असह्य हो गया है। उस दिन उसे एक सहारा मिल सका था उस पत्र से...नीरा का पत्र मिला है, जबसे वह आया है उसका यह पहला पत्र है, सारी गर्मियों की छुट्टी वह इधर-उधर घूमता रहा था और पत्र मिलने की बात उठी ,नहीं...पर विद्यालय में प्रवेश पा लेने के बाद से उसको नीरा के पत्र की प्रतीक्षा थी। उसने पहले पत्र क्यों नहीं लिखा, वह भी तो लिख सकता था...क्यों नहीं

लिखा उसने। उसको सदा यह लगता रहा कि पत्र नीरा का पहले आना चाहिए...कई बार उसके मन में तीव्र इच्छा उठी है कि वह नीरा को पत्र लिख कर उसका समाचार प्राप्त करे...आज वह सोचता है कि क्या यह ऐसा ही था, वह केवल पत्र लिख कर समाचार लेना चाहता है। समाचार उसे आरती, राजे के पत्रों से भी मिल जाता है, क्या यह केवल हाल-चाल लेने की बात थी...फिर उसके लिए यह संकोच? लेकिन सभी ने अपनी ओर से पहले पत्र लिखा है, फिर नीरा ही क्यों नहीं लिखेगी...उसे ही पत्र लिखना चाहिए, यह अपनी ओर से नहीं लिखेगा, नहीं लिखेगा...।

और उस दिन पत्र आया था उसी नीरा का...जिसकी अज्ञात रूप से वह इतने दिनों से प्रतीक्षा कर रहा था।...नीरा का पत्र उसे मिला है और न जाने क्यों प्रयाग आने के बाद आज ही उसे सबसे अधिक सूना और उदास लगा है। अभी तक कई बार उसे होमसिकनेस लगी है और उसके मन में न जाने कैसी उमड़न उठी है...आवेग में उसे रुलाई आई है, उसे अपनी उस माँ की याद आई है जिसे उसने बहुत बचपन में देखा था, पर वह सब भावावेश था, उद्वेग था।...इस आज की उदासी, इस शून्य से वह बिलकुल भिन्न, बिलकुल अलग है। ऐसा क्या था उस पत्र में जिसने उसके मन को ऐसा कर दिया है... कौन-सी स्मृतियाँ, कौन-सी भावनाएँ जगा दी हैं उसने।...नीरा ने लिखा है—'भइया, तुमने तो मानों भुला ही दिया। वहाँ ऐसा क्या आकर्षण है जिसने तुमको मोह लिया है, ऐसा व्यस्त कर दिया है कि आज एक मास के लगभग हो गया, पर तुमको एक पत्र लिखने की छुट्टी नहीं मिल सकी। आज सोचा शायद जो तुममें कभी नहीं रहा वही जागा हो, यह मान कर न तो तुमने सदा सिली प्रेमिकाओं के लिए छोड़ दिया था। है न ऐसा ही। पर तुम कह सकते हो कि फिर मैंने ही क्यों नहीं लिखा, हाँ कह सकते थे, पर अब तो लिख रही हूँ। मैंने तो अब तक तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा की है। और जब देखा कि तुमको मौक़ा ही नहीं

मिल सकेगा, तो आज लिखने बैठ गई हूँ। यह तो हुआ पत्र का परिचय और अब समाचार सुनिए...। हाँ, अन्त में एक बात बतानी है, इधर पापा जी की कुछ तबियत ठीक नहीं है, यों ही साधारण सी। पर न जाने क्यों अपने स्वभाव के विरुद्ध वे इस बार परेशान अधिक लगते हैं, यद्यपि ऊपर से बिल्कुल शान्त जान पड़ते हैं। मेरा मन उनको लेकर चिन्तित अवश्य है। तुम्हारी, नीरा।'

...पत्र उसने कई बार पढ़ा है, पर उसे लगता है कि वह कुछ पढ़ नहीं पा रहा है, कुछ है जिसे वह पढ़ कर भी नहीं समझ पा रहा है। वह पत्र की प्रतीक्षा में था, वह नीरा का पत्र पाना चाहता था, और पत्र उसे मिल गया है, उसने पढ़ लिया है पत्र। फिर अब वह क्या चाहता है, उसे क्या आशा थी उस पत्र से जो पूरी नहीं हुई, क्या चाहता था वह? उसे लग रहा है कि आज वह अपने जीवन में अकेला है, बिल्कुल साथी-विहीन बन्धु-परिजन विहीन है। उसका कोई ऐसा अपना नहीं है जिसे वह इन एकान्त के क्षणों में अपने मन का समर्पण दे सके, जिसे वह अपने मन के सारे दुःख-सुख का भागी बना सके।...लेकिन उसे यह आज ही ऐसा क्यों लगने लगा है? उसे आयु के बीस वर्ष तक ऐसा क्यों नहीं लगा। उसके माँ-बाप तभी से नहीं रहे हैं, जब वह बहुत छोटा था। भाई-भाभी के स्नेह में कहीं कोई परिवर्तन उसे लगता नहीं...उसकी जीजी ने विवाह के बाद उसे एक सीमा तक भुला अवश्य दिया है, पर इस घटना को हुए कई वर्ष बीत चुके हैं...वह सोचता है सभी तो ज्यों का त्यों है—भइया, भाभी, जीजी, बुआ। और कुमू, संध्या, राजू सभी तो हैं। यहीं क्यों उसे बड़ी बुआ, बड़े फूफा जी का स्नेह भी कम नहीं मिला है और उस परिवार के सभी सदस्यों ने अपने से कम कभी नहीं माना—आरती, श्याम और, और नीरा...।...नीरा का पत्र आज ही आया है, उसने कितनी परिवारिकता के साथ लिखा है, उसके पत्र में स्नेह और ममता क्या नहीं है? अभी कल तक वह बिल्कुल ऐसा ही सोचता-समझता आया है, उसे अपनी उदासी, अपना

अकेलापन खलता रहा है, उसे दुःख भी रहा है...मन में न जाने कैसी उमड़न घुमड़-घुमड़ कर उसे रुलाती रही है, पर उसे यह कभी नहीं लगा कि वह ऐसा अकेला है, ऐसा असहाय है कि उसका कहीं कोई नहीं हो जैसे...और उसका सारा जीवन वर्ना उदासी से घिरा है, उसके मन पर उसका बोझ है, उसका दम जैसे उससे घुट रहा हो। यह आज ही ऐसा क्या हो गया है एकाएक ?

आज जब वह उस समय से इतने दूर है, आज जब उस घटना की स्थिति का सम्बन्ध उसके अस्तित्व के दिक्-काल में प्रसरित रूप मात्र से है, तब उसे लग रहा है कि वह जिस पत्र की प्रतीक्षा में था, उसे प्राप्त नहीं हुआ...।...पत्र आया था, नीरा का पत्र उसे मिला था, पर यह वह पत्र नहीं है जिसकी प्रतीक्षा वह एक मास से कर रहा था। पर वह कैसा पत्र है जिसे उस दिन वह नहीं पा सका और उस दिन लगा कि वह इस जीवन में इतना अकेला, इतना साथीहीन, इतना उदास है !...

...पत्र वह पढ़ चुका है, उसने नीरा से पत्र की आशा की थी और पत्र उसने लिखा भी, पर नीरा से उसे जैसे किसी अन्य पत्र की आशा हो और मिला बिल्कुल दूसरा ही।...वह उस दिन सोचना चाहता है कि नीरा ऐसी है, उसका स्वभाव ऐसा ही है। वह उसको भली प्रकार समझ नहीं पा सका है, कुछ है इस लड़की में जो उसे सदा दुर्बोध लगा है। कहना कठिन रहा है कि नीरा कब क्या कहना चाहती है, कब क्या उसका भाव है ? पत्र साधारण ढंग से लिख भर दिया है, सहज भाव से। पर और क्या हो सकता था, वह और क्या चाहता था उस पत्र से !...आज भी क्या वह कह सकता है कि वह क्या चाहता था उस दिन !...पत्र आत्मीयता से न लिखा गया हो ऐसी बात नहीं !

...पर यह ऐसी ही आत्मीयता तो जीजी के दो मास में एक बार

मिलने वाले पत्र में ही रहती है—'प्यारे नरेश, तुम्हारा पत्र मिला था। मैं घर के जंजाल में ऐसी कुछ व्यस्त रही हूँ कि तुमको उत्तर दे नहीं सकी। बुरा न मानना भइया, यह गृहस्थी ऐसी ही है। अभी तुम नहीं समझ सकोगे, जब घर में बहू आयेगी तब तुम जानोगे।...तुम प्रसन्न हो, सुखी हो, यह जान कर मैं संतुष्ट हूँ।...यहाँ सब ठीक है, तुम्हारे जीजा जी का सदा रहने वाला जुकाम चल रहा है, बेचारे कष्ट में हैं। बच्चे सब अच्छे हैं, हाँ कुनू को इधर बुखार आ रहा है, तुम्हारी याद बहुत कर रहा है। चिन्ता की बात नहीं है।—तुम्हारी, जीजी।'... ऐसा ही तो, हाँ, ऐसा ही पत्र उसे अपनी जीजी से सदा मिलता रहता है। और आज उसे वैसा ही आत्मीयता का पत्र नीरा से मिला है, तो उसे लग रहा है कि वह बहुत उदास है। उसके मन में वह पत्र घूम जाता है—'शायद तुममें जो कभी नहीं रहा वही जगा हो—मान—मिली मान'...इस प्रकार यह मान करना सिली है।...और क्या उसने मान किया है? नहीं किया है उसने? कैसा होता है यह सिली मान? उसे तो हमने सदा प्रेमी-प्रेमिकाओं के लिए छोड़ दिया है।...लेकिन यह मान करना ऐसा क्यों उपहासास्पद समझा है हमने!

ट्रेन घटघटघड़ड़घट घड़ड़घटघट करती हुई पूरे वेग से भाग रही है, अनुगुँज से उसका ध्यान भंग हो गया। उसने देखा एक्सप्रेस किसी छोटे स्टेशन से गुज़र रही है और उस पर खड़ी हुई एक माल गाड़ी से उसकी ध्वनि टकरा कर इस प्रकार गुँजित हो गई है। वह अपनी खिड़की से देख रहा है कि माल के डब्बे निकलते जा रहे हैं और स्टेशन भी छूटता जा रहा है। एक क्षण में ही वह इससे ऊब कर अपने कम्पार्ट-मेन्ट की ओर मुड़ा। उसने देखा सहयात्री महिला नीरस भाव से पीछे छूटते हुए स्टेशन को देख रही है। उसने देखा महिला इस छोटे से स्टेशन के सरकते हुए प्लेटफार्म को देख रही है, उस पर खड़े हुए दो-चार व्यक्तियों को वह बिल्कुल उपेक्षा की दृष्टि से पीछे छोड़ रही हो

जैसे !...प्लेटफार्म की अन्तिम सीमा पर पत्थर का बोर्ड भी निकल गया और ट्रेन की खड़खड़ाहट भी बन्द हो चुकी है, अब केवल प्वाइंट्स की सटसटटसट करती हुई एक्सप्रेस आगे भागी जा रही है।

...कुछ क्षण में ही सब शान्त और ट्रेन पूर्ववत् झक-झक सटसट करती दौड़ने लगती है। स्त्री को जैसे कुछ आराम मिलता है और अब उसके मुख पर ममता का भाव फिर उभर आता है...अब वह पीछे छुटे हुए लोगों को...उनकी मिटती हुई रेखाओं को जैसे ममता की दृष्टि से देख रही है। उसने इसी भावना से मुक्त होने के लिए शायद अन्दर की ओर दृष्टि डाली...यात्री की दृष्टि से उसकी दृष्टि अनायास मिल गई !...उसके नेत्रों की ममता और उदासी को युवक ने एक साथ पकड़ने का प्रयास किया। स्त्री ने संकुचित होकर दृष्टि नीची कर ली। पर उसने जो ग्रहण कर लिया, वह उसके मन पर जैसे उभर आया हो। उभर कर वह फैलने लगा, फैलता गया और फिर वही भाव उसकी सारी चेतना पर छा गया।...वह पीछे की ओर धाँख लगा कर बैठ गया है, और सामने की स्त्री ने अपने को बचाने के भाव से अपनी दृष्टि फिर बाहर कर ली।

...क्या है यह वितृष्णा ? और इस ममता का अर्थ क्या है ? क्या है इस नारी का भाव ? क्या चाहता है यह ? उसके मन में अपने प्रिय के छोड़ने का दुःख हो सकता है, और उसी के कारण यह भी सम्भव हो सकता है कि वह उदास हो और उसे इन स्टेशन के आदमियों को देख कर अपने परिवार को छोड़ने की सुधि आ गई हो, इसी कारण उसे इनको देख कर अज्ञात भाव से चिढ़ हुई है और दूर छोड़ आने के बाद अपने परिवार की ममता फिर इस बहाने जाग गई है।...पर कौन कह सकता है कि यह ऐसा ही है और कुछ इस रमणी के मन में नहीं है ? हो सकता है कि छोड़ आने वाले के प्रति उसकी वितृष्णा रही है और अपने भविष्य के प्रति ही उसकी ममता जाग रही हो ! कौन कह सकता है ? नारी के हृदय को कौन समझ सकता है ? वह कब क्या

चाहती है, उसके मन का कब क्या भाव रहता है, कौन कह सकता है, कौन समझ सकता है ? वह नहीं समझ सका, उसके लिए वह सदा एक रहस्य रही है...

नारी रहस्य है...और क्या कहा जा सकता है । भाभी ने कहा और उसे स्वीकार करना पड़ा । विवाह करना है इसलिए उसने मान लिया, लड़की अच्छी है और क्या चाहिए, उसके लिए सोचने जैसी बात रही नहीं । उसने ऐसा ही कहा है, भाभी से और नीरा को भी उसने यही लिखा है ।...पर क्या यह इतना ही रहा है...हाँ इससे भिन्न और क्या हो सकता है ? उसने लड़की देखा, पसन्द का इसी अर्थ में कि उसने समझा लड़की सुन्दर है...शायद सुसंस्कृत भी, भाभी ऐसा ही तो कहती थीं । वह क्या सोच-समझ सकता था, उसे जब कि कोई आग्रह ही नहीं रहा !...और उस दिन...और उस...दिन...उसे क्या हो गया था...श्याम सुन्दरी...वह भी तो सुसंस्कृत थी, और उसकी अपनी दृष्टि से सुन्दर भी...एस० सुन्दरी...उसकी सहपाठिनी...उसने उसके साथ कमबायंड स्टेडी की थी...उसने उसके साथ उसकी पोज़ीशन से एक ही नम्बर पीछे तीसरे स्थान से एम० ए० की परीक्षा पास की थी... और उसकी ही प्रेरणा से उसने रिसर्च ज्वाइन किया था...

...सुन्दरी के ड्राइंगरूम में वह बैठा है...सुन्दरी ड्रेस करके बाहर आने ही वाली है...वह प्रतीक्षा कर रहा है, उसके मन में एक हल्की गूंज है—डियर नरेश, आ' एम जस्ट कमिंग—उसे लग रहा है वह किसी मादक सुगन्ध से भर गया है, उसके शरीर के प्रत्येक स्नायु में बहुत हल्का तनाव है, जैसे उसके मन पर इस सुगन्ध ने नशे का काम किया हो । वह बैठा है, बिल्कुल चुपचाप, और उसके मन में न जाने कैसी उत्सुकता आवेश की सिहरन उत्पन्न कर रही है...वह उसी सिहरन-पुलक का अनुभव करते हुए सुन्दरी की प्रतीक्षा कर रहा है...

अन्दर से आवाज़ आ रही है—'मर्मा, मैं ज़रा नरेश जी के साथ सिविल लाइंस जा रही हूँ। क्या आप को तो कुछ मँगाना नहीं है।' उत्तर में कुछ दबा हुआ भाव है जिसे वह समझ नहीं पाया या समझने की ओर उस समय उसका ध्यान ही नहीं था।—'ऐसे ज़रूरत तो ख़ास नहीं थी, पर तुम जा ही रही हो तो अपने डैडी के लिए पसन्द करके कोई सा ऊन लेती आना...हाँ हाँ, जो तुमको पसन्द आ जाय, मेरी भी क्या पसन्द। ...अरे अपनी डैडी की मर्ज़ी ही चलाई...लेकिन तुमको कोई संकोच हो तब फिर कभी देखा जायगा।'...

...एस० सुन्दरी ने स्वयं गाड़ी निकाली और वह उसकी सीट के बगल की सीट पर बैठ जाता है...ऐसा कई बार हुआ है, वह अभ्यस्त है। अनेक बार वह सुन्दरी के साथ मार्केटिंग के लिए चौक या सिविल लाइंस गया है, उसे कभी कोई संकोच नहीं हुआ। पर उस दिन उसे न जाने कैसा संकोच लग रहा है...उसके मन में एक नये किस्म की मादक भावना जन्म ले रही है...वह अपरिचित सिहरन और कम्प का अनुभव कर रहा है। मोटर आगे बढ़ रही है...सड़क की चढ़ाई पर आगे दौड़ने लगती है...और वह आज न जाने क्यों संकुचित है...उसके शरीर में रोएँ जैसे कुछ ठंढ से खड़े हो गये हैं। वह चुपचाप बैठा है...यह क्या मोटर तो पार्क में आगे बढ़ने के बजाय दाहिने पर टर्न लेती है...ऐसा क्यों... सिविल लाइंस का रास्ता तो बिल्कुल सीधा पार्क के बीच से है...और मोटर पार्क के समानान्तर भाग रही है। उसके मन में प्रश्न उठता है, पर उसके मन की स्थिति कुछ पूछने जैसी नहीं है। वह चुपचाप बैठा रहा...और अपने स्वभाव के विरुद्ध सुन्दरी भी मौन है...मोटर ने थार्न-हिल रोड को क्रास किया और कर्नलगंज को पार कर रही है...वह समझ नहीं पा रहा है कि वे कहां जा रहे हैं...शायद किसी संगिनी को पिक-अप करने की बात होगी। विचार उठा, और कुछ देर मन में रुका हो जैसे...उसे यह विचार रुचिकर नहीं लगा...वह उससे पूछना चाहता है, पर न जाने कैसा लगता है...जैसे वह मौन रहने के लिए विवश हो।

मोटर अब विद्यालय के सिनेटहॉल के सामने वाली सड़क से गुज़र रही है।

···वह बल लगा कर उसके मुख की ओर देख ही लेता है...बग़ल में सुन्दरी बैठी है, स्टियेरिंग पर उसके दोनों हाथ बहुत कोमल भाव से धीरे-धीरे हिल रहे हैं और वह बैठी है बहुत ही असम्पृक्त भाव से। वह खीझता है और मन ही मन झुँझलाता है...यह बात क्या है कि पता भी नहीं है कहाँ जाना है, किधर जा रहे हैं और उस पर यह कि मौन चुप जैसे कुछ मतलब ही नहीं है...वह है ही कुछ नहीं...केवल अपनी इच्छा अनिच्छा का सवाल है। फिर वह क्यों इस प्रकार बैठा रहे, उसका प्रयोजन है...वह क्यों न यहीं उतर जाने के लिए कहे...पर वह कह नहीं सका और गाड़ी फाफामऊ रोड पर मुड़ चुकी थी...आगे बढ़ती जा रही है, आगे दौड़ती जा रही है। रफ़्तार बहुत तेज़ है...वह सुन्दरी की ओर फिर देख लेता है...वह बिल्कुल चुपचाप है, अपने आप में व्यस्त हो... ऐसा नहीं लगता वरन् अपने आप में बिल्कुल खोई-खोई...उसे कोई मतलब नहीं कि मोटर कहाँ जा रही है, किधर जा रही है...उसे कोई वास्ता नहीं कि उसके साथ कौन है.. उसके हाथ में स्टियेरिंग है और उसका पैर नीचे एक्सीलेरेटर पर धीरे-धीरे अधिकाधिक दबता जा रहा है...

···पी० सी० सी० ग्राउण्ड, मिलेटरी फ़ील्ड, रसूलाबाद की सड़क, स्टैनली रोड सब पार हो चुके हैं और अब मोटर गंगा ब्रिज के चढ़ाव पर है...आख़िर कहाँ जा रहे हैं, यह हो क्या गया है श्यामा को?...फिर एकाएक उसके मन में वही सिहरन रेंगने लगती है, उसे लग रहा है कि इस अक्टूबर के अन्त में ही इतनी ठंडक है और वह अन्दर ही अन्दर जैसे कंप का अनुभव कर रहा है। मोटर ब्रिज पार कर रही है, सर सर खम्भों की गुमटियाँ निकली जा रही हैं और उसी भावावेग में गंगा के जल पर दृष्टि पड़ती है...आकाश की बिखरी हुई लाली में गंगा का जल दूर तक लाल प्रकाश की धारा में फैला हुआ है, एक झलक से अधिक कुछ नहीं।...मोटर फाफामऊ कस्बे को पार कर रही है, उसने

एक्सीलेरेटर से पैर ज़रा भी ढीला नहीं किया...उसकी सिहरन में सतर्कता का भय मिल गया है और वह कुछ कहना चाहता है, पर वह कुछ भी कह नहीं सका। सड़क लगभग सूनसान है और इसलिए गाड़ी सर से कस्बा पार कर आगे बढ़ गई, आगे बढ़ती गई...रेलवे क्रासिंग पार कर वह अब बनारस की सड़क पर उसी ५० मील की रफ़्तार से भाग रही है... दोनों ओर के ऊँचे-नीचे पेड़,-कटे-बेकटे,जुते बेजुते खेत सब पीछे छूटते भाग रहे हैं, सारा वातावरण सन्ध्या की लालिमा से डूब कर रंगीन हो गया है...सात, आठ, नव, दस...बारह, तेरह मील गुजरते जा रहे हैं...

वह नहीं समझ पा रहा है कि यह सब क्या हो रहा है...अब लेकिन इस मूर्खता को अधिक नहीं सह सकेगा...आखिर इस प्रकार वे जा कहाँ रहे हैं...उसे इस प्रकार का अनुभव कभी नहीं हुआ। ऐसा हुआ है कि सिविल लाइंस की बात कह कर वे अल्फ्रेड पार्क कुछ देर घूमते रहे हों, ऐसा भी हुआ है कि वे लोग लाइब्रेरी के लिए चल कर सिविल लाइंस में कुछ देर के लिए काफ़ी हाउस चले गये हों...बस यों ही थोड़ी चहलक़दमी करने के लिए या एक-एक कप काफ़ी पी लेने के लिए। हाँ एक बार इसी प्रकार वे सिनेमा चले गये थे...परिवार के साथ जाने की बात और है...हाँ उस बार इसी प्रकार वे सिनेमा पहुँच गये थे...

उसका ध्यान भंग हुआ, कम्पार्टमेंट की स्त्री-साथी खड़ी होकर अपना अटैची उतार रही है और उस पर रखा हुआ टिफ़िनकैरियर उठाने में खिसक कर गिर गया है, उसी की झनझनाहट से वह चौंक पड़ा है... उसका चौंकना कुछ इतना स्पष्ट हुआ कि स्त्री को लगता है कि उसने उसे नींद से जगा दिया है—"क्षमा कीजियेगा, मेरे हाथ से यह अनायास ही गिर गया है...मैंने आप की नींद में बाधा पहुँचाई है।" और यह कहती हुई वह एक पुस्तक अटैची से निकाल चुकी है...वह अपने चौंकने पर ऐसा संकुचित हो उठा कि समझ ही नहीं सका उत्तर क्या

है। लेकिन दोनों की दृष्टियाँ ज़रूर मिल गईं, उसने जैसे कहा हो कि इस चौंकने में दोष तो मेरा ही है, कुछ सँभलकर वह उत्तर दे पाया—"नहीं नहीं, ऐसी बात नहीं है।" पर वह खुद नहीं समझ सका कि वह कहना क्या चाहता था। स्त्री की दृष्टि में परिचय का निमंत्रण हो जैसे, पर उसके संकोच को देखकर उसने खीझ कर अपनी पुस्तक खोल ली और प्रत्यक्ष रूप से वह पुस्तक में व्यस्त हो गई। वह उसके निमंत्रण की ओर आकृष्ट हुआ, पर अब व्यर्थ है।...वह कुछ देर तक उस स्त्री के इस व्यवहार पर सोचता रहा है, पर...

इस स्त्री ने निमंत्रण देकर क्यों वापस कर लिया। ऐसा लगा था स्पष्ट ही कि वह जैसे बात करना चाहती है, उसी के समान यह रास्ता उसके लिए भी बोझिल होता जा रहा है, कटना कठिन हो रहा है और वह साथी से कुछ कह-सुन कर समय काटना चाहती है...अच्छा है, वह भी उससे इधर-उधर की बातें करके समय बिताना चाहता है। यह सब पिछले जीवन की अतीत घटनाओं, परिस्थितियों में उसका अपना अस्तित्व फैला हुआ है और उनमें जीना, उनकी स्मृति में जीवित रहना उन सारी संवेदनाओं को फिर झेलने जैसा है...और वह भी अतीत क्षणों की सजीव ऊष्णता के अभाव में। जीवन के वर्तमान में झेलने की अपनी गर्मी, अपनी शक्ति रहती है...अस्तित्व यदि संवेदित होता है तो उसमें ग्रहण करने योग्य क्षमता भी रहती है...पर इस अतीत को पुनः जीवन में, उसकी संवेदनाओं के साथ ग्रहण करने में केवल सहने की, झेलने की अनुभूति बच पाती है। अपनी एकान्त स्थिति में यह अनुभूति तो बढ़ती जाती है, कभी इसमें प्रस्तुत वर्तमान की कल्पना अपना रंग प्रदान कर और गहराई प्रदान कर देती है।...यह ठीक है कि इसमें अतीत क्षणों जैसी तीव्रता और तीखापन नहीं रहता है, पर अतीत से वर्तमान तक फैले हुए अस्तित्व की चेतना में वह व्याप्त होकर वर्तमान को बहुत बोझिल बना देती है...।...वह चाहता है कि सामने की स्त्री उसके वर्तमान को सार्थक कर दे, वह अपने इसी वर्तमान में जीने का मौक़ा

पा सके...और उतने क्षणों के लिए वह अपने अस्तित्व के बोझ से बच सके। पर उसकी असावधानी से वह मौक़ा निकल गया, स्त्री ने अपने परिचय के आदान-प्रदान का निमंत्रण वापस ले लिया, उसने अपने संकोच के कारण अतीत से मुक्त होने का अवसर खो दिया। वह अपनी कोई पुस्तक निकाल सकता है...पर यह सम्भव नहीं है।

...आज उसको यह सम्भव नहीं जान पड़ रहा है, उसके मन में न जाने कितने अतीत के पर्त खुलते जा रहे हैं, एक के बाद एक, कितने ही बीते क्षण उसकी चेतना में तैरते आते हैं...अस्तित्व किसी तरल पदार्थ, बहुत हल्के तरल पदार्थ के समान फैला हुआ है...अतीत, उसका अपना अतीत, 'उसके अनेक क्षण, अपने रंग-रूप अनुभूति के परिवेश में तैरते चले आ रहे हैं, और उस सागर जैसे फैले तरल पदार्थ में न जाने कहाँ का ज्वार आ गया है कि उसकी बाढ़ को रोक पाना सम्भव नहीं जान पड़ता...और वह अपने को, अपने वर्तमान अस्तित्व को इस सैलाब से बचा सकने में असमर्थ, उन्हीं क्षणों के सहारे सागर में तिर रहा है...उतराता हुआ बह रहा है...

वह पैलेस में ऊपर के बाक्स में बैठा है...श्याम सुन्दरी उसके निकट है, बहुत निकट...वे मार्केटिंग के लिए आये हैं, पर एकाएक सुन्दरी ने दो टिकट ले लिए हैं और वह बिना अधिक कुछ समझे बाक्स में आ बैठा है। न्यूज़ रील समाप्त हो चुकी है और मुख्य पिक्चर शुरू हो गई है...वह चुपचाप है...इस एकाएक उपस्थित हो गई परिस्थिति में वह हतप्रभ सा है।...वह पूरे मन से पिक्चर देख नहीं पा रहा है... वह न जाने कितनी बार सारे परिवार के साथ पिक्चर देखने सुन्दरी के साथ आया है और इसी प्रकार वे दोनों एक दूसरे के बिल्कुल पास बैठे हैं।...पर यह आकस्मिक जो घटित हो गया है, उसको वह सहज भाव से नहीं ले पा रहा है। सुन्दरी ने जैसे उसकी परेशानी का कुछ अनुभव किया हो और वह उसका रस लेने के लिए ही जैसे चुप हो!...अँग्रेज़ी

पिक्चर है, वह फ़ालो कर रहा है, पर उसको कुछ पकड़ नहीं पा रहा है...सुन्दरी ने कहा है कि पिक्चर बहुत अच्छा है, उसकी पिक्चर सम्बन्धी रुचि का वह क़ायल है। कथा मैक्सीको की रंगीन, रोमांटिक और खूँख़ार ज़िन्दगी पर आधारित है...पर उसका ध्यान उस ओर केन्द्रित नहीं हो पा रहा है...सुन्दरी धीरे-धीरे उस तीखी कहानी में डूबती जा रही है।

...लेकिन वह कथा से अधिक उसके वातावरण से न जाने क्यों प्रभावित हो रही है...उसे लगता है जैसे वह स्वयं उस कहानी का पात्र हो और वह स्वयं उस कहानी में जी रहा हो...उसके मन में न जाने कैसा अनजान नशा छाता आ रहा है...उसे लग रहा है कि उसके चारों ओर कोई मादक गन्ध फैल रही है। उसे लग रहा है, उसको किसी की गरम उच्छ्वासों का निकटता से अनुभव हो रहा है...उसे लग रहा है कि उसकी स्वाँस कुछ तेज़ चल रही है...उसके स्नायुओं का का तनाव कहानी के साथ बढ़ता जा रहा है...पिक्चर्स में इस प्रकार के आवेग का अनुभव उसने कभी पहले नहीं किया है...उसे अपने आप पर आश्चर्य हो रहा है, पर वह निरुपाय है...कोई अज्ञात प्रभाव है जो उसको इस प्रकार विवश कर रहा है...शायद यह कथा ही ऐसी हो। उसके शरीर में कई बार सिहरन उठी और सारे अस्तित्व में जैसे व्याप गई, कँपकँपी उठी और फैल गई...उसे यह क्या हो गया है...धुँधले अन्धकार में जादू-सा फैला है और वह उससे अविभूत हो रहा है।

...एकाएक सुन्दरी ने उसके हाथ को अपने हाथ में लेते हुए कहा—'नरेश जी।' स्पर्श से उसके सारे शरीर में एक बिजली की तरंग सी दौड़ गई और उससे उसका सारा शरीर झनझना उठा। सुन्दरी ने उसके हाथ को और कसते हुए फिर पूछ लिया—'कैसा है पिक्चर।' पर उसे लगा प्रश्न ऐसा ही नहीं है...वह उसकी किसी गहरी व्यंजना को ग्रहण करके और भी अधिक रोमांचित होता है...अपने को किसी प्रकार सँभाल कर कह पाता है—'बहुत अच्छा, बिल्कुल डुबो देने वाला,

और तुमको।' उसने वैसे ही कुछ न कुछ कहने के लिए पूछा है, इसका उसको भी अनुभव है...वह अपनी घबराहट को दाबना चाहता है...लेकिन उसने उस अँधेरे में श्यामा की ओर देखने का प्रयत्न किया... उसके पास ही लगभग सट कर वह बैठी है। उसके मुख को देखने के लिए उसे किंचित मुड़ना पड़ा और उसे लगा, उसने अनुभव किया कि सुन्दरी भी फ़िल्म की ओर न देख कर उसकी ओर ही देख रही है... उस अँधेरे में उन दोनों ने एक दूसरे के अस्तित्व का जैसे पूरा अनुभव किया हो!

...वह देख रहा है, उसे अनुभव हो रहा है...श्यामा...एक स्त्री, केवल मात्र एक नारी उसके पास सट कर बैठी है, उसके हाथ ने उसे जकड़ लिया है...वह केवल एक युवती है और कुछ नहीं...उसकी सह-पाठिनी श्यामा नहीं...अपने लॉ के प्रोफ़ेसर की भतीजी सुन्दरी नहीं... इस समय उसके सामने जो है वह केवल युवती नारी है...और वह भी केवल!...उसे अत्यन्त निकट से श्वाँस की उष्णता का अनुभव हो रहा है, उसे लगा वह उष्णता अधिकाधिक उसे उद्विग्न कर रही है, उसके समीप आती जा रही है...उसके हाथ का बन्धन अधिकाधिक कसता जा रहा है। रील चल रही है...वह मैक्सिकन स्त्री अपनी तीव्र भावावेश की स्थिति में अपने प्रेमी को गहरे बहुत गहरे आलिंगन पाश में बाँध लेने के लिए विकल हो उठती है...वह अपने भावावेग में दुर्धर्ष हो जाती है। और उसने अनुभव किया कि उसका सारा अस्तित्व किसी बिजली की करेंट से छू गया हो...उसे लगा उसके सारे शरीर में, उसकी सारी चेतना में एकाएक उष्ण रक्त का प्रवाह बहुत तेज़ी से दौड़ गया हो... उसने तीखे तनाव का अनुभव किया... उसी क्षण सारा कमरा प्रकाश से भर गया और उसने देखा रजत पट पर लिखा है—इन्टरवल।

सुन्दरी एकाएक चौंक कर कुछ हट गई, उसकी आँखों में एक चमक उठी और विलीन हो गई, उसने अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली।... उसका सारा तनाव धीरे-धीरे उठे हुए ज्वार के समान उतर गया।...

उसकी सारी घबराहट दूर हो चली...उसने सुन्दरी के अनायास के संकोच को दूर करने के लिए कहा—'बहुत अच्छा रहा, यह पिक्चर तो बहुत पावरफ़ुल है, श्याम !' सुन्दरी ने आँखें उठाई, अब उसका भाव बदल चुका था। उसकी आँखों ने जैसे कहा हो, हाँ ऐसा ही तो !... पर...पर उस दिन वह आगे, इन्टरवल के बाद उस पिक्चर को फिर किसी प्रकार भी नहीं देख सका, उसका सिर दुखने लगता है, उसे मतली सी आने लगती है और दोनों को उठ आना पड़ता है... और उस दिन उसे इस बात का अनुभव न हो कि सुन्दरी को यह उसका इस प्रकार उठ आना किसी प्रकार अच्छा नहीं लगा है, ऐसी बात नहीं है।...पर इससे आगे वहाँ रुकना उसके लिए किसी प्रकार सम्भव नहीं था, वह नहीं रुक सकता था और वह नहीं रुका।

उसने अपने को बचाने के लिए, अपनी स्मृति से मुक्त होने के लिए अपने को झकझोर कर जगा दिया...उसने सामने अपने कम्पार्टमेंट में देखा, उसकी सहयात्री पुस्तक पढ़ते-पढ़ते ऊँघ गई है...और सारा कम्पार्टमेंट चुप है, शान्त है...ट्रेन की झक झक, खट खट की प्रतिध्वनियों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुनाई दे रहा है। वह कहीं से कोई आधार चाहता है जिसके सहारे अपना समय काट सके...एक्सप्रेस तेज़ भाग रही है, उसकी कलाई पर बँधी हुई घड़ी की सुइयाँ भी चल रही हैं, सेकेण्ड की सुई कूदती हुई भाग रही है...पर फिर भी समय बीत नहीं रहा है, जैसे वह भारी होकर पग-पग आगे बढ़ रहा है...काल का प्रसरण उसके अस्तित्व से घिर कर अतीत की ओर मानों खिंच गया हो और इस प्रकार उसकी गति रुक गई हो।...काल के इस प्रकार स्थिर हो जाने से उसका अस्तित्व घिर कर संकुचित हो गया है, उसका प्रसार, उसका सारा चेतन-प्रवाह रुक कर वर्तमान से उलटा बरबस अतीत की ओर ही उमड़ा पड़ रहा है। उसके लिए यह सम्भव नहीं रह गया है कि वह अपने वर्तमान में जी सके, क्योंकि वर्तमान का प्रति क्षण अतीत और

भविष्य की निरन्तरता को स्पर्श करता रहता है...और उसका सारा भविष्य इस क्षण अदृश्य लग रहा है, उसके मन में वह शक्ति नहीं है जो भविष्य को आलिंगित करती है! वर्तमान तो हमारी स्थिति है, भविष्य हमारी शक्ति, पर अतीत हमारे मन की दुर्बलता का ही प्रतीक है।...और वह इस क्षण उद्विग्न है, उसका मन इस क्षण दुर्बल हो उठा है...

...गंगा ब्रिज...चाँदनी रात...शरद की पूर्णिमा...दोनों पुल के बीच की एक गुमटी पर खड़े हैं...मोटर कुछ दूर पर खड़ी है...अभी तक उसके मन का वह भार जैसे बाकी है...कुछ मिनट पहले ही उसे लग रहा था उसके मन पर, उसके सारे शरीर पर स्वप्न-निद्रा का दैत्य चढ़ कर बैठ गया है...उसके भार से, उसके घेर में वह दम घुटने का अनुभव कर रहा है। उसे लग रहा था कि उसकी छाती पर चढ़ा हुआ दैत्य उसका दम घोंट कर ही हटेगा...और वह उसके भार के नीचे छटपटा रहा है...उसे इस बात का भान है कि यह स्वप्न का दैत्य भ्रामक है, उसकी आँखें खुलते ही अदृश्य हो जायगा, पर वह आँखें खोलने के लिए छटपटाता रहा, हाथ-पैर उठाने का प्रयत्न करता रहा...लेकिन सब बेकार, सब निरर्थक...वह दैत्य ज्यों का त्यों चढ़ा बैठा रहा और उसका दम घुटता रहा, उसकी साँस जैसे अब रुकी, अब रुकी।...वह उस असह्य वेदना को सहता रहा...अन्त में सुन्दरी ने एक्सीलरेटर से पैर को कुछ ढीला करते हुए कहा था—'हम प्रयाग से २० मील आ चुके, अब काफ़ी हुआ। क्या राय है?' एकाएक उसकी नींद जैसे खुल गई हो और वह दैत्य गायब हो गया। उसके मन से, उसके अस्तित्व से वह असह्य बोझ उतर गया।...और इस क्षण गंगा ब्रिज पर वह पूर्ण स्वस्थ हो चुका है, पर उसे उस भार का अनुभव अब भी हो रहा है, जैसे दैत्य ने अपना प्रभाव छोड़ दिया हो...।

दोनों एक दूसरे के सामने हैं...पीछे की रेलिंग का सहारा लिए गंगा की धारा की ओर देख रहे हैं...और सामने चाँदनी के तीखे प्रकाश में

गंगा की सारी धारा बिल्कुल साफ़ दिखाई दे रही है...चाँदनी है कि उमंगित होकर फैल गई है...और उसका ऐसा तीखा प्रकाश हो सकता है, इसका अनुभव वह आज प्रथम बार ही कर रहा है...सूर्य के प्रकाश में ज्वाला होती है, असह्य ताप होता है...पर यह चाँदनी उससे अधिक तीखे ढंग से फैल सकती है, उससे कहीं अधिक सारे शरीर के स्नायुओं को ताप से उत्तेजित कर सकती है, यह उसे आज ही लग रहा है।... वह देख रहा है...सामने गंगा की फैली हुई धारा के बीच में चन्द्रमा की जगरमगर प्रकाश की प्रवाह धारा चली गई है...इस धारा में प्रकाश की तरंगें झलझलमल झलमल कर रही हैं और सारी धारा इस प्रकाश धारा के साथ चमकती हुई श्यामल धारा ही जान पड़ती है...किनारों पर दोनों ओर रेत का विस्तार चमक रहा है, उसकी तरंग रेखाएँ मानों उभर आई हों। कगार और उन पर फैले हुए पेड़ काली छायाओं में बहुत स्पष्ट और व्यक्त हो गये हैं।...

दूर कहीं किनारे की कोठी का प्रकाश चाँदनी में धुँधला-सा टिमटिमा रहा है...और कहीं कोई जल पक्षी कें काँ कें काँ करता बोल रहा है... उसकी आवाज़ में जैसे कोई वेदना छिपी हो...यह वेदना उसके मन पर उभर रही है और उसके मन, शरीर का सारा तनाव इस वेदना को जैसे खींच रहा हो।...उसके अन्दर कोई है जो इस सारे उत्तेजक अनुभव में व्यथित हो उठा है...उसे याद आ रही है कि...कि नीरा जीजी का पत्र आज ही उसे प्राप्त हुआ है...उन्होंने उसे लखनऊ के मेडिकल कॉलेज से लिखा है...लेटे ही लेटे किसी प्रकार सबसे छिपा कर लिखा है...धीरे-धीरे चलने वाली उनकी बीमारी में यह पहला अटैक है...ज्ञात हुआ है कि उनकी आँतें बेकार हो रही हैं, उनको आँतों का टी० बी० हुआ है... एक दम कम्पलीट रेस्ट, हास्पिटल में महीनों का वास, न जाने कितने प्रकार के इंजेक्शन...और यह उनके जीवन-मरण की समस्या है।... उसके मन का तनाव अपने आप कुछ ढीला पड़ रहा है...उसकी उत्तेजना शांत होती जा रही, उसे नीरा के क्लेश, उसकी पीड़ा का अनुभव हो

रहा है...पर चाँदनी वैसी ही मादक, वैसी ही उत्तेजक, वैसी ही डुबो देने वाली है...वह अब भी गंगा की धारा पर उल्लसित होकर फैली हुई है...पर इस सारे वातावरण में उस जल-पक्षी का कें काँ का स्वर ही अधिक प्रधान हो गया है...उसके मन पर वही उभर रहा है...उसके शरीर में कोई अज्ञात व्यथा व्याप गई है, उसके शरीर में जो उष्ण प्रवाह बह रहा था, वह जैसे दुखने लगा हो।...

सुन्दरी उसकी ओर मुँह करके भी इसी प्रकार नदी के प्रवाह को देख रही है, चांदनी के ज्वार को देख रही है। वह चुप रही, मौन रही, वह भावशून्य-सी उस सब को पीती रही...फिर उसने एकाएक युवक की ओर देखा, उसकी दृष्टि में उसने अपनी दृष्टि डाली...चाँदनी के प्रकाश में, उसके उन्मादक प्रकाश में उसने सुन्दरी की आँखों में न जाने कैसे भावों की छाया देखी...उसे लगा वह किसी गहरे भाव से उसे देखती रही है, और उसके उस देखने में चाँदनी की ही प्रतिछाया है, चाँदनी ने जैसे उसके मन में प्रवेश किया हो।...वह अब भी उसकी ओर देख रही है...वह ढीली-ढाली, कोमल-कोमल, अत्यन्त सहज भाव से रेलिंग का सहारा लगाये खड़ी है...उसके देखने में जैसे कुछ प्रार्थना का भाव हो, और वह समर्पण की मुद्रा में खड़ी है। एक क्षण के लिए उसके मन का, शरीर का, उसके स्नायुओं का तनाव उत्तेजित हो उठा, उसे लगा उसके सारे अस्तित्व में कोई ज्वार अपने पूरे वेग से ऊपर चढ़ता आ रहा है, और कोई चारा नहीं है, केवल उसके सामने झुक जाने में ही रक्षा है, बचाव है। उसे लगा उसके स्पाइनल में कोई सुरसुरी उठी हो और वह सारी चेतना में बहुत तेज़ी से फैलती जा रही है...।

दूर से पक्षी बोल उठता है कें काँ कें काँ...और उसे उसी क्षण याद आ जाता है...नीरा मेडिकल कॉलेज में है...उसने बहुत क्लेश के साथ पत्र लिखा है...सिस्टर्स और नर्सों से छिपा कर...निश्चय ही उसकी तबियत बहुत ख़राब है...जीवन-मृत्यु का सवाल है। उसके मन का सारा आवेश शिथिल हो जाता है...उसका सारा तनाव ढीला पड़ जाता

है...पर इस परिवर्तन को सुन्दरी ने लक्ष्य नहीं किया, उसने अपने मन के भाव को उस वातावरण में फैलाते हुए कहा—'नरेश जी, देख रहे हैं कैसी अच्छी चाँदनी है। तुमको जैसे आश्चर्य ही आश्चर्य होता है। वह स्पीड़ तो केवल एक सेंशेशन के लिए थी, मेरा मतलब आज यहाँ आने से था।...पर तुम ऐसे गुम क्यों हो...यह क्या होता जाता है तुम्हें ! ऐसे ही एकाएक चुप मौन हो जाते हो। मैं तो हैरान हो जाती हूँ कि वह पहले वाले नरेश जी कहाँ हैं ?' उसे कुछ सहारा मिल गया—'यह तुम्हारा आइडिया बहुत स्प्लैंडिड रहा। चाँदनी बहुत तीखी है, कैसी मादक लग रही है। और तुम देख रही हो उस प्रकाश की अन्तर्धारा को, कैसा चाँद की ओर फैली हुई है।'

फिर कुछ देर दोनों मौन हैं...चुपचाप एक दूसरे को देख रहे हैं... चाँदनी उसी प्रकार तीखी होती जा रही है...गंगा की धारा मौन स्पष्ट हो रही है...दूर उस पक्षी की आवाज़ आ रही है कें काँ कें काँ... एकाएक जैसे निराश होकर सुन्दरी ने कहा—'नरेश जी, एक बात क्या मैं पूछूँ ? यदि तुम उत्तर देना पसन्द करो।' नरेश के लिए चुप रहना और इस प्रकार मौन वातावरण फैला रहना असह्य होता जा रहा है, इसलिए वह तुरन्त कह देता है—'हाँ, क्यों नहीं, ज़रूर पूछिये।' एक क्षण के लिए फिर दोनों चुप रहते हैं, आकाश में चाँद ऊपर चढ़ आया है, तारे फैले हुए हैं, टिमटिमा भर रहे हैं...चाँदनी के प्रवाह में जैसे बहे जा रहे हों...नीचे गंगा का पुल चला गया है और उनके सामने गंगा का प्रवाह झलझला रहा है। कुछ रुक कर सुन्दरी ने कहा—'नरेश जी, मुझे लग रहा है कि मैं तुम्हारे साथ अनधिकार इतना आगे बढ़ आई हूँ। शायद मुझे भ्रम रहा है, लेकिन इस मेरे भ्रम को तुमसे बढ़ावा ज़रूर मिला है, इतना आज तुमको भी मानना पड़ेगा।' फिर वह मौन हो गई, उसे स्वयं लग रहा है कि उसकी बात अभी पूरी नहीं हुई है...पर न जाने किस भाव से वह मौन रह जाती है, उसे आगे कहने में बहुत आयास करना पड़ रहा हो जैसे।...लेकिन वह उसका क्या उत्तर दे ? ऐसा

नहीं कि वह उस दिन समझ नहीं सका था, उसको सुन्दरी का भाव, उसके हृदय की दिशा का आभास मिल न गया हो !

'''पर वह समझ नहीं पा रहा है कि इसका ही वह क्या उत्तर दे...श्यामा को भ्रम है, उसको क्या भ्रम है ? उसने क्या कभी उसे छला है, यह क्या कहना चाहती है श्यामा।...उसने उसे माना है, उसने उसे स्नेह और निकटता दी है, पर क्या कभी उसने इसे प्राप्त करने के लिए सुन्दरी को भ्रम में रखा है ? क्या उसने अपने विषय में कुछ छिपाया है ? आज उसे क्या ज्ञात हुआ है, उसने उसके चरित्र के कौन ऐसे पक्ष को देखा है जिससे वह समझने लगी है कि उसने कहीं कोई छल किया है ! उसने अपने को खोलते हुए कहा---'सुन्दरी जी, आप की बात मैं बहुत स्पष्ट रूप से समझ नहीं सका हूँ। मेरे जैसे एकाकी और उदास व्यक्ति के लिए आप का स्नेह और आत्मीयता क्या कुछ हो सकती है, इसे आप स्वयं भी नहीं समझ सकतीं...और तुमको जो बढ़ावा लगा है, वह मेरे लिए स्वाभाविक ही रहा है। हाँ, यदि अब आपको इसमें कहीं कोई भ्रम अथवा धोखा लगता हो, तो यह मेरे लिए बहुत बड़े क्लेश की बात होगी।' सुन्दरी ने अपनी आँखें धारा के प्रवाह से हटा कर उसके मुख पर डालीं, उसकी दृष्टि में आक्रोश की छाया चाँदनी में भी स्पष्ट व्यक्त हो गई...चाँदनी सीधे उसके मुख पर आ रही है, वह किंचित तनी खड़ी है...उसकी कोमलता और मादकता क्षण भर के लिए फैले हुए प्रकाश के साथ घुल गई। वह खड़ी रही इसी प्रकार...तनी हुई खड़ी रही और कुछ क्षणों बाद अपने को संयत करते हुए उसने कहा—'नरेश जी, मैं कृतज्ञ हूँ कि आप ने मेरे अपनेपन को स्वीकार किया।...पर मैंने नहीं सोचा था कि हमारे बीच आगे इस प्रकार की फ़ार्मलेटी के लिए गुंजाइश होगी।'...कुछ क्षण बाद उसे महसूस हुआ कि वह आज बेहद उदास है, और शायद इसी कारण सुन्दरी को उसके व्यवहार में कुछ अन्यथा लग रहा है...उसने स्थिति से अपनी रक्षा के लिए कहा—'आज मेरा मन उदास है, इसका तुम बुरा न मानना। आज नीरा का पत्र आया है,

उन्होंने एक प्रकार से बहुत निराशाजनक पत्र लिखा है...तुम जानती हो, उनकी तबियत इधर एक दो वर्ष से ठीक नहीं चल रही है और इस बार का अटैक काफ़ी कठिन है...वे मेडिकल कालेज में हैं।'

इस प्रकार उसने सुन्दरी से अपने व्यवहार की सफ़ाई पेश की... उसने सोचा सुन्दरी को इस प्रसंग में उससे सहानुभूति होना स्वाभाविक है। सुन्दरी का सारा तनाव जैसे ढीला पड़ गया हो, उसने रेलिंग का सहारा ले लिया...कोमल और मादक भाव से पुनः गंगा की चमकती हुई धारा को देखने लगी...कुछ क्षण फिर इसी प्रकार बीत गये। वह सुन्दरी की दृष्टि का अनुसरण करते हुए उसके मन के भाव को पकड़ना चाहता है...गंगा की धार में कहीं दूर कोई काली छाया तैरती हुई आगे की ओर बढ़ी आ रही है...दूर पर एक पक्षी ने पुनः टिटिही टिटीहिटी का स्वर भरा...स्वर उसका उस शून्य वातावरण को भेद कर गहराई से फैल गया। सीमान्त के वृक्षों की काली रेखा अधिक स्पष्ट होकर फैल गई है...वह इस वातावरण से घिरने लगा, उसका प्रवाह उसके मन को डुबोने लगा, और चाँदनी फैल कर उसकी चेतना को किसी रहस्य से आवेष्ठित करती रही। उसे अनुभव हो रहा है...वह अपने अस्तित्व के सारे आगे-पीछे के प्रसार को उस क्षण विस्मृत कर चुका है...उसे केवल इस अनुभूति की चेतना भर शेष रह गई कि वह है, उसके सारे अस्तित्व में कोई ज्वार आ रहा है।

और सामने सुन्दरी, नहीं मात्र एक युवती है जो उसके ज्वार को उद्वेलित कर रही है...विस्तार में फैला हुआ सागर है और उसके ऊपर चाँद है, पूर्णिमा का चाँद...वह अपने मादक प्रभाव से सागर में ज्वार पैदा कर रहा है। वह उच्छ्वसित होकर सुन्दरी का हाथ पकड़ लेता है...उसे लगता है सुन्दरी का हाथ बहुत ठंडा है, रेलिंग पकड़े रहने से शायद ऐसा हो गया है। सुन्दरी ने कोई बाधा नहीं दी, पर वह दूसरी ओर ही देखती रही...उसकी दृष्टि उसी प्रकार चाँदनी के साथ फैली रही, गंगा की धारा के साथ बहती रही, सीमान्त के वृक्षों की काली रेखा

के समान रहस्य लोक बनी रही। उसे लगा सुन्दरी के मन को उसने किसी प्रकार दुखाया है...उसके स्पन्दन की गति बढ़ रही है, उसके स्नायुओं में उष्णता जैसे रेंग रही हो...भावविह्वल होकर उसने सुन्दरी के हाथ को अपनी ओर खींच कर अपने ओठों से लगा लिया।...एक क्षण उसने कोई प्रतिरोध नहीं किया...पर एकाएक वह चौंक पड़ी, उसने अपना हाथ खींच लिया और उसके सामने दृष्टि उठा कर आक्रोश के स्वर में कहती है—'यह अधिकार तुमने खो दिया है या सचमुच तुमने कभी चाहा नहीं। कृतज्ञता का प्रतिदान यह बहुत हल्का है। और दया...वह तुम्हारी नीरा को ही मुबारक रहे...मैं, मुझे...' और बिना पूरी बात किये वह चल पड़ती है, वह स्तब्ध और जड़ देखता रहता है... उसने मोटर के पास जाकर दरवाज़ा खोला, अन्दर बैठकर स्टार्ट किया और मोटर चल पड़ी। वह देख रहा है, मोटर उसी के पास आकर खड़ी हो जाती है, वह मूक स्तब्ध खड़ा रहा, सुन्दरी ने बदले हुए स्वर में कहा—'नरेश जी चलिए, अब देर हो चुकी है डैडी और ममी प्रतीक्षा में होंगे।'...वह यन्त्रवत् आगे बढ़ा, हारा थका-सा।

ट्रेन रुकी हुई है, कोई माध्यम श्रेणी का स्टेशन जान पड़ता है। इस पीछे के हिस्से के सामने प्लेटफ़ार्म का विस्तार भर है जिसमें एक छोटा सा रेलवे का डाकघर और उसके पास ही पुलिस पोस्ट है...उसने जानना चाहा कि यह कौन स्टेशन है...पर नीचे उतरने का उसका जी नहीं हुआ।...साथ की महिला से कोई कुछ कह रहा है, शायद उनका नौकर हो सकता है, पर नहीं यह तो कोई कम्पार्टमेंट में आ रहा है। उसे अच्छा नहीं लगता, उसे लगता है उसके एकान्त में बाधा पड़ सकती है। पर वह प्रसन्न होता है...इस प्रकार उसके मन की घनी होती उदासी को घेरने का कम अवसर प्राप्त होगा...उसको समय काटने का सहारा मिल सकेगा।...यह तो कोई राजकुमार लगते हैं...राजकुमार द्वितीय श्रेणी में क्यों यात्रा करेंगे...बिल्कुल युवक, भीजती मसें,

भरा स्वस्थ शरीर, चौड़ा वक्ष, पिस्टल पड़ी हुई—'यही अच्छा रहेगा। अगले स्टापेज़ पर उतर ही जाना है, फ़र्स्ट में एक दम अकेले कौन बैठे।' साथ के लोगों ने उनका सामान ऊपर चढ़ा दिया, कई लोग पहुँचाने आये हैं, बातों से ज्ञात हो जाता है किशनगढ़ के कोई राजकुमार हैं, शिकार खेलने के लिए निकले थे।

युवक राजकुमार तीसरी खाली सीट पर बैठ गये और उन्होंने दृष्टि डाल कर कम्पार्टमेंट को देखा, मात्र लीला भाव से, जैसे कह रहे हों—मुझे क्या एक स्टेशन भर जाना है। फिर उन्होंने अपनी बेल्ट उतारते हुए सहज उत्सुकता से अपनी ओर देखते हुए युवक से पूछ लिया—'आपका कहाँ जाना है।' युवक को यह प्रश्न बहुत रुचिकर नहीं लगा और उसने सोचा यह कैसा राजकुमार है! इतना साधारण, इतना कॉमनप्लेस प्रश्न क्या कोई राजकुमार कर सकता है...राजकुमार जिनको सुसभ्य बनाने का उत्तरदायित्व अँग्रेज़ी शासकों ने अपने हाथ में लिया है...जिनमें राजस्थान के सामन्ती रक्त का सदियों से प्रवाह है...और जिन्हें योरप के सामन्ती संस्कारों की शिक्षा दी गई हो, उनका ऐसा साधारण व्यवहार, ऐसा असभ्य प्रश्न!...वह जानता है यह राजस्थान है, यहाँ प्रत्येक युवक कुअंर जी से कम होता नहीं और साधारण से साधारण जागीरदार का पुत्र राजकुमार होता है। पर उसका ध्यान इस बात की ओर बाद में आकर्षित होता है कि ऐसे प्रश्न के लिए उसने स्वयं भी उत्साहित किया है...चढ़ने के समय से वह उसकी ओर ही देख रहा है और यह इस प्रश्न की सहज भूमिका हो सकता है। उसने सामान्य शालीनता से उत्तर दिया—'जी, मैं...मुझे जैपुर जाना है...कुछ बता सकेंगे, बाँदीकुई जंक्शन कितने स्टेशन होगा...मेरा मतलब स्टापेज़ से है।' उसने बताया बस एक स्टापेज़ और है, वहीं उसको उतरना है। और वह कहता चला जा रहा है कि उसको शिकार से एकाएक वापस लौटना पड़ रहा है...इस अलवर राज्य के जंगलों में बहुत अच्छे शिकार के मौके हैं...वह कहता जा रहा है, पर युवक का

ध्यान अधिक देर उसकी बातों की ओर नहीं रह सका...उसने देखा राजकुमार की बातों में अप्रत्यक्ष रूप से, साथ यात्रा करने वाली महिला रस लेने लगी हैं और यह बात कुमार भी समझ चुका है, संभवतः इसी-लिए युवक की तरफ से अधिक प्रोत्साहन न मिलने पर भी वह अपने शिकारों की गाथा चलाता रहा।

...युवक ने देखा उसकी रिस्टवाच में सवा दो बज रहे हैं...और उसे याद आया, एकाएक ही...अभी तक उसने अपना दोपहर का खाना नहीं खाया है...उसे अनुभव हुआ कि वह भूखा है...पर यह भूख मन की इच्छा से कहीं अधिक शरीर की आवश्यकता के रूप में महसूस हो रही है। उसने अपना टिफ़िनकैरियर उतारा और खाने का सामान निकाल कर फैलाने लगा...साथ यात्रा करनेवाली स्त्री को उसको असमय खाने की तैयारी करते देख जैसे कुछ आश्चर्य हुआ हो, राजकुमार की कहानी से ध्यान हटाते हुए उसने पूछ लिया—'क्या अभी तक आपने लंच भी नहीं लिया था।' उसकी भंगिमा से लगा युवक के लंच अब तक न ले सकने में दोष उसका ही हो, वह ममत्व की दृष्टि से उसके खाना फैलाने को देख रही है...लगता है इस प्रकार वह स्वयं ही खाना सजा रही है...कोमल और आत्मीय भाव से। युवक ने अपना थर्मास उठा कर देखा उसमें पानी समाप्त हो चुका है! अब...अगले स्टापेज़ पर ले सकेगा, उसने मन में सोचा...उसके इस भाव को राजकुमार और स्त्री ने एक साथ पकड़ा...राजकुमार ने जानकार की तरह कहा—'नेवर माइंड, आई हैव गाट।' यह कह कर उन्होंने अपनी जोधपुरी सुराही निकाल ली...पर इसी बीच साथ की स्त्री ने बहुत शालीनता और सौजन्य के साथ पूछा—'एक्सक्यूज़ मी, हाऊ डू यू लाइक दि आॅइडिया ऑव टेकिंग ए कप आव काफ़ी।' और इसके साथ ही उसने अपनी कंडी से थर्मस निकाला, साथ ही तीन काफ़ी के प्याले भी निकाल लिये...युवक ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, लगा उसे उत्तर की अपेक्षा नहीं है। और राजकुमार ने एकाएक इस ऑइडिया का समर्थन

किया—'श्योरली, स्प्लैनडिड ऑइडिया, मेनी मेनी थैंक्स, मैडम फ़ार योर काइंड हास्पिटैलटी।' यह कह कर वह महिला को सहायता देने के लिए अपनी सीट से उठने लगा...युवक को आश्चर्य है, वह कुछ नहीं कह सका...उसकी दृष्टि में महिला के प्रति कृतज्ञता का भाव झलक गया...वह स्लाइसेज़ और सैंडविचेज़ उनकी ओर बढ़ता हुआ कह देता —'तो फिर मेरे लंच के साथ आप लोगों का नाश्ता ही हो जाय।' कुमार ने बिना तकल्लुफ़ के स्वीकार करते हुए कह दिया—'दैट्स गुड ऑइडिया, लेकिन एक ही दें, खाना कुछ पहले ही खाया है।'

फिर मुस्कराते हुए उन्होंने शुरू कर दिया कि शिकारियों के खाने पीने की व्यवस्था कितनी अनिश्चित रहती है...साहबों के शिकार की बात वह नहीं करते जो केवल लंच, डिनर और बालडान्स से ही घिरे रहते हैं...सच पूछिये तो उन्हीं के लिए शिकार का बहाना लिया जाता है। वह कहते जा रहे हैं और युवक ने देखा स्त्री ने शालीनतापूर्वक धन्यवाद के साथ उसके ऑफ़र को अस्वीकार कर दिया—'देखिये मैंने तो आप की तरह खाना भुला नहीं दिया था, माफ़ कीजियेगा।'...वह उसके हास से किंचित लज्जित होता है, उसे उसमें ममत्व का आभास मिलता है, पर उसे यह अस्वीकार करना बहुत अच्छा नहीं लगता।... वह खाना खा रहा है...उसके सामने काफ़ी का प्याला स्त्री ने रख दिया...ट्रेन अपनी गति से भाग रही है...उसे लग रहा है जीवन की घटनाओं की कहीं कोई प्रवाह आया है। एक क्षण में उसे इस बात का अनुभव हुआ कि जिस अतीत ने उसके सारे अस्तित्व को अपनी ओर खींच कर निष्क्रिय बना दिया था, उससे वह मुक्त हो चुका है और इसी कारण उसका जीवन घटना-क्रम के प्रवाह में गतिशील हो उठा है...! उसने सहज मुक्त भाव से अपने सामने बैठी हुई नारी की ओर दृष्टि डाली, और उस आगुन्तुक की रोचक बातों की ओर ध्यान देने का उपक्रम भी किया...न जाने क्यों स्त्री मुस्करा दी और कुमार को अपने शिकार पार्टियों के निशा-विहार के किस्सों में अधिक उत्साह आ गया।

नीरा की आँख झपक गई है...आज खाने के बाद उसे नींद आ रही थी, और उसने माँ से कह कर सारे परदे गिरवा कर अँधेरा-सा काला-नीला प्रकाश करवा लिया था, और फिर वक्ष तक रजाई खींच कर उसने सोने का उपक्रम किया था। नीरा जीजी सोने जा रही हैं, यह जानकर कमरे में कोई प्रवेश नहीं करेगा। क्या वह सचमुच आज सो सकी है...धीरे-धीरे दातादीन ने बाहर की खिड़की बन्द की, उसका परदा ठीक किया...फिर आँगन की ओर की दोनों खिड़कियों को बन्द करके परदे चढ़ा दिये...और उसके जाने के बाद माँ ने पूछा—"ठीक है।" वह मौन रही, माँ ने जैसे उत्तर पा लिया हो...वे धीरे-धीरे उठीं, चुपचाप उसके सिरहाने खड़ी होकर उस नीले प्रकाश में नीरा के मुख को कुछ देर तक देखती रहीं...फिर उसके मस्तक पर अपना हाथ कोमलता के साथ रख दिया...उसने तन्द्रा की घनी होती छाया में माँ के हाथ के स्पर्श की उष्णता का अनुभव किया...आधे खुले हुए दरवाज़े से आता हुआ प्रकाश परदे से छन कर कमरे में प्रवेश कर रहा है और माँ के मुख पर वह रंगीन प्रकाश पड़ रहा है। अपनी तन्द्रा में उसने अनुभव किया माँ की आँखें उससे पूछ रही हैं...वे पूछ लेना चाहती हैं कि उसको वह आराम क्या वास्तव में मिल रहा है...क्या सचमुच आज उसे नींद आ रही है या वह केवल दूसरों को आराम देने के लिए यह सब अभिनय कर रही है। झुकी हुई माँ को उसने अपनी तन्द्रा में भी देखा...माँ के अन्तर्भाव को उसने इस स्थिति में भी पहिचाना...उसने अपनी दृष्टि से, उसके कोमल भाव से माँ को बताना चाहा कि माँ आज उसे सचमुच आराम है...

उसने अपनी पलकों को कुछ ऊपर करके माँ को देख लिया...माँ उसका माथा सहलाती रहीं...उसकी ओर देखती रहीं। उसने अनुभव किया...माँ की दृष्टि में कितने स्वप्न, कितनी आकांक्षाएँ, कितनी ममता की छायाएँ घूम रही हैं। नीरा को आज आराम है, आज एक युग के बाद उसे क्लेश-पीड़ाओं से मुक्ति मिली है...माँ की आँखों में तृप्ति, संतोष की कोमलता झलकते-झलकते...फिर न जाने क्यों विलीन हो गई।...उसने देखा, उसने अनुभव किया...माँ की आँखों में उस तृप्ति और संतोष के बीच से ही किसी अज्ञात व्यथा, अभिशाप का स्रोत फूट निकलता है...प्रकृति में शांत कोमल नीरव झोंका आता है, पर उसके साथ ही तूफ़ानी झोंके का प्रकोप भी जैसे मुक्त हो गया हो।...तन्द्रा उसे घेर रही है, चारों ओर से घिरती चली आ रही हो...पर उसके बीच अपने ऊपर झुकी हुई माँ की आँखों में उसने उनके भाव को पकड़ लिया है...नीरा के जीवन की यह छाया बहुत गहरी है, और माँ को जैसे साफ़ दिख रहा हो कि यह छाया उसकी नीरा को धीरे-धीरे सुला रही है, उस पर छाया बढ़ती जा रही है और उसी छाया में वह ओझल होती जा रही है।...माँ को लगता है छाया घनी होती जा रही है...माँ ने जैसे अपनी विह्वलता छिपाने के लिए अपनी हथेलियों से उसकी आँखों को ढँक लिया और उसकी आँखों को बन्द कर मानों थपकी देकर सुला दिया हो।...फिर उसे लगा वह हाथ का स्पर्श धीरे-धीरे अलग हो रहा हो...अलग हो गया...और माँ की छाया बहुत चुपचाप खिसकती हुई पीछे हट रही है...वह आँख बन्द किये लेटी है...पर उसे लगा कि माँ कमरे से बाहर चली गई हैं और कमरे में बहुत गहरा नीला प्रकाश उनके जाते ही फैल गया है।

माँ ने जैसे कमरे का दरवाज़ा भी बन्द कर लिया हो...आँखें बन्द किये ही किये उसको अन्धकार में गहरे नीले प्रकाश का एहसास हो रहा है...और उसमें माँ की झुकी हुई आँखें उसको साफ़ स्पष्ट गोचर हो रही हैं...आज उसे खाने के बाद से गहरी घनी तन्द्रा घेर रही है...

तन्द्रा तो आज सुबह से उसके चारों ओर मड़राती रही है, पर दोपहर के खाने के बाद से यह तन्द्रा बेहोशी जैसी उसकी चेतना को आच्छादित करती छा रही है। पर इस नींद के झोंके और घने गहन नीले अन्धकार के अनुभव में भी वह अपनी माँ की झुकी हुई आँखों को तैरते हुए देख रही है...माँ ने नीरा के ऊपर घिरती हुई जिस छाया का अनुभव किया था, वह अब उभर कर उसकी चेतना पर व्याप रही है। माँ के भाव को समझने का उसका अभ्यास है...उसने अनुभव किया, देखा वह छाया उस पर छा रही है, उसमें वह आती जा रही है...और उससे आच्छादित होकर वह खोती जा रही है...

···छाया बढ़ रही है, बढ़ रही है...वह बढ़ती ही आ रही है...सघन वन चारों ओर फैला है...ऊँचे-ऊँचे पेड़, घनी एक दूसरे में गुँथी हुई शाखाएँ, बीच-बीच में छोटे-छोटे पेड़ों की सघनता, लता-वल्लरियों से कहीं कोई स्थान खाली दिखाई ही नहीं दे रहा है।...वन घना है, उसकी छाया बहुत सघन है...प्रकाश कहीं-कहीं से केवल छन-छन कर आ रहा है...जंगल की छाया सघन होकर भयानक हो उठी है। भयानक छाया...छाया कठोर होती जा रही है...जंगल में पेड़ों ने चारों ओर से एक स्थल को घेर लिया है...मध्य में सुन्दर घास का छोटा-सा मैदान है, जिसमें न जाने कितने प्रकार के नीले, हरे, बैंगनी, काले फूल खिले हुए हैं...घास की हरियाली पर ये फूल बहुत आकर्षण जान पड़ते हैं...पर यह क्या? यह छाया इन फूलों पर भी घिरती आ रही है, इस घास के मैदान को भी छाती आ रही है...कठोर छाया!

···नहीं यह अजगर कैसा आगे बढ़ रहा है...मैदान में, फूलों के बीच वह खड़ी है, और वह अजगर न जाने कहाँ से उसकी ओर जीभ लपकाता हुआ आगे बढ़ा आ रहा है...फूल मुरझाते जा रहे हैं...उसकी बढ़ती हुई छाया से वे ग्रसे जा रहे हैं। मैदान बढ़ता जा रहा है...फूल ओझल हो गये हैं, जंगल की सघनता आस-पास से लुप्त हो चुकी है...

अब केवल विस्तृत मैदान में...खाली पड़े मैदान में वह खड़ी है, और उसकी ओर ही वह अजगर बढ़ता आ रहा है...अजगर एक छोटी पहाड़ी के मोड़ से निकल कर उसी की ओर आगे बढ़ रहा है, वह बहुत तेज़ नहीं भाग रहा है...केवल धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है और उस विस्तृत मैदान में वह अकेली खड़ी है। आगे बढ़ता हुआ अजगर निकट आ रहा है...वह भाग सकती है, पर न जाने कैसी तन्द्रा उसे घेर रही है...वह उसमें अपने को मुक्त कर पाने में असमर्थ है...और वह अजगर धीरे-धीरे बिल्कुल समीप पहुँच जाता है। चारों ओर का विस्तृत रेगिस्तान का मैदान समरस है...पर वह बचने की सीमाओं को जानते हुए भी वहीं खड़ी रहने के लिए विवश है...उसका पैर आगे बढ़ने के लिए उठता ही नहीं, उसका शरीर न जाने किस जड़ता से स्थिर हो गया है...उसे तन्द्रा के सम्मोह ने उसी स्थल पर निष्क्रिय बना दिया है...अजगर अपनी जीभ लपलपाता हुआ, अपने शरीर को वक्र गति से सरकाता हुआ आगे बढ़ता आ रहा है...

···उसने देखा उसकी आँखों में वही घनी छाया है, वही कठोर छाया है जो उसे ग्रसने के लिए बढ़ती आ रही है...उस छाया से वह स्वयं आक्रांत है...वह बचने का प्रयत्न करना भी भूल जाती है...।...न कहीं घाटी है, न कहीं रेत का मैदान...उसे लग रहा है एक अजगर उसे निगल रहा है, वह धीरे-धीरे उसके पेट में समाती जा रही है...पर कहीं कोई पीड़ा या दर्द नहीं होता...केवल उसका अस्तित्व उसके मुख में विलीन होता जा रहा है...विलीन होता जा रहा है...उसका अपने आप का एहसास मिट रहा है, मिटता जा रहा है...उसका अस्तित्व अदृश्य हो रहा है।...अब केवल उसका सिर मात्र बाहर रह गया है, वह देखती है माँ वहाँ पर आ गई हैं। कहाँ से ? नहीं कह सकती...माँ नहीं यह तो केवल माँ की वे ही आँखें हैं जिनमें उसने उस छाया का आभास पाया था जो इस प्रकार, इस रूप में उसको उसके अस्तित्व को निगले जा रही है, उसे अपने आप में विलीन किये ले रही है...

···अँधेरा धुँधला-सा प्रकाश...वह भटक रही है...न जाने कैसी घाटी, न जाने कैसी उपत्यकाएँ, न जाने कैसी कंदराएँ हैं जिनमें वह भटक रही है...धीरे-धीरे वह एक ऐसी हरी-भरी रंगीन घाटी में प्रवेश करती है जिसे उसने कभी नहीं देखा है...रंगीन प्रकाश फैला हुआ है...वह चलती जा रही है, उसके बगल में, उसके साथ जैसे नरेश भइया हों! पर यह क्या यह तो डाक्टर है...वह उससे बात करती आगे बढ़ रही है—'तुम मुझे बचा सकोगे डाक्टर...मुझे मौत से डर नहीं डाक्टर, मेरा यह कष्ट असह्य है...क्या तुम इसको दूर कर सकते हो...तुम कहते हो—मैं बिल्कुल नया हूँ, मैंने अभी-अभी मेडिसिन पास किया है, आपका ट्रीटमेंट हमारे प्रोफ़ेसर पूरे मनोयोग से कर रहे हैं...नहीं डाक्टर, मेरे मन में न जाने यह विश्वास क्यों जम गया है कि तुम मुझे ठीक कर सकते हो, तुमने मेरे रोग को ठीक समझ लिया है...डाक्टर, डाक्टर, मुझे बहुत कष्ट है। ओह मुझे अत्यधिक पीड़ा है, तुम क्या नहीं समझ रहे हो। मुझे लगता है कि केवल तुम ही मेरे कष्ट को, मेरी पीड़ा को समझते हो...' वह रुक जाती है और साथ के डाक्टर की ओर करुण दृष्टि से देखती है...वह युवक डाक्टर बहुत आत्मीयता से, ममता से उसकी ओर देख रहा है...वह उसका हाथ अपने हाथ में ले लेती है—'डाक्टर बहुत पीड़ा है, बहुत पीड़ा है।' लेकिन उसे लग रहा है कि पीड़ा उसके शरीर में नहीं मन में समा गई है, सारी वेदना उसके मन की व्यथा बनती जा रही है...और डाक्टर से वह अपनी इस व्यथा को व्यक्त करना चाहती है...वह कहना चाहती है—'यह क्या हो गया है, डाक्टर, यह मेरी शरीर की सारी पीड़ा मन की व्यथा कैसे बनी जा रही है। यह क्या है? तुम बतलाओ न डाक्टर...इसका क्या होगा?'... उसने युवक डाक्टर का हाथ बलपूर्वक पकड़ रखा है, वह उसे अपनी ओर खींचती जा रही है...वह उस हाथ को अपने वक्ष की ओर ले जाती है...डाक्टर अब भी मौन है, चुपचाप है...वह उद्विग्न होकर उसकी ओर देख लेती है...वह मृदु भाव से मुस्करा रहा है...उसके मन की

व्यथा उसे व्याकुल कर रही है...और वह जाने कैसे आवेश से विह्वल होकर युवक डाक्टर का हाथ अपने उच्छ्‌वसित वक्ष पर रख लेती है...पर यह क्या ? यह तो वह युवक नहीं, नरेश भइया हैं...

वह सारा दृश्य मिट जाता है, न कहीं वह रंगीन घाटी और न कहीं नरेश भइया...वह अकेले चली जा रही है, रास्ता एकदम सूनसान है...उस सूने रास्ते पर वह आगे बढ़ती जा रही है...मार्ग में दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे वृक्ष हैं, और सीधा चला गया है...लगता है घने जंगल के बीच से जा रहा है। चौड़ा रास्ता धीरे-धीरे सकरा होता जा रहा है... सकरा होते-होते ऐसा लगने लगता है कि उसके एक ओर नदी का ऊँचा किनारा है और दूसरी ओर हरा-भरा मैदान है जिसके कुछ दूर पर उसी वन की सघनता प्रारम्भ होती है...और वह उसी चौड़ी पगडंडी पर चली जा रही है !...उसके साथ वही डाक्टर युवक है, वह उसकी बगल में साथ-साथ चल रहा है...वह एक दृष्टि मैदान के विस्तार पर और उसके पार के वन की श्रेणी पर डालती है, फिर नीचे दूर बहने वाली नदी की धार देख लेती है...और अपने साथ के व्यक्ति से कहती है—'डाक्टर, तुमने मुझे स्वस्थ किया है...मैं तुम्हारी बात नहीं सुनूँगी... तुम कहोगे, यह ईश्वर की कृपा है, या तुम्हारे प्रोफ़ेसर का यश है... नहीं, नहीं यह सब ठीक है, पर मैं कहती हूँ कि यह तुम्हारा ही यश है...तुमने मुझको जीवन दिया है, तुमने मुझे स्वास्थ्य दिया है।' वह कृतज्ञता के भाव से उसकी ओर देखती है, और डाक्टर उसकी बात सुनता हुआ मुस्करा रहा है, बस मुस्कराता हुआ उसकी ओर देख लेता है ...।

उसने देखा पास के मैदान में हरिन छलाँग भरते हुए दौड़ रहे हैं... मृग और मृगियाँ चारों ओर बैठे हुये जुगाली कर रहे हैं...नीचे की ओर नदी के धारा में कई नौकाएँ तैरती हुई आगे बढ़ रही है...ऊपर से बलाकाओं का सफ़ेद झुण्ड उड़ता हुआ निकल जाता है, नीला आकाश चमक रहा है...सारा वातावरण कोमल प्रकाश से भर गया है...उसे

लग रहा है उसके मन में कहीं कोई उल्लास, कोई तरंग उठ रही है... उसका मन इस चतुर्दिक् से अभिभूत हो उठा है...कोई आन्तरिक आनन्द की सिहरन मौज बन कर उसके चारों ओर फैल रही है, उसकी चेतना को घेरती हुई, प्लावित करती हुई डुबोने के लिए आगे बढ़ती आ रही है। एक हरिन शावक दौड़ता हुआ उसके बिल्कुल समीप आ जाता है, उसके साथ सट कर खड़ा हो जाता है... वह प्यार से अपनी गोद में उठा लेने के लिए झुकती है...और झुकती-झुकती अपने साथी की ओर देख लेती है, उसकी दृष्टि में उसके मन का सारा उल्लास अभिव्यक्त हो रहा है...और सामने वह युवक उसी प्रकार संयत भाव से मुस्करा रहा है...उसने मृग छौना गोद में उठा लिया।

...पर यह तो उसका टिनी है, कहाँ से आ गया टिनी ?...उसने देखा यह तो बहुत छोटा, बहुत कोमल शिशु है...उसको गोद में लेकर उसका मनोभाव बिल्कुल बदल सा गया है...उसके शरीर में कोई संवेदना बिजली के समान अकस्मात फैल गई, उसे लगा उसके अन्दर का सारा ममत्व उमड़ता आ रहा है...उसका सारा अस्तित्व उसके प्रति, उस शिशु के प्रति ज्वार के समान उमंगित हो उठा है...उसके मन का सारा प्यार, सारी ममता उसके प्रति केन्द्रित होती जा रही है। उसको लग रहा है कि उसका स्नेह उसके शरीर में प्रत्यक्ष रेंगता हुआ फैल रहा है...कुछ है जो उसके स्नायुओं में सुखमय सा अनुभूत हो रहा है...उसने उस शिशु को अपनी गोद में भर लिया। एक क्षण वह आत्मलीन सी विमुग्ध है, उसे लगता है उसने अस्तित्व को आज पहली बार महसूस किया है...वह भर गई है, वह पूरी हो रही है।...दूसरे क्षण उसे स्मरण आता है अपने साथी का...वह प्यार से, कृतज्ञता के भाव से उसकी ओर देखती है...वह अपने हाथ के शिशु को उसे देने के लिए जैसे उठाती हो। पर यह क्या ? यह तो नरेश भइया हैं, उसके साथ नरेश भइया चल रहे हैं...वह उमंगित होकर शिशु उनकी ओर बढ़ना चाहती है...उसके मन में दो विभिन्न भाव एक साथ आलो-

ड़ित हो कर, उमंगित हो कर जैसे मिल रहे हों...और तभी सब मिट जाता है, ओझल हो जाता है...

...वह अन्धकार में...कुहासा में...धुंध में न जाने कितनी देर तक घूमती रही...स्पष्ट कुछ भी नहीं, केवल भटकने का एहसास होता है...। एकाएक वह अकेले चली जा रही है...सागर बहुत विस्तार में फैला हुआ है, उसकी नीली-नीली तरंगें ऊँची-ऊँची उठ कर चारों ओर से उसकी ओर दौड़ रही हैं...और वह एक सकरे मार्ग से...एक पतले से पथ पर आगे बढ़ती जा रही है, इस पथ का आदि अन्त उसे कुछ भी ज्ञात नहीं। वह किसी अज्ञात आशंका से भयभीत है और सँभल-सँभल कर आगे बढ़ती जा रही है...वह अपने चारों ओर फैले सागर की ओर देखना नहीं चाहती चाहती, वह उठती नीली लहरों को बिना देखे ही आगे बढ़ना चाहती है। पर नीली लहरें बिल्कुल उसके पैर तक आकर ही वापस लौटती हैं...वह भय से सिहर-सिहर जाती है...पथ एक दीवाल जितना चौड़ा रह गया है...पर वह सँभल-सँभल कर आगे बढ़ती ही जाती है, आगे बढ़ने के अतिरिक्त और कोई उपाय भी तो नहीं है...सागर की लहरें दीवाल के समान रास्ते को धो-धो जाती हैं।

...उसके पैर लहर के आये हुये जल के अन्दर आगे बढ़ते हैं... वह भय से आकुल है, संत्रस्त है...उसको इस आतंक में अनुभव होता है कि कोई उसके पीछे-पीछे बहुत देर से चला आ रहा है, उसे कुछ आश्वासन होता है...पर मार्ग इतना सकरा है कि वह मुड़ कर देखने का साहस नहीं कर सकती...वह आगे बढ़ रही है और वह साथी भी पीछे-पीछे चला आ रहा है ! यह क्या...रास्ता जल में धीरे-धीरे गायब होता जा रहा है, लगता है कि वह पानी में धीरे-धीरे डूबता जा रहा है।...वह एक स्थल पर खड़ी है...आगे बढ़ने का साहस नहीं हो रहा है, क्योंकि अब आगे पानी कितना गहरा है, इसका अन्दाज़ लगा सकना सम्भव नहीं है...उसे पीछे मुड़ने का साहस अब भी नहीं होता है... और वह पीछे चलने वाली आहट भी अब नहीं मिल रही है...उसके

मन में भय की सिहरन व्याप गई और शरीर काँप गया...।...एकाएक ऊँची बहुत ऊँची लहर आकर उसको उस स्थान से हटा जाती है...और अब वह अथाह जलराशि में बही जा रही है...वह तैरने का प्रयत्न करती है, उसके हाथ-पैर चल नहीं रहे हैं...पर वह उतराती हुई बह रही है...सागर की नीली लहरें उसे थपेड़ों से आगे-पीछे कर रही हैं...वह एक लहर से दूसरी पर डोलती हुई आगे की ओर बढ़ रही है...पर चिन्ता, परेशानी से वह विह्वल, व्याकुल हो रही है...उसे लगता है कि यह सागर, उसकी ये लहरें उसे निगल जायेंगी, वह बहुत देर तक उनसे संघर्ष नहीं कर सकेगी...!

...अब वह किसी के बाहु के सहारे नीली लहरों के पारदर्शी आवरण में तैर रही है...उसके मन का सारा त्रास, भय विलीन हो गया है...वह उस बाहु के सहारे इस सागर को पार कर सकेगी, इसका उसे विश्वास जाग गया है...जिसका बाहु है, उसे वह देख नहीं पाती, पर उसकी संनिकटता का अनुभव कर रही है। उसके शरीर से कभी-कभी उसके शरीर का स्पर्श हो जाता है, और उस जल की उठती हुई ऊँची तरंगों में भी उसके शरीर में रोमांच हो आता है...वह उल्लास में, उमंग में तैरती जा रही है...जैसे आकाश में चाँदनी फैल रही हो, उसकी किरणें नीली लहरों को चाँदी जैसी आभा प्रदान कर रही हैं और वे दोनों बिल्कुल सटे हुए तैर रहे हैं। उस भुजा ने उसे धीरे-धीरे आबद्ध कर लिया है, करती जा रही है, दोनों के शरीर का स्पर्श निकट आता जाता है...उसका आवेग बढ़ रहा है, उसकी निःश्वास अधिक तेज़ होती जा रही है...उसे अपने साथी की साँस का अनुभव हो रहा है... उन दोनों पर नीली उज्जवल लहरें आकर निकल-निकल जाती हैं... एकएका सब अदृश्य दो जाता है...

...वह उड़ रही है, उसके साथ वही व्यक्ति उड़ रहा है...दोनों उड़ते चले जा रहे हैं...नीला सागर, हरे-भरे जंगल, पहाड़, घाटियाँ वे पार कर रहे हैं। एक घना जंगल है...उसके बीच में काली तार-

कोल की सड़क पर एक मोटर दौड़ती चली आ रही है, और वे दोनों उसी मोटर में बैठे जंगल पार कर रहे हैं...दोनों ओर जंगल की घनी छाया चली गई है...कुछ दूर पर दोनों ओर पहाड़ी श्रेणियाँ दिखाई दे जाती हैं...मोटर काली सड़क पर भाग रही है, जंगल के सुन्दर ऊँचे वृक्ष, छोटी-छोटी झाड़ियाँ, रंग-बिरंगे फूल सड़क के चारों ओर फैले हैं...। एकाएक मोटर एक सुन्दर सी उपत्यका में प्रवेश करती है...दोनों ओर की पहाड़ियाँ यहाँ निकट आ कर जंगल के इस भाग को घेर लेती हैं... इस घिरे हुए भाग में जैसे एक उपवन सजाया गया हो...वृक्ष पंक्तिबद्ध चले गये हैं, झाड़ियाँ जैसे किसी क्रम से फूली हुई हों, ऊपर नीला आकाश चमक रहा है...सड़क एक स्थान पर समाप्त हो जाती है, मोटर रुक जाती है !...वह देखती है...यहाँ तो साफ़-सुथरा स्थान है, सड़क से कुछ ही दूर पर कई सफ़ेद चबूतरे दिखाई दे रहे हैं !

अब उसने अपने साथ के व्यक्ति की ओर ध्यान दिया...कार से वह उतर रहा है...दोनों पहाड़ी श्रेणियों के समानान्तर चले जा रहे हैं... एक मार्ग है जो दोनों पहाड़ियों की समानान्तर शृङ्खलाओं के बीच से चला गया है और वे दोनों उसी पर आगे बढ़ते जा रहे हैं, उसे आश्चर्य है वह इस भर्तृहरि की समाधि-स्थल पर कैसे फिर पहुँच गई है...यहाँ तो वह नरेश भइया के और चाचा के साथ आई थी...पर उसके मन में कहीं कोई उमंग है, और इस कारण वह अधिक सोच-समझ नहीं रही है। वृक्षों की कतारें जैसे दोनों ओर खड़ी हुई हैं...वे आगे बढ़ते जा रहे हैं...उसके साथ का युवक चुप मौन है...पर वह कुछ कहने के लिए उत्सुक है—'नरेश भइया, यहाँ कितना अच्छा लग रहा है...यहाँ ऐसा मनोरम स्थान हो सकता है, कौन कह सकता है...राजा भर्तृहरि की समाधि के लिए इतना मनोरम स्थान भला किसने चुना होगा...राजा भर्तृहरि कैसे थे और कैसा है उनकी यह समाधि का स्थान ?' वह युवक उत्तर देता है—'नीरा, तुम नहीं जानतीं। ये राजा भर्तृहरि भोगी और योगी एक साथ थे और यह उनकी समाधि...।' उसने घूम कर

देखा युवक नरेश भइया नहीं, वरन् उसके डाक्टर जी हैं।...
उन्होंने कुछ भी नहीं कहा केवल मुस्करा रहे हैं...चुपचाप उसी
मुद्रा में...

...वह किन्हीं चरणों का अनुसरण करती हुई किसी पहाड़ी पर चढ़
रही है,...उसके आगे दो चरण दृढ़ता के साथ बढ़ रहे हैं, वह प्रयत्न
के साथ उनके साथ-साथ चल रही है...और सब पीछे छूट चुके हैं...
माँ, श्याम, आरती, नरेश भइया भी !...वह पापा के साथ आगे चढ़ती
चली आई है...चरण चक्करदार रास्ते को पार करते हुए ऊपर उठते जा
रहे हैं...उसको केवल इन चरणों का आभास है...कुछ देर ऐसा
लगता रहा कि पीछे आनेवाले कहीं दूर पर उनका पीछा कर रहे हैं, पर
धीरे-धीरे उन सब का आभास भी मिट गया। अब केवल इन्हीं चरणों
की आहट मिल रही है।...चरण अब बहुत तेज़ ऊपर उठते जा रहे
हैं, उसको अनुसरण करने में कठिनाई हो रही है, लेकिन वह पापा का
साथ नहीं छोड़ेगी, वह उनके साथ ही शिखर पर पहुँच जाना चाहती
है...लेकिन उसके आगे बढ़ने वाले चरण न जाने कितनी शृङ्खलाओं,
श्रेणियों, घाटियों को पार करते चले जा रहे हैं...न जाने कितने कुहासा,
कुहरा, धुँआ, बादलों से भरी पहाड़ी श्रेणियों को जैसे उड़ते हुए पार
कर रहे हैं, और वह भी उन्हीं के पीछे-पीछे लगी चली जा रही है...
फिर उसने देखा एक हिमाच्छादित शिखर पर वे चरण रुक गये हैं और
उनके पीछे ही वह खड़ी है !

...उस व्यक्ति ने तब मुड़ कर देखा...उसने उसकी दृष्टि में आश्चर्य
का भाव देख लिया...वह संकुचित खड़ी रही...उसके सामने पापा खड़े
हैं...वही उनका उन्नत ललाट, उनके आयत नेत्र, गौर वर्ण, और सफ़ेद
बाल ! वे आश्चर्य के साथ मुस्करा रहे हैं, उनकी मुस्कान उनके नेत्रों में
खिल गई है—'नीरा, तुम यहाँ कहाँ।' वह चुपचाप शंकित खड़ी है...
उसने पापा के साथ आकर जैसे कोई अपराध किया हो...उसके स्तब्ध
भाव को पापा ने पकड़ लिया...उन्होंने सान्त्वना के स्वर में कहा—

'नीरा, आ गई हो तो घबराने की बात क्या है, सभी का अन्तिम पथ यही है...तुम मेरे साथ आ रही थीं, मुझे पता भी नहीं चला। और सबको तुमने छोड़ दिया।' वे प्यार से उसकी ओर देखते हैं, वह सदा की भाँति पापा के प्यार-दुलार के सम्मुख संकुचित हो जाती है।... उसको इस शीत प्रदेश में ठंढक लग रही है, उसे अभी तक अनुभव नहीं हुआ था, पर अब वह शीत से काँप रही है...पापा ने अनुभव किया और उसको अपनी ओर खींच कर अपने ओवरकोट में छिपा लेना चाहा ...पर एकाएक उनके मुख पर आशंका का भाव छा गया, उन्होंने उसे तुरन्त छोड़ दिया...वे न जाने कहाँ अदृश्य हो गये।

...वह वहाँ शीत और हवा के तीखे झोंकों में ठिठुर रही है, अकेले भयाकुल और विकल है...वह चारों ओर दृष्टि डाल कर देखती है... दूर, बहुत दूर पर कोई व्यक्ति है...कौन है यह?...शायद श्याम आगे बढ़ आया हो उसकी खोज में...पर नहीं...यह नरेश भइया ही हो सकते हैं, वही तो गति है, चाल है...उन्हीं जैसा चेहरा भी तो उभर रहा है...पर यह तो शायद डाक्टर जी हैं?...वह आँधी तूफ़ान, बर्फ़ की वर्षा को पार करती आगे चल पड़ती है...वह नहीं रुकेगी...डाक्टर जी के लिए भी नहीं...और नरेश भइया के लिए भी नहीं।...वह शिखर के बाद शिखर पार कर रही है...उसके सामने वही चरण फिर मार्ग दिखा रहे हैं...।

नीरा घबरा कर जाग गई।...उसके मन में बर्फ़ से आच्छादित शिखर और वे चरण कुछ देर तक उभर कर मिट गये...उसने आँख खोल दी...कमरा उसी प्रकार नीले प्रकाश से भरा हुआ है...सामने के दरवाज़े का एक पल्ला परदे के पीछे खुला है और उसी से प्रकाश आ रहा है...यह प्रकाश कमरे में आकर नीले रंग का हो जाता है...युवती ने धीरे-धीरे कमरे को जैसे पहचाना हो...उसकी वस्तुस्थिति का उसे ज्ञान हुआ...और तब उसे लगा वह स्वप्न देख रही थी...स्वप्न जैसा

ही प्रकाश अब भी नीला-नीला फैला है...वैसा ही स्वप्निल वातावरण उसके चारों ओर है...लेकिन अब उसे गत आगत से अविच्छिन्न वर्तमान का बोध नहीं हो रहा है...वर्तमान उसके लिए फिर भूत और भविष्य का प्रसरित काल हो गया है...यद्यपि उसका अधिकार न आज भूत पर है और न आज वह भविष्य के सम्बन्ध में सतर्क हो पा रही है...वह केवल वर्तमान के ऊपर तिर रही है...काल में अब बहाव या प्रवाह नहीं रह गया है, केवल उसकी चेतना शेष रह गई हो जैसे। पर स्वप्न के वर्तमान से यह भिन्न है...वह था कि उसमें केवल घटित होने का अनुभव था, पर इस चेतना में युग-युग का संस्कार शेष है...यह चेतना दिक् काल की प्रसरित स्थिति से संवेदित है...जो बीत गया है, वह उसमें संचित है, साथ ही उसमें भविष्य की सम्भावनाएँ प्रतिबिम्बित हैं!...लेकिन नीरा के अस्तित्व को वास्तव में आज काल पकड़ पाने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है...स्थान की मर्यादा उसके लिए निरर्थक हो गई है...वह देख रही है, वह जाग गई है...पर अनुभूतियों का प्रभाव, प्रसार, सघनता उसकी चेतना को स्पर्श कर अलग ही रह जाती है...वे उसको संवेदित, आडोलित, अभिभूत नहीं कर पा रही हैं।

नीरा ने कमरे के धुँधले प्रकाश को गहराई से देखा...सामने दो चित्र टँगे हैं...बहुत हल्का सा आभास मिल रहा है...दाहिनी ओर पापा का और बाईं ओर माँ का चित्र है। पापा की उसे याद आ रही है...उसे लगता है चित्र की रेखाएँ अधिक स्पष्ट हो रही हैं, नीले प्रकाश में भी पापा का रूप उभर रहा है...चित्र की उनकी मुस्कान व्यक्त हो जाती है, वे ओंठों में हँस रहे हैं, वे आँखों में मुस्करा रहे हैं। आज उसे अपने पापा की याद घेर रही है...पापा का स्नेह, पापा की ममता सब भिन्न प्रकार की रही है,...उसने सदा अनुभव किया है कि पापा साधारण से किंचित भिन्न इस क्षेत्र में हैं...वे उसके सामने प्रत्यक्ष हो कर जैसे प्रकट हो रहे हैं...

...पापा ने हम सबको स्नेह किया, ममता दी...पर हमने उसको

कभी उस रूप में तब नहीं जाना, पहचाना...वे सदा सम्भावना के विरुद्ध हमको आश्चर्य में डालते रहे हैं !...हम जब समझते कि वे रुष्ट होंगे, क्रोध करेंगे, तभी वे स्नेहशील, उदार हो जाते। आज उसे लग रहा है कि पापा ने उसे समझा था, और इस सीमा तक वह स्वयं भी अपने को कभी नहीं समझ सकी !...उसे गहराई से कहीं कोई आभास मिलता है...वह सोचती है, पापा के साथ वह क्या सचमुच कहीं जा रही थी, स्वप्न सत्य नहीं होता, पर उसका क्या कोई अर्थ भी नहीं होता...। मृत्यु के बाद पापा उसे कभी स्वप्न में भी नहीं दिखे, फिर आज वह उनके पीछे कहाँ जा रही थी...कुछ नहीं उसके मन की ममता ने इस प्रकार पापा को याद किया होगा। उन्होंने उसे अपने हाथों पाला-पोसा है, उन्होंने कभी यह नहीं स्वीकार किया कि उनकी नीरा जीवन में प्रवेश नहीं कर पायेगी, कभी जीवन का आनन्द, उसका उल्लास, उसकी उमंग का अनुभव नहीं कर पायेगी !...नीरा उनके सामने वर्षों बीमार रही है, वे समझते भी रहे हैं कि नीरा की बीमारी असाध्य होती गई है !...पर उनमें न जाने कैसा विश्वास रहा है, उनमें न जाने कैसी शक्ति रही है कि वे कभी पराजय को मान कर नहीं चले...उन्होंने कभी यह माना नहीं कि वे झुक सकते हैं, पराजय जीवन का अंग है, तो वे उसे विजय के समान ही ग्रहण कर लेंगे...उनके लिए वस्तुतः विजय और पराजय का प्रश्न उठता ही नहीं। वे सीधे अडिग खड़े रह सकते हैं, यही उनके लिए प्रधान था...उन्होंने जीवन में बहुत सफलता प्राप्त की, वे ग़रीबी में पले थे, उन्होंने कष्ट से पढ़ा-लिखा था...ग़रीबी के कारण ही आगे वे नहीं भी पढ़ सके...पर छोटी सी अफ़सरी से प्रारम्भ करके वे बहुत बड़े अफ़सर तक हो सके...बहुत बड़े-बड़े अँग्रेज़ अफ़सरों के बराबर वे उठ सके। उनसे उनकी प्रतिद्वंद्विता हुई और अपने अध्यवसाय से, अपनी प्रतिभा से उन्हें वे अनेक बार परास्त कर सके हैं...वे ऊपर उठते गये और रिटायर होते-होते अपने इनकमटैक्स विभाग के ऊँचे अफ़सरों की संख्या में आ चुके थे...पर न जाने क्यों वे अपनी नौकरी से सबसे

अधिक असंतुष्ट थे...वे सरकारी नौकरी के बहुत विरुद्ध होते गये, अन्त तक उन्हें चिढ़ ही हो गई थी।

'''परिवार से उन्हें काफ़ी कष्ट और दुःख झेलने पड़े, उनके पिता नहीं रहे और अपने चाचा ताऊओं के हाथ उन्हें क्लेश भोगना पड़ा... अन्याय सहना पड़ा। पर नहीं लगता उन्होंने कभी उनका प्रतिकार किया हो...जो पड़ा उसे झेला...उसकी शिकायत उनके मन में भी कभी नहीं रही और माँ ने, माँ ने स्नेह का आश्रय कितना ही दृढ़ क्यों न दिया हो, पर उन्होंने अपनी बीमारी से, निरन्तर की बीमारी से उनको कम संत्रस्त नहीं रखा है...और सन्तान...उनकी कई पहली संतानें नहीं रहीं।...माँ का कहना है...इसीलिए उन्होंने सब बच्चों के प्रति असम्पृक्त भाव बना लिया है...बड़ी मुन्नी और टिनी से उनका बहुत लगाव था, और वे नहीं रहे...बड़ी मुन्नी नीरा के समान, उसी जैसा उसका नाक-नक्शा था...माँ कहती हैं कि पापा को उसे देख कर मुन्नी की याद अब भी आ जाती है...वे बहुत गहरे हैं...उनकी थाह कोई पा नहीं सकता...

...पापा की आकृति सामने प्रकट होती है, जैसे वे सामने आ रहे हों...वे मौन है, वे चुपचाप हैं जैसे अभी गीता का अध्ययन करके उठे हों, जैसे उन्होंने अभी भर्तृहरि शतक से कोई श्लोक पढ़ा है और वही उनके मन में घूम रहा है...इधर ये दोनों ग्रंथ उनके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन गये हैं। वे न जाने क्या अर्थ उनसे ग्रहण करते रहे हैं...वे उनसे कोई अर्थ प्राप्त करते हैं, उनसे अपने मन के लिए कोई आधार प्राप्त करते हैं।...वे जैसे उसके सामने आकर खड़े हो जाते हैं...वे गम्भीर हैं, संयत हैं...वे खड़े हैं...उनकी मुद्रा से जान पड़ता है, वे गीता के किसी वाक्य को मन ही मन दुहरा रहे हैं...वे अपने मनोभाव को प्रकट होने नहीं देते।...वह लेटी है और पापा उसी की ओर देख रहे हैं...उनके मन के किसी कोने में कुछ छिपा है, जो व्यक्त नहीं हो पाता, पर उनकी भंगिमा से झलकता अवश्य है...लगता है उनकी आँखों

में कोई कोमल भाव झाँक रहा हो और फिर उनके मन के चिन्तन ने उसे बरबस अदृश्य कर लिया हो...

...वह पापा के साथ रामनिवास बाग में एक ओर पत्थर की चौकी पर बैठी है...पापा के राउंड पूरे हो चुके हैं और वे अब आराम कर रहे हैं। आज उन्होंने उसको अपने साथ टहलने के लिए स्वयं ले लिया है...वे गम्भीर हैं और उनके मुख पर संयम की गरिमा झलक रही है।...वह कुछ उद्विग्न और परेशान लग रही है...पापा समझ लेते हैं और फिर ओठों में मुस्कुरा देते हैं...वह कुछ प्रकृतस्थ हो जाती है...और उसके मन का उद्वेग, उसके मन का आक्रोश पापा के मुख पर अभिव्यक्त होती मुस्कान के साथ धीरे-धीरे शान्त हो रहा है। वह पापा के सामने दूसरी पत्थर की बेंच पर बैठी हुई है...पापा उसके मुख की ओर स्निग्ध भाव से देख लेते हैं, वह संकोच से अपनी आँखें झुका लेती है...उसे पता नहीं चला कि उसका आक्रोश कब बदल गया है।...अनेक वृत्तों में घूमता हुआ लाल पत्थरों का कमल सरोवर पास ही हिल रहा है... उसके बीच में कई फ़व्वारे चल रहे हैं, जिनकी झरती हुई बूँदों में संध्या उतरती आ रही है।...कुछ हट कर वृक्षों की कतार से डूबते हुए सूर्य की लालिमा छन कर कमल सरोवरों पर पड़ रही है...उसी के तट पर दो आमने-सामने की बेंचों पर पापा और वह बैठी है।

...पापा ने जैसे वातावरण को सहज बनाते हुए कहा—'नीरा, तुम इन छोटी बातों से घबराती हो। संसार में इस प्रकार काम नहीं चलता... ऐसा होता रहता है, संसार में इन बातों से डर कर नहीं चला जा सकता।...इस बात का क्या बुरा-भला मानना...और उस स्त्री पर तो हमें मेहरबान होना चाहिए...तुम सोचो तो भला, वह संसार से कितनी ठगी गई स्त्री है, उसने किससे विश्वास पाया, किससे अपनापन पा सकी।...उसको यह सब कहने का साहस भी हुआ है कि हम सबसे अपनापन और मोहब्बत मिली है।'...उसके मन में विद्रोह की भावना, अन्याय के प्रतिकार की भावना उद्वेलित हो जाती है...उसके

मन का संकोच विलीन हो जाता है और वह अपनी दृष्टि ऊपर करती है, पर पापा की दृष्टि में अब भी मृदु भाव ओंठों की मुस्कान के साथ अभिव्यक्त हो रहा है। और वह अपनी वाणी को संयत करती हुई कहती है—'लेकिन पापा, क्या यह हमारे स्नेह का बदला है। इसी तरह वह हमारे उपकार का बदला चुकाती है...आख़िर हमने उसका क्या बिगाड़ा है...भइया ने तो उसको सदा सहारा दिया है...मैंने उसका कितना पक्ष लिया है!' और इतना कहते-कहते उसके नेत्रों में आँसू उमड़ आते हैं।

पापा किंचित विचलित हुए हों जैसे, पर उनकी मुस्कान मुखरित हो उठती है, वे हँस पड़ते हैं—'नीरा, तुम सयानी हो चुकी हो, तुमने पढ़ा लिखा है, तुमको यह सब नहीं शोभा देता...अरे भाई, सवाल हम लोगों का है, और आख़िर वह नौकर ही है, उसके कहने से बनता-बिगड़ता क्या है...मेरा कहना इसलिए था कि इसको एक जगह मिल गई है, जहाँ वह अपनी हिफ़ाज़त कर सकती और चाहे तो बहुत कुछ सीख सकती है... इसीलिए पड़ी रहती तो अच्छा था। पर यदि तुम लोगों को न जँचे तो जैसा अच्छा समझो करो...लेकिन अपने मन से यह बात निकाल दो कि उसके कहने से हम पर कोई असर पड़ेगा...हमारे बच्चों के बारे में कोई हमको ही राय बताए, यह कैसी बात है।' पापा के भाव ने जैसे उसे स्पर्श किया हो, उनके विश्वास ने उसके मन को बल दिया और उसे यह सारा प्रसंग बहुत हल्का और साधारण लगने लगता है। उसके मन का सारा बोझा हल्का हो जाता है। उसके पापा के व्यक्तित्व में कोई अदृश्य भाव से, कोमल और मृदु झाँक जाता है और फिर पूर्ववत् संयत और कठोर हो जाता है...वह कठोरता...हल्की-हल्की बर्फ़ जमी है...विस्तार से झील पर फैली है और झील का तरल और नीला विस्तार उसी श्वेत और कठोर लगनेवाली बर्फ़ के नीचे दबा पड़ा है...कहीं-कहीं बर्फ़ के नीचे तरल पानी का प्रवाह दिखाई दे जाता है और बस...

कमरे में धीरे-धीरे प्रकाश बढ़ गया...किसी ने दरवाज़े के दूसरे

पल्ले को भी खोल दिया, इससे परदा एक ओर हट गया।...उसने देखा कोई बहुत धीरे-धीरे प्रवेश कर रहा है, उसकी छाया परदे के एक भाग पर पड़ रही है। एक हाथ से परदा के शेष भाग को एक ओर करते हुए कोई प्रवेश करता है...उसे आहट मिलती है। फिर आकृति उभरती है...वह देखती है कि आरती शंकित भाव से प्रवेश कर रही है...वह नहीं चाहती कि जीजी की नींद में वह बाधक बने...वह दबे पाँव अन्दर आ जाती है...शायद उजाले से आने के कारण उसको पहले कमरे में कुछ साफ़ स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ता...वह यह जान नहीं पाती कि जीजी जाग रही है या नहीं। वैसे ही चुपचाप वह आकर पास पड़ी मेढ़क चेयर पर बैठ जाती है...नीरा ने लेटे-लेटे देखा आरती कितनी सतर्कता से अपनी जीजी के पास आकर बैठी है...उसने देखा आरती के हाथ में अब भी आंद्रेज़ीद की पुस्तक है।...आरती ने बैठते ही जान लिया कि वह जाग गई है, उसे लगता है जैसे उसके आने से ही वह जाग गई है—'नीरा जीजी, तुमको मैंने जगा दिया शायद।' उसकी वाणी में कहीं से संकोच की ध्वनि अटकी हुई है। उसने अपने को प्रकृतस्थ करने का प्रयत्न करते हुए कहा—'आरती, तुम क्या समझती हो, आज मुझको ऐसी अच्छी नींद आ रही है।...पर हाँ, आज मुझे नींद ज़रूर आ गई थी।' उसने अपनी बात को सँभलने के ख़्याल से कहा। आरती उठ पड़ी और शायद इस बात को टालने की दृष्टि से ही उठ गई...पर वह कहीं गई नहीं, वरन् उसने खिड़कियों के परदे चढ़ा दिये तथा उनके पल्ले खोल दिये। अब कमरे में प्रकाश फैल गया और उसका नीला रहस्यमय वातावरण विलीन हो गया...आरती कमरे की अन्य चीज़ों को ठीक करने लगी।

नीरा को लगा आज उसे नींद आई है, आज वह स्वाभाविक रूप से सो सकी है...शायद वह वर्षों बाद इस प्रकार सो सकी है...पर उसके सोने के सम्बन्ध में सबकी इस प्रकार की चिन्ता का अर्थ क्या हो सकता

है ?...यह क्या है जिसके सम्बन्ध में इतनी सतर्कता और इतना आग्रह ! क्या सब लोग समझते हैं कि वह इस प्रकार स्वास्थ्य लाभ कर रही है ? क्या आज इतने वर्षों बाद इन सबको यह भ्रम, हाँ भ्रम ही और क्या कहा जा सकता है, हो रहा है...उसके सम्बन्ध में उनके मन में आशा और विश्वास के सूत्र और तन्तु बुन रहे हैं ! पर...पर क्या यह सत्य, क्या यह भ्रम सच है...वह मन ही मन सोच कर हँसना चाहती है। कैसी विडम्बना है, छलना है...आदमी सबसे अधिक अपने को ठगना चाहता है, अपने को ही भ्रम में रखना चाहता है...वह यथार्थ को छिपा कर अपने आप को किसी झूठी सम्भावना, किसी झूठे स्वप्न में उलझाए रखना चाहता है, वह इन्हीं के सहारे अपने आप को अन्त तक ठगना चाहता है। पर अनिवार्य आयेगा, इनएविटेबिल घटेगा, कौन रोक सकेगा उसे, कौन उसे अस्वीकार कर सकेगा ? वह आरती की बात सोचती है, वह माँ की बात विचारती है, वह दातादीन की कल्पना भी कर लेना चाहती है...और उसके मन में अनायास ही करुणा का स्रोत उमड़ उठता है...अपने मन को ठगना कितना कठोर है, कितना निर्मम है...पर आदमी के पास उपाय ही क्या है...वह जीने का विश्वास लेकर ही मृत्यु का वरण भी करना चाहता है...

...पर उसका जीने का विश्वास...उसका अपना विश्वास क्या हुआ ! कहाँ गया यह विश्वास, उसके जीने का सम्बल क्या हुआ ! उसके अपने जीवन के सारे सूत्र...जिन सूत्रों के सहारे उसने इतने वर्ष, इतने युग, इतना लम्बा समय बिताया है...आज वे ही लगता है कहीं बिखर गये हैं...और वे तन्तु, वे सूत्र...क्या थे वे, कैसे थे वे...क्या कभी उसने उनका साफ़ स्पष्ट अनुभव किया, क्या कभी वे उसके प्रत्यक्ष और गोचर विषय बन भी सके ?...आज वह उनका अनुभव कर रही है, उनके रिक्त स्थान का एहसास कर रही है...पर जब वे थे, जब उसके सारे अस्तित्व को, उसकी सारी चेतना को घेरे, उसके एक-एक क्षण को आच्छादित किये फैले हुए थे...उस समय उनका उसे बोध भी नहीं था। कौन है

जो अपनी चेतना, अपने अस्तित्व के प्रवाहमान क्षणों को पकड़ पायेगा, कौन है जो जीवन की गति, जीवन के प्रवाह को निरपेक्ष भाव से, उसके तट पर बैठकर देखता रह सके...जैसे यह सरिता उसके अस्तित्व से अलग हो, उसकी धारा से उसकी चेतना का कोई सम्बन्ध ही न हो... और वह नदी के तट पर बैठा उसकी तरंगों को गिनता रहे, उसके प्रवाहित जल को देखता रहे...जीवन में ऐसा नहीं होता, अपने ही जीवन के सूत्रों, अपने ही जीवन के तन्तुओं को समझ पाना सम्भव नहीं है, यद्यपि उनसे ही उसकी प्रत्येक साँस बँधी रहती है।

...पर आज जब तन्तु टूट गये हैं, जब सूत्र खुल गया है...सारे तन्तु और सूत्र बिखर कर फैल गये हैं...तब, केवल तभी इसको इस बात का एहसास हो रहा है कि उसके जीवन में कुछ था और वह ऐसा था जिसने उसे जीवन की सार्थकता दी थी।...उसे कितनी पीड़ा, वेदना, क्लेश झेलना पड़ा, पर उसे कभी ऐसा नहीं लगा कि उसके जीवन का, उसका अपना अर्थ, परपज़ नहीं है, वह खो गया है।...और है जो झेलने की उसे शक्ति देता है...यही अर्थ उसे संघर्ष की प्रेरणा देता रहा है... और आज उसके सारे अस्तित्व में अजब-सा बिखराव, विचित्र-सा शून्य है जो सब कुछ को ग्रसता चला जा रहा है, सब कुछ को निगलता जा रहा है। उसे नहीं लगता कि वह कहाँ से, किस ओर से अपनेपन को सँभाल सकेगा, उसका अपनापन बिखर-बिखर कर फैल रहा है, और निरुपाय देख रही है...उसके मन का सारा बन्धन ऐसा ढीला पड़ गया है, उसकी चेतना का बोध ऐसा इच्छाहीन हो गया है कि उसके मन में कहीं से अपने आपको ठगने जैसा मोह भी शेष नहीं रह गया है। वह आज बहुत दिनों बाद इस प्रकार पीड़ाहीन सो सकी है, और वह जानती है कि इसके लिए इसका अर्थ क्या हो सकता है? पर सब जानकर, समझ कर भी वह किसी भावना को पकड़ नहीं पाती, ग्रहण नहीं कर पाती!

आरती आराम कुर्सी पर कुछ थोक लगाये बैठी है, उसके सामने

नीरा का मुख है, पर वह उसकी दृष्टि से बच रही है, वह नहीं चाहती कि नीरा उसके भाव को समझ सके, उसके मन की बात को जान सके...और नीरा स्वयं भी उसकी दृष्टि से बचना चाहती है, वह नहीं चाहती कि आरती से उसकी दृष्टि मिले। आज उसमें न जाने क्यों आरती के प्रति भिन्न मनोभाव जाग रहा है...उसे लगता है उसके मन के सूत्रों के साथ उसके व्यक्तित्व का एक अंश, उसके अपनेपन का वह अंश जो अब तक प्रधान था, छिन्न-भिन्न हो गया है...और उसके साथ ही उसके व्यक्तित्व का एक बिल्कुल नया और अपरिचित स्वर जैसे ऊपर उभर रहा हो...। उसके मन में, उसकी चेतना में, उसके अस्तित्व में एक मौन अदृश्य अन्तर्धारा प्रवाहित हो रही है जिसका उसने कभी अनुभव नहीं किया था, जिसको उसने कभी पहिचाना नहीं था। पर उसके इस अंश में भी कहीं कोई पकड़, कोई आग्रह नहीं रहा है, केवल अनासक्त भाव से वह अस्तित्व का अंश अनुभूत है...यह अनुभव उसके अपने अस्तित्व का अंग जैसे रह ही नहीं गया है, केवल कहीं बहुत दूर से उसका आभास मिल रहा है और वह भी उसकी अपनी इच्छा अनिच्छा के बिना ही। अब जिस प्रकार साँसों का वहन मात्र निरीह है, वैसे ही यह चेतना भी केवल अनिवार्य स्थिति जैसी लगती है...और इससे भिन्न कुछ नहीं...कुछ नहीं!

...आरती ने नीची दृष्टि से उसके मन को आन्दोलित कर दिया... कहीं कोई ज्वार नहीं आया, कहीं कोई तूफ़ान नहीं आया...केवल उसकी मात्र अनुगूँज। आरती से उसने एक दिन कुछ पूछा था, उसका निर्णय पूछा था, और उस दिन उसे लगा था कि आरती से वह उसका सच्चा मत कहला रही है, उसने समझा था कि आरती अपना मत निस्संकोच प्रकट कर रही है...पर आज उसके सामने सत्य का एक दूसरा रूप उभर रहा है...आज उसे लगता है...आज उसको जान पड़ रहा है कि...

...उसके सामने आरती है...और राजेश किसी आवेश में, किसी

उद्वेग में अस्थिर भाव से टहल रहा है...आरती सिर झुकाए है, उसकी आँखों में लज्जा है, शायद ग्लानि भी...पर वह अपनी दृष्टि जीजी के सामने उठा नहीं पा रही है...उसे इस बात का जैसे अनुभव भी नहीं है कि कोई इसी कमरे इतने अस्थिर भाव से टहल रहा है। वह अपने नाखूनों को दाँतों में दबाते हुए देख रही है, उसके मन का बवंडर इसीसे ज्ञात हो रहा है...और नीरा निश्चित, अटल बैठी है—यह ऐसा नहीं हो सकेगा, यह हो कैसे सकता है...ऐसा कहीं हुआ है...वह दृढ़ स्वर में कहती है—'आरती मैं पूछना चाहती हूँ, तुमको ही बताना होगा, संकोच छोड़कर कर तुमको कहना पड़ेगा...राजेश के कहने पर मुझे विश्वास नहीं, मैं समझती हूँ यह उसने कुछ अधिक समझ लिया है...आरती यह कैसे हो सकता है, पापा, चाचा, माँ, चाची ये सब क्या कहेंगे ? यह होगा क्या ? नहीं यह नहीं हो सकता...यह सम्भव नहीं है...तुमको बताना है...हाँ, मैं साफ़ पूछना चाहती हूँ।'...आज उसे लग रहा है, आरती से इस पूछने में, इस प्रकार पूछने में उसके साथ जैसे न्याय न हो सका हो, राजेश का उस दिन इस पूछने पर, इस प्रकार पूछने पर आपत्ति करना उचित ही था—ऐसे किसी से राय ली जाती होगी, यह तो किसी से बात मनवा लेना जैसी ही कहा जा सकता है।...पर उस दिन उसके आक्रोश ने, उसके आवेश ने कुछ नहीं समझा, कुछ माना नहीं...।

और...और कायर आरती ने उसकी बात को एक प्रकार से मान लिया...वह स्वयं नहीं मानती, स्वीकार नहीं करती, आज उसे ऐसा ही लग रहा है। आज वह यही सोच रही है...आरती...उसने संकेत से, उसी की प्रेरणा से तो सब कुछ चुपचाप स्वीकार कर लिया, उसने राजेश को झूठ सिद्ध होने दिया...और वह एक बार बोली नहीं, उसने प्रतिवाद नहीं किया...फिर क्या...जो होना था वह हो गया।... और आरती, आज आरती उसी के मनमें सबसे अधिक चुभ रही है, उसकी यह मौन वेदना उसके लिए उतनी उत्पीड़न का विषय नहीं है,

क्योंकि आरती ने परिस्थिति से समझौता कर लेना सीख लिया है, उसी दिन से जिस दिन उसकी बात अपनी इच्छा के विरुद्ध, अपनी आत्मा के विरुद्ध आरती ने मान ली थी।...पर उसके लिए यह स्थिति असह्य हो गई है...उसकी सुप्त चेतना में भी यह अभिशाप कठोर होता जा रहा है...उसे आरती के उस दिन के कायरतापूर्ण समर्पण के प्रति क्षोभ है, जो आज आरती के प्रति कुछ भी अर्थ नहीं रखता...। वह तो अपने मन की वेदना है, अपने मन की व्यथा है...पर आज इस व्यथा का क्या अर्थ उसके लिए रह गया है...जो मन में गहरी टीस भी न उत्पन्न कर सके वह वेदना क्या ?...आरती, और आरती ने उस दिन भाग्य को, इनएवीटेबिल को स्वीकार कर लिया था, शायद उसके लिए संघर्ष का महत्त्व है ही नहीं !

...और आज भी वह उसी प्रकार सब कुछ स्वीकार कर लेगी... स्वीकार कर लिया है...विवाह के बाद के उल्लास के, आनन्द के, उमंग के दिनों को जिस प्रकार उसने अपना लिया था, बिल्कुल उसी प्रकार उसने आज की उपेक्षा, अपमान, अवहेलना को निरपेक्ष भाव से अंगीकार कर लिया है। वह चुप है, मौन है, जैसे उसे कोई शिकायत ही न हो... उस दिन अपनी जीजी से उसने शिकायत नहीं की और आज भी वह किसी से शिकायत करने नहीं बैठेगी। वह अब भी जीवन के उल्लसित क्षणों को स्वीकार कर सकती है, वह आज भी पिक्चर जाकर इंज्वाय कर सकती है, नुमायश घूमने में सब कुछ भुला सकती है, पिकनिक का प्रोग्राम बना सकती है...। ऐसा ही तो लगता है, ऐसा ही तो है...पर इस सब के बीच वह उदास है ! ऐसा लगता है...आरती ने समझ लिया है जहाँ उसका बस नहीं है, वहाँ संघर्ष से, विरोध से कुछ बन नहीं सकता...और इसी भाव ने उसे सबके प्रति निरपेक्ष कर दिया है।

आज भी उसे यह निष्क्रियता, यह अनिवार्य के प्रति समर्पण का भाव उद्वेलित कर रहा है...वह कभी नहीं सह पायी है इस प्रकार

का समर्पण, वह अन्त तक अस्त्र डालने के विपक्ष में है, वह अन्त तक लड़ी है, अन्त तक उसने युद्ध किया है...उसके लिए इस प्रकार की मनःस्थिति असह्य है।...जाने क्यों ऐसा लग रहा है...आरती को जीवन के प्रति इस प्रकार समर्पणशील बना देने में उसका अपना ही दोष रहा है...उसने उसको, उसके व्यक्तित्व को कुण्ठित कर दिया है...और आज आरती...

आरती कुर्सी पर पहले के समान बैठी है...उसके हाथ में आंद्रेज़ीद का उपन्यास है—स्ट्रेट इज़ दि गेट। वह पढ़ रही है, शायद पढ़ने का प्रयत्न कर रही है...उसके मन में कोई भाव है जो उसको आन्दोलित करने का प्रयत्न कर रहा है...वह इस उपन्यास के साथ, उसकी भावना के साथ बहते-बहते किसी भिन्न वातावरण में है...और नीरा उसके मन के भाव को पकड़ना चाहती है, वह आरती के मन के माध्यम से आंद्रेज़ीद को समझना चाहती है...। और वर्षों बाद...नरेश भइया की बात को फिर से सोच रही है...उसे लग रहा है कि कमरे के सारे प्रकाश में, उसकी बहुत हल्की गंधों में, उसके बहुत सूक्ष्म रंगों में कहीं कोई संवेदन अन्तर्निहित है जो छुपके-छुपके उसके मन में प्रवेश कर रहा है, उसकी चेतना को अभिभूत कर रहा है, उसके अस्तित्व को तरंगायित कर रहा है...

...चाँदनी...शान्ता चाँदनी...कितनी सीधी, सरल लगती थी वह। पापा ने कभी माना नहीं कि उस प्रसंग में उसका कोई ऐसा अपराध है जिसके लिए उसे क्षमा न किया जा सके...वह संसार से प्रवंचित ही रही है, उसके मन पर उसका गहरा संस्कार है...और उसके प्रति सहानुभूति से सोचना चाहिए...। नीरा के लिए यह सब इतना सरल नहीं है...उसने उस पर जो आरोप लगाया है, उसके विषय में जो प्रचारित किया है...वह क्या इतनी सीधी बात है...यह पापा की ही

क्या गया है, वे इतने उदार क्यों हैं...क्या यह उसका अपमान, उसके नरेश भइया का अपमान नहीं है ? और क्या यह उनकी अपनी निन्दा का कारण नहीं बन सकता...यह सब असह्य है, अक्षम्य है...उसे यह सब ऐसा कहने का साहस हुआ कैसे ? आदमी देखने में कितना सरल लग सकता है और कितना कुटिल हो सकता है !...वह अपने आक्रोश को, अपने आवेश को सँभाल सकने में असमर्थ है...पर पापा के साथ यह चाची भी मिल गई हैं, वे भी दादा जी के साथ यही मानती हैं...उसको छोड़ देने से क्या बनेगा, अपना किसी प्रकार भी कोई नुकसान नहीं है... इस प्रकार उसके प्रचार करने से हमारी क्या हानि है, अपने स्तर के कितने लोग हैं जो इन बातों पर ध्यान जायँगे, पर...यह बेचारी जिस दलदल से निकली है, उसी में फिर लौट जायगी...

...पर वह नहीं समझ पा रही है, उसने ऐसा किया क्यों ? उसका क्या भाव हो सकता है, क्या उद्देश्य हो सकता है ? शान्ता को उसने स्नेह के भाव से माना है, उसे उसने आश्वासन और बल देने का प्रयत्न किया है, और वह भी सदा उसके प्रति स्नेहशील तथा ममतामयी रही है...। रात के समय शान्ता काम ख़तम करके वापस जा रही है और उससे मिलने आ गई है...फिर वह घंटों रुक जाती, न जाने कहाँ की, कैसी बातें वह करती रहती...और दोनों के वार्तालाप में अनजाने ही सख्य भाव आ जाता है...। वह एकान्त के क्षणों में अपनी अनेक व्यक्तिगत जीवन की बातें बताती रहती है, और नीरा सुनती रहती है, करुणा और व्यथा के मिश्रित भाव से अभिभूत होती हुई...

यह बिजली के सफ़ेद प्रकाश में चुपचाप बैठी है, उसकी काली घनी बरौनियाँ काली लम्बी आँखों पर झुकी हुई हैं और वह अँगुली पर लूगड़ी का छोर लपेट रही है...उसके ओंठ फड़क जाते हैं और वह कह रही है—'जीजी, तुम छोटी हो तो क्या, मेरे लिए विद्या-बुद्धि में बड़ी हो और मेरी जीजी ही हो। नीरा जीजी, मेरा जीवन इस राजस्थान के रेगिस्तान से अधिक सूखा, अधिक नीरस रहा है...सुनते हैं कि इस रेत के सैकड़ों

झील लम्बे-चौड़े प्रसार के नीचे-नीचे, कहीं बहुत नीचे पानी का स्रोत बहता रहता है...और वही पानी की छिपी धारा कहीं ऊपर आकर झील, सरोवरों में प्रकट हो जाती है...और नहीं तो कहीं कोई हरी-भरी घाटी ही अरवली की श्रृङ्खला में निकल आती है। पर जीजी मेरे इस जीवन में कहीं कोई भी स्रोत, कहीं कोई छिपी हुई धार नहीं है, मुझे ऐसा ही लगता है। तुम कहोगी मेरे जीवन में अनेक लोग आये हैं, उनमें से कई ने मुझसे प्रतिदान भी पाया है, फिर मैं ऐसा कहती हूँ कि कभी कोई मेरे जीवन का स्रोत मिला ही नहीं...। नहीं जीजी, तुम शायद न समझ सको, तुम जिस परिवार के स्नेह और प्यार के वातावरण में पली हो उसमें निश्चय यह सब समझ पाना सरल नहीं है। पर...पर मैं सच कहती हूँ, और मैं कह भी सकती हूँ...यह मेरा गत जीवन मेरे लिए कभी-कभी नशा जैसा उन्मादक ज़रूर रहा है और वह मेरे लिए व्यसन जैसा अनिवार्य भी हो गया था, नीरा जीजी! और यदि तुम सब का स्नेह और आत्मीयता मुझे न मिल पाती, तो अब भी वही मेरे जीवन की अनिवार्यता होती इसमें कोई सन्देह नहीं...यह सब मेरे अपनेपन का अंश बन चुका था...हाँ, सच यह तुम्हारे लिए समझ पाना सहज नहीं है...कैसे आदमी जानबूझ कर नरक को अपनाये रहता है... कैसे उसमें रहते हुए वह उसे अपने जीवन का अंग मान लेने के लिए विवश हो जाता है। पर नरक की उस ज्वाला, उस दंशन से वह तिल-तिल जलता रहता है, वेदना पाता रहता है...उससे मुक्त हो पाने का उसके पास उपाय ही क्या है?...नरक को अपना ही लेना होता है, और कोई रास्ता नहीं रह जाता। जीजी, यह ऐसा ही होता है कभी-कभी...सुनने में यह कितना ही अविश्वसनीय क्यों न लगे।'

...वह सुनती रहती है, यह साधारण, लगभग अशिक्षित सी इस प्रकार कहती चली जा रही है...और वह किसी जीवन के गहन स[illegible] का ही उद्‌घाटन कर रही है...उसे यह सब सचमुच कुछ अजीब सा लगता है, पर वह जिस आन्तरिक गहराई से अपनी बात कह रही है,

उससे ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसकी बात में जीवन का अनुभव नहीं है...लगता वह अपने जीवन को ही इस प्रकार पढ़ रही है...उसके सामने उसके जीवन की पुस्तक खुली है और वह बिना प्रयास के पढ़ रही है। पर उसको यह वाणी, यह भाषा कहाँ से मिल सकी, किससे उसने सीखा है यह सब! वह उसके प्रश्न पर एक बार अपनी घनी बरौनियों को तरंगायित करती हुई ऊपर उठाती है और फिर आँखें झँप लेती है...उसका अधर फिर एक बार फड़क उठता है...उसी प्रकार धीरे-धीरे वह कह रही है—'नीरा जीजी, आदमी की ज़िन्दगी उसे बहुत कुछ सिखा देती है।...और उसे वाणी, भाषा...हाँ, सचमुच वह मुझे तुमसे ही तो मिली है। जीजी क्या तुम अपनी भाषा को पहिचान नहीं पातीं...और जीजी, उनसे भी सीखा है...मुझे लगता है जिनका प्रभाव तुम पर है...अपने नरेश भइया का, बड़े कुँअर जी से...।' नीरा को न जाने कैसा लगता है, उसके शरीर में अज्ञात रूप से रोमांच हो आता है...जिसका अनुभव आज अधिक स्पष्ट रूप से कर पा रही है...

सचमुच यह नरेश भइया की वाणी की ही प्रतिध्वनि है, उनकी ही शैली, उनकी ही अभिव्यक्ति...रेगिस्तान-सा नीरस जीवन, अन्तस्स्रोत-स्वनी...नरक जीवन का अपनापन हो जाता है...शान्ता ने नरेश भइया से बहुत प्रभाव ग्रहण किया है...उसे लगता है कि उसके जीवन के परिवर्तन का मूल कारण आज उसे दिखाई दे गया हो...नरेश भइया।... उसके अपने नरेश भइया...उन्होंने एक नरक को...नहीं किसी के नरक को स्वर्ग में बदल दिया है...और भइया को इसका पता भी शायद नहीं है...। उसने किसी भावावेश में शांता बींदनी को देखा, उसकी दृष्टि ऊपर उठ गई...और शांता की दृष्टि में उसने देखा बिल्कुल उसी के भाव की छाया पड़ रही हो जैसे...दोनों दृष्टियाँ मिल कर चमक गईं, फिर किसी संकोच से झुक गईं...पर दोनों ने एक दूसरे के भाव को जैसे पढ़ लिया हो, समझ लिया हो। पर वह समझना भी आज से भिन्न प्रकार का था...आज नीरा शांता के मन के किसी भाव को साफ़

पढ़ रही है...और उसके माध्यम से पिछला अपना अतीत उसके सामने घूम रहा है।

...वह शान्ता के इस परिवर्तन को समझ सकने में असमर्थ है, उसे सारी परिस्थिति उद्वेगजनक लगती है...पापा ने उसे आश्वासन दिया है, पर उसके मन का आवेग पूरी तरह शान्त नहीं हो सका है।...और उस रात उसकी आशा के विरुद्ध बीदनी उसके कमरे में प्रवेश करती है...उसके साहस पर उसे आश्चर्य और क्रोध आता है...पर वह अपने को संयत करती है। शान्ता आकर उसके सामने खड़ी है, उसके खड़े होने के भाव से यह नहीं लगता कि उसे पश्चाताप है, उसे किसी प्रकार का संकोच है...वह खड़ी है, वह दूसरी ओर देखती हुई खड़ी है। नीरा उसको देख लेती है, उसके खड़े होने के इस भाव से वितृष्णा से उसका मन भर जाता है, वह वैसे ही चुप बैठी रहती है। शान्ता अपनी घनी बरौनियों को उठाती है, उसकी गहरी काली पुतलियाँ कुछ ऊपर उठ जाती हैं...उसकी दृष्टि में कहीं क्षमा, याचना कुछ भी नहीं है...पर नीरा ने देखा उसमें अहंकार के स्थान पर करुण भाव ही प्रधान है...नीरा की मुद्रा कुछ प्रकृतस्थ हुई। उसकी दृष्टि के उभरते हुए प्रश्न के भाव को समझ कर शान्ता की दृष्टि फिर झुक गई और उसने कहना शुरू किया—'नीरा जीजी,...मेरी बात सुन कर ही कुछ निर्णय लें...और जीजी कहने का अधिकार मेरा न छीनें...लेकिन मैं आप से प्रार्थना करने नहीं आई हूँ, केवल अपनी बात कहने आई हूँ। उसके बाद मैं बिना कुछ चाहे ही चली जाऊँगी...हाँ फिर न लौट सकने के लिए...आप मेरे लिए ऐसी-ऐसी न हों...मैं जानती हूँ पापा जी, अम्मा जी, चाची जी सबका मुझ पर अब भी स्नेह है...सब अब भी मुझ पर दया करने के लिए उत्सुक हैं। पर जीजी, मैं दया को सह नहीं पाऊँगी...हाँ नरक की तुलना में भी नहीं...उसके असंख्य दंश भी इस दया से कहीं कम पीड़ाजनक हैं...'

...शान्ता की वाणी में ओज आ गया है, वह उसके सामने दृष्टि नीचे किये बैठी है। वह निष्कम्प भाव से बैठी है...वह कहती जा रही है और धीरे-धीरे उसके स्वर में आवेश आ रहा है—'नीरा जीजी, मैं मानती हूँ कि जो मैंने आपके यहाँ की बींदनी से कहा है, वह विचार कर नहीं कहा गया...उस क्षण किसी आत्मीय सखी के स्थान पर मैंने एक ईर्षालु स्त्री से, अविश्वसनीय पात्री से अपनी बात कह कर ग़लत ही किया है। पर नीरा जीजी, जो मेरा भाव था, वह बिल्कुल उसी रूप में व्यक्त हो सकता है...तुमको आश्चर्य है, पर बहुत कुछ है जो तुमसे अधिक मैं समझती हूँ। मैं साफ़ कहती हूँ, तुमसे कहने में नीरा बाई जी, मुझे संकोच नहीं है...इधर वर्ष से अधिक के समय से मैंने एक स्वप्न पाला था...वह स्वप्न जिसकी मैं कभी पहले कल्पना ही नहीं कर सकती थी...। वह सब मेरे संस्कार से परे की वस्तु थी...पर जब मेरे मनमें पहली बार एक ऐसा भाव जाग गया, तो मुझे अब लगने लगा है कि मेरे सारे नारीत्व की यह माँग है...और अपनेपन का अधिकार जाग जाने के बाद फिर छोड़ पाना बहुत कठिन होता है, बाई जी।...अपने अंग को काटकर अलग कर देना सरल नहीं है, अपने मन के उस अंग का जो उसका सब कुछ हो गया हो, काट फेंकना असह्य पीड़ा का काम है।...और नीरा बाई, यही मुझे उस दिन करना पड़ा था...उस दिन जब कुँअर जी मेरे यहाँ से सब कुछ अस्वीकार करके लौट आये...मैं समझ गई कि मेरे मन में न जाने कैसा भ्रम पल रहा था। मैंने सचमुच जीवन में यह पहला धोखा खाया...और फिर सब कुछ तोड़ने में, सब कुछ को निर्ममता के साथ छोड़ देने में मुझे अपने को तोड़ना पड़ा है...'

वह मन की आंतरिक दृढ़ता से कहती जा रही है, नीरा सुन रही है...उसके मनमें कितनी भावनाएँ उठीं, कितनी बार उसे यह सब बहुत अपमानजनक लगा, कितनी बार उसे यह सब असह्य लगा... पर वह मंत्रमुग्ध सी सुनती रही—'...नीरा बाई, नारी का इससे बड़ा

क्या अपमान हो सकता है कि वह अपने को किसी के प्रति समर्पित कर दे और वह व्यक्ति...उसका अपमान भी न करे, उसकी प्रतारणा, अवहेलना भी न करे, केवल दया के भाव से आश्चर्य प्रकट करता हुआ अपनी उदारता का प्रदर्शन करता रहे...नारी इस अपमान को, अवहेलना को कभी क्षमा नहीं कर सकेगी...!'

...उसके मन में कहीं आश्चर्य और उत्सुकता बढ़ती रहती है... अन्ततः वह कह उठती है—'शान्ता बीदनी, यह तुम कह क्या रही हो, तुमने सोचा भी है कि इसका अर्थ क्या हो सकता है...नरेश भइया... उनका भाव, उनकी भावना का तुमने बहुत ग़लत अर्थ लगाया है...और शान्ता फिर तुमने हमारे सम्बन्धों को ठीक न समझ कर अन्याय ही किया है...पर तुम्हारी स्थिति...तुम जैसे रहती आई हो...।' एकाएक शान्ता की बरौनियाँ उठ जाती हैं, उसकी दृष्टि का आक्रोश अभिव्यक्त हो उठता है...उसके स्वर में आवेश है—'नीरा बाई, मैं फिर कहती हूँ, तुम मेरी स्थिति नहीं समझ सकती हो...तुम्हारा सामाजिक स्तर भिन्न हो सकता है, पर मन और हृदय का भेद नहीं होता...बाई मेरे भी वैसा ही मन है...मेरी छाती में सबके जैसा ही हृदय है...क्या तुम कह सकती हो कि हमारी और तुम्हारी धड़कनों में कोई अन्तर है...फिर ऐसा क्यों है कि मैंने तुम्हारे भइया का बहुत ग़लत अर्थ लगाया...तुम्हारे भइया जी बच्चे नहीं हैं, बाई जी !...(जब वे मेरे मन के संस्कारों को बदलने के लिए, मेरे जीवन की सारी धारा को बदलने के लिए, जब मेरी सारी अपनी श्रृङ्खला को तोड़ कर नई पद्धति और नये आदर्श में डालने के लिए मुझे उत्साहित और प्रेरित करते रहे हैं...तब उनका क्या मनोभाव था, तुम जानती हो ?...किसी को उसके मार्ग से विचलित कर देना बहुत बड़ा उत्तरदायित्व हो जाता है...) हा हा हा तुम कहोगी, कितने भोलेपन से तुम कह सकती हो...नरेश भइया का इसमें क्या ?...क्या उन्होंने मुझसे नहीं कहा है—शान्ता जीवन किसी गत के लिए प्रतीक्षा करते रहने के लिए नहीं है और वह भी जो कभी लौटनेवाला नहीं...

शान्ता जीवन केवल सुन्दर बनाने के लिए मिलता है...जीवन की ममता प्रतिबन्ध नहीं स्वीकार करती...और क्या नहीं कहा था कि बींदनी जब तुमको कभी आश्रय की आवश्यकता हो तो निस्संकोच मुझे याद करना। क्या किसी स्त्री के लिए ये संकेत पर्याप्त नहीं हैं...और बाई जी, तुमको आश्चर्य है कि मैंने एक साधारण खाना बनानेवाली स्त्री ने, तुम्हारे भइया से इस प्रकार की असम्भव आशा कैसे लगा ली। यह हो सकता है, ऐसा नहीं कि मैं इसको समझती नहीं हूँ...लेकिन इस सब में ऐसा इतना विचार नहीं किया जाता, इतना होश, इतना हिसाब कोई नहीं कर पाता!...हाँ, आप बड़े लोग इसमें हिसाब लगा पाते हैं, ऐसा मैंने देखा है...लेकिन...लेकिन जहाँ स्त्री और पुरुष का सीधा सवाल है... मैं नहीं सोच सकी यह सब, बाई जी!...मैंने तो उनको देखा, उनके शब्दों से उनके मन को देखा...और फिर अपनी ओर भी देखा... ऐसा नहीं कि मैंने अपने को देखा न हो। पर नीरा बाई जी, आज जो तुम देख रही हो वह मैं नहीं देख सकी थी...मैंने तो अपने को देखा था...।'

आगे जैसे उसने अपने को अपने कहने के स्थान पर प्रस्तुत कर दिया हो। वह खड़ी है...वह शांता नहीं रह गई हो, वह बींदनी भी नहीं रही हो जैसे! केवल नारी, युवती...जिसके सारे शरीर में स्वास्थ्य और यौवन तरंगित हो उठा है...। वह खड़ी हो गई, उसकी आँखों की काली घनी बरौनियाँ श्वेत-श्याम बड़ी-बड़ी आँखों पर झुक गईं...उसका वक्ष अधिक उभर आया...उसके गालों पर लालिमा दौड़ आई...उसे, नीरा को लगता है वह चुनौती के समान खड़ी है...वह स्वयं उसके सामने हीन पराजित सी बैठी है...वह उसके मुख को स्तब्ध भाव से देख लेती है...और शान्ता इसी प्रकार कुछ देर खड़ी रही। उसका ऊपर का ओंठ फड़का, जैसे वह फिर कुछ कहना चाहती है...। पर इसी बीच में वह आकस्मिक आश्चर्य और आवेश से किंचित अपने को मुक्त करके शान्ता से कह देती है—'शान्ता, यह क्या तुम कह रही हो...ऐसा नहीं अब

तक मैं तुम्हारा भाव समझ नहीं सकी हूँ। पर मुझे...मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि यदि यह ऐसा भी था...यद्यपि मैं इस बात को, तुम्हारी बात को इस रूप में मानने के लिए तैयार नहीं...पर मैं तो कहती हूँ कि तुमने जो कुछ औरों से कहा है वह तो कुछ भिन्न ही बात है...और यह तुम...।' वह जैसे एकाएक किसी संकोच से चुप हो जाती है, यह उसके सामने की स्त्री कितनी निस्संकोच है, उसने मन का शील संकोच क्या हो गया है।

...और शान्ता जाते-जाते जैसे रुक गई हो, उसने अपमानित स्वर में तीखे भाव से कहा—'यह तो इतनी सीधी बात है...तुम सब का न समझ पाने का अभिनय भी कितनी प्रवंचना छिपाये रहता है...नीरा बाई जी, सच कहना तुम इतनी सी बात भी क्या नहीं समझ पातीं... और यह सब पढ़ाई-लिखाई, सेनिमा-नुमाइश, घूमना-फिरना...यह सब क्या इतना भी समझ पाने में सहायक नहीं होता।...तुम कुछ समझ ही नहीं पातीं, नीरा बाई जी...खूब बात है, कैसी बात है। और तुम हो कि नरेश भइया के बिना कहीं आ-जा ही नहीं सकतीं, घूम-फिर नहीं सकतीं, कहीं मन ही नहीं लगता!...और यही क्यों, कोई बात ही कहाँ पूरी हुई, यदि उसमें नरेश भइया का हवाला एक-दो बार न दिया जाय...और बेचारे नरेश भइया हैं कि वे नीरा जीजी के बिना, उनके अलावा कुछ कहीं देख सुन ही नहीं पाते...नीरा जी से ही ऐसा ग्रहण किया होगा, नीरा जी ने ही प्रभावित किया होगा...जैसे संसार में कहीं किसी और का अस्तित्व है ही नहीं, कोई और कहीं हो ही नहीं सकता...।'

वह न जाने कितनी वितृष्णा से, घृणा से, उपेक्षा से सब कुछ कहती जा रही है...। नीरा हतप्रभ, स्तब्ध सी सुन रही है...उसके लिए यह सब असह्य है...उसको यह अपमान लगता है...पर वह इस नारी का जो इतनी डिस्प्रेट है, इतनी उग्र है, जो बिल्कुल आदिम युग की नारी के समान उसके समान खड़ी है, जिसका शिकार मानों किसी ने छीन लिया

हो और जो अपने सारे नारीत्व के साथ अपने प्रतिद्वंद्वी के साथ होड़ करने के लिए उद्यत है.. वह क्या करे...किस प्रकार उससे डील करे। अपना सारा आक्रोश और अपमान भूल कर वह इस नारी को देख रही है...उसके अन्दर की नारी संस्कारों में, शालीनता के आवरण में छिपी हुई है, वह स्वयं केवल एक स्त्री है, केवल एक नागरिक है... और इस शुद्ध आदिम नारी से होड़ लेने में अपने को असमर्थ पाती है...वह मौन मूक बैठी रह जाती है और वह नारी विजय के गर्व से चली जाती है...जैसे वह कह रही है– इस कायरता को लेकर तुम्हीं रहो, मैं अपना रास्ता आप बना लूँगी...

नीरा के सामने से जैसे दृश्य बदल गया हो...उसने देखा आरती ने आन्द्रे ज़ीद को रख दिया है और वह सामने की खिड़की से बाहर की ओर देख रही है...उसे लगा जैसे आरती की दृष्टि में किसी वस्तु को देखने का भाव नहीं है, वरन् शून्य में खो जाने का भाव ही व्यक्त हो रहा है। वह देख रही है, केवल देखने के भाव से, किसी। देश-काल की परिस्थिति से उसका सम्बन्ध नहीं है, वह केवल एक क्रिया है जिसका कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं...बाहर का दृश्यमय शून्य दृष्टि में उतर रहा है, और उसमें भी वही शून्य, वही आकाश झलक रहा है जिसमें कहीं कोई रंगीन किरण नहीं है, कहीं कोई रंगों की शेड वाला बादल नहीं है... कहीं कोई सन्ध्या की घिरती हुई छायाएँ भी नहीं...केवल शून्य, केवल नीला आसमान फैला है...! नीरा ने बाहर दृष्टि डाली...खिड़की के बाहर भी वही नीला आसमान है,पर उस आसमान के नीचे एक विस्तार है...घरों, सड़कों, न जाने कितने वृक्षों के फैलाव के ऊपर यह आसमान है...और नीले शून्य में पहाड़ी शृङ्खला चली गई...जिसकी उठती-गिरती चोटियाँ इस नीलाकाश को भी एक आकार दे रही हैं...और दोनों शृङ्खलाओं के बीच में सूर्य घूम कर आ गया है, इस कारण दोनों के

ऊपरी भाग पर धूप पड़ रही है और सारा पार्श्व अपनी छितरी हुई हरियाली में फैला हुआ है...

आकाश शून्य है...लेकिन...लेकिन उसमें कितने आकार रूप पाते हैं, कितने रंग प्रत्यक्ष होते हैं, सारा का सारा वस्तु जगत् इसी के अन्तर्गत साकार होता है...फिर वह शून्य कैसे है। पर आरती की दृष्टि में यह क्या था...और आज उसको यह शून्य, उसके जीवन का शून्य...नहीं नहीं यह तो उसके, नीरा के जीवन का आकाश है जो उसको इतना पारदर्शी दिखाई दे रहा है। यह उसके मन का शून्य आकाश है जिसका उसे कभी भान नहीं हुआ...अब तक न जाने कितने दर्द, कितने कष्ट, कितनी पीड़ाओं से पूरा रहा है...पर ये सारे बादल साफ़ हो चुके हैं। जब संध्या समय चारों ओर के बादल बिखर कर छिन्न-भिन्न हो गये हैं, विलीन हो गये हैं...तब आकाश केवल एक गहरे नीले शून्य का अनुभव लेकर स्थित है...इसी खिंचे हुए नीले आकाश में जिसमें संवेदना की सारी स्थितियाँ मिट चुकी हैं, धीरे-धीरे अन्धकार फैलता जायगा, फैलता जायगा...फिर सब कुछ, वह बचा हुआ शून्य भी उस अन्धकार में विलीन हो जायगा। और उसके जीवन में जो अन्धकार घिर रहा है उसमें शून्य आलोकित नहीं होगा, उसमें तारे भी नहीं चमकनेवाले हैं...शून्य को कोई अनन्त अन्धकार ग्रसता जायगा, ग्रसता चला जायगा, और अन्त तक सब कुछ विलीन हो जायगा—सारी चेतना, सारा का सारा अस्तित्व...

...पर इस डूबते हुए, विलीन होते शून्य में यह क्या उभर रहा है, यह क्या है जो अन्त में शून्य की अनुभूति को एक संवेदना दे रहा है...और यह है कि जिसे उसने कभी जाना नहीं, पहचाना नहीं। यह संवेदना बहुत हल्की, बहुत वायवी होकर भी सारे सन्ध्या के घिरनेवाले अन्धकार को अजब रंगीनी से भर रही है...उसे ज्ञात है कि फैले इस अन्धकार के साथ ही आकाश के ये सारे रंग अपने-आप मिट जायँगे...। पर यह कुछ क्षणों का अनुभव, कुछ क्षणों की संवेदना भी उसके जीवन

को एक नया, बिल्कुल भिन्न अर्थ प्रदान कर रही है...ऐसा लग रहा है उसने अपने ही आप को आज तक जैसे न पहिचाना हो...और इस क्षण ने सारा रहस्य उसके सामने उद्‌घाटित कर दिया हो...

उसने तैरती दृष्टि से देखा वृत्त के एक मोड़ तक सारी श्रेणी का ऊपरी भाग प्रकाशित है, और उसका शेष भाग छाया में फैला है...अभी उत्तरायण का सूर्य कुछ और घूमेगा...घूम कर घाटी के बाएँ पार्श्व की श्रृङ्खला को प्रकाशित कर देगा और दाहिनी ओर का अंश फिर छायामग्न हो जायगा...धीरे-धीरे अन्धकार में, संध्या के डूबो देनेवाले अन्धकार में विलीन हो जाने के लिए। कहा जायगा अंधकार भी प्रकाशमय हो सकता है, उसमें भी चाँद तारों का स्वप्न पलता है...उसमें भी चाँद का प्रकाश फैलेगा जिसमें, जिसके विस्तार में सारा छायालोक भी उद्‌भासित हो जायगा...पहाड़ी श्रेणियाँ गहरी छायाओं में रूप धारण करेंगी, चोटियाँ भी व्यक्त हो उठेंगी। चाँद नहीं भी उगे तारे तो चमकते ही हैं...तारों की धूमिल छाया के नीचे भी श्रेणियाँ और चोटियाँ सभी व्यक्त होती ही हैं...किसी स्वप्न के समान वे और भी रहस्यमय होकर संवेदित करती हैं। पर यह कैसी सन्ध्या है...यह कैसा अँधेरा घिर रहा है जिसमें एक प्रकाश किरण की भी आशा सम्भावना नहीं जागती...ऐसा लगता है कि यह अन्धकार है कि घिरने के बाद फिर कभी मिटनेवाला नहीं...जो प्रकाश को हटाता नहीं, दूर नहीं करता उसे ग्रस रहा है, उसे पी रहा है, उसे सदा-सदा के लिए निःशेष कर रहा है...कैसा है यह अँधेरा ?...पर आगे आते हुए घिरते हुए अन्धकार के साथ यह भी है जो अपनी लाली की हल्की सूक्ष्म रेखाओं से सारे आकाश को, शून्य को भर रहा है...कितनी भी क्षणिक हो, कितनी भी क्षीण हो उसकी अनुभूति, पर यह जीवन के उस क्षण का सत्य है, जिसको आदमी सबसे अधिक पकड़ के साथ जीना चाहता है...हो सकता है कि यह पकड़ कितनी

हो क्यों न ढीली हो !...और इसीलिए शायद यह क्षण सबसे अधिक प्रत्यक्ष होता है...

...वह लखनऊ मेडिकल कॉलेज के एक प्राइवेट वार्ड के कमरे में एकदम सीधी लेटी हुई है...उसके पेट में असह्य पीड़ा बढ़ती जा रही है, उसके आँतों में कुछ भी रुकता नहीं...लक्षण स्पष्ट इंसटाइनल टी० बी० के हैं...उसके ही अनुसार डाक्टर प्रिकाशन ले रहे हैं और दवा कर रहे हैं...। उसे ज्ञात है, उससे छिपाने में क्या छिप सकता है...घर में यह प्रयास सफल हो सकता था, हुआ भी...पर यहाँ यह सब नहीं चल सकता है। चार वर्ष से उसके शरीर में यही संघर्ष चला है... उसे सब कुछ याद है, उसे सब का अनुभव है...डाक्टर तारानाथ की सारी चिन्ता और परेशानी के मूल में और पापा के मन में आन्तरिक क्लेश का साधारण कारण नहीं रहा होगा, पर पापा ने कभी इस रूप में अपनी चिन्ता व्यक्त नहीं की, और डा० अंकिल ने भी अपने सारे प्रयत्नों के बीच इस बात की चिन्ता भी रखी कि उसे यह ज्ञात न हो कि उसका रोग कुछ कठिन भी है...।

और यह डाक्टर भी कह रहे थे...'हमारा रास्ता बहुत टेढ़ा है, हमारे प्रो० साहब इस विषय में एक विशेष फ़िलासफ़ी रखते हैं—'हमको रोग से लड़ना है, लड़ाई के अपने सीक्रेट्स रहते हैं, विशेषकर दुश्मनों से हमको उन सीक्रेट्स के सम्बन्ध में अधिक सतर्क रहना होता है... और रोगी रोग के साथ होता है, यद्यपि लगता है, और है भी यही कि हम रोगी के लिए ही रोग से लड़ते हैं... पर रोगी कभी डाक्टर के साथ नहीं रहता, वह सदा रोग के साथ रहता है...अतः डाक्टर को होशियार रहना है कि उसके सीक्रेट्स रोगी को ज्ञात न हों...! युद्ध के समान इलाज में भी इस बात का बुरा नहीं मानना चाहिए, यह उचित ही नहीं, अनिवार्य युद्ध का नियम है। और तुम हो कि इस बात से चिढ़ती हो, अपना अधिकार का दावा पेश करना चाहती हो...। और

नर्सिंग के नियम जान कर तुम डाक्टर से विचार कर लेने का दावा करती हो...। विवश होकर व्यर्थ ही अपने रोग के विषय में निरर्थक कल्पना कर लेना चाहती हो, उसे अपने आप असाध्य और भयानक मान लेना चाहती हो।...पेज़ ए डाक्टर मैं तुम्हारी इस हटधर्मी का क्या उत्तर दूँ, हाँ अपरूप ज़रूर नहीं करूँगा।' वह कहना चाहती, ऐसा क्यों मान कर चला जाय कि प्रत्येक मरीज़ एक बच्चा होता है जो अपने भले-बुरे को नहीं समझता, जो रोग के विषय में कुछ भी जान कर घबरा हो जायगा...इसके विपरीत उसे समझा कर अधिक सहायता ली जा सकती है, मरीज़ अधिक कापरेट कर सकता है। डाक्टर, हाउस सरज़न, मुस्करा देता है और उसकी मुस्कान उसके इन सारे प्रश्नों का उत्तर दे देती है—'यह ऐसा ही चलता है, प्रत्येक मरीज़ यही तर्क देता है। पर प्रोफ़ेसर का कहना ठीक है कि रोग की चिकित्सा अथवा निदान मरीज़ के मनोविज्ञान पर अधिक आधारित है...हर केस को हमको साइकालॉजिकल ढंग से लेना चाहिए...और नीरा, तुम्हारे जैसे सेल्फ़-कांशस मरीज़ों के लिए उनका कथन बिल्कुल सही है।'

...वह अपनी पीड़ा और वेदना में भी उसके इस भाव को ग्रहण कर पा रही है...यह डाक्टर कितना मधुर, कितना स्नेहशील है, उसके मुख की मुस्कान उसके मन में उन कष्टों के, पीड़ाओं के बीच उभर आती है!...जब वेदना से विह्वल होकर तड़पती रहती है, उस समय भी हाउस सरजन का यह कहना—नीराजी, बहुत कष्ट है—उसके मन को एक क्षण के लिए कष्ट मुक्त कर देता है...डाक्टर आकर उसके पास बैठ जाता है, उसके माथे पर हाथ रख कर कह देता है—'नीराजी, मैं समझता हूँ, तुम्हारे कष्ट, तुम्हारी पीड़ा को।...बस थोड़ा और धैर्य रखो...अब देर नहीं है, हमारे प्रोफ़ेसर साहब ने तुम्हारे रोग को पकड़ लिया है...यह ट्रीटमेन्ट का कोर्स समाप्त हुआ और तुम ठीक हुई।' युवक डाक्टर के मुख से यह आश्वासन कितना अच्छा लगता है, अब उसके स्वास्थ्य के, उमंग, उल्लास के दिन फिर वापस आने वाले हैं...डाक्टर

मेरे इस असाध्य रोग से भी लड़ सकेगा...प्रोफ़ेसर का नाम...वह तो उसकी शालीनता का...अपनी नम्रता के कारण ऐसा कहते रहते हैं... प्रोफ़ेसर जी तो कभी-कभी ही आ पाते हैं, अधिक ध्यान भी नहीं दे पाते...डाक्टर उसमें विशेष इंट्रेस्ट लेते हैं, ऐसा उसे अनुभव होता है... और यह आश्वासन उसे बहुत बल दे रहा है...

वह बहुत कठिनाई से, माँ के मना करने पर भी नरेश भइया को पत्र लिखती है—'नरेश भइया, तुम यहाँ मेरी जो हालत देख गये थे, ऊपर से उसमें कोई सुधार नहीं जान पड़ता, पेट में वैसी ही पीड़ाएँ, वैसा ही दर्द है और मुझे अब तक कुछ भी हजम नहीं हो पा रहा है... मुझे स्पष्ट लग रहा है, ये सब लोग मुझसे रोग छिपाने का प्रयत्न कर रहे हैं, या कम से कम मुझे कुछ भी स्पष्ट ज्ञात होने नहीं देना चाहते...। मैं जानती रही हूँ कि पापा और डा० अंकिल दोनों ने सदा इस बात का प्रयत्न किया है कि मुझे मेरे रोग के विषय में कभी कुछ भी मालूम न हो सके...और तुम भी उन्हीं का साथ देते रहे हो...लेकिन मुझे अपने विषय में अनुमान न हो ऐसा नहीं है...मैं सदा समझती रही हूँ कि किस प्रकार डा० अंकिल का सारा देश विदेश का ज्ञान मुझ को लेकर विफल होता रहा है, पापा को ही नहीं स्वयं डाक्टर अंकिल को भी अपने ऊपर मुझ को लेकर अविश्वास बढ़ता गया है। वे मुझे खाट से खड़ा रख सके, काम-काज के साधारण योग्य रख सके, पर रोग को समझ नहीं सके, निदान नहीं कर सके। जड़ से रोग नहीं जा सका है, यह वे समझते रहे हैं, इसी कारण कई बार पापा का विरोध करके भी उन्होंने अन्य डाक्टरों से, अपने से छोटे-बड़े सभी से मशविरा लिया है, दिखलाया है!...मैं जानती रही हूँ कई बहाने लेकर, कई मैन्युपुलेशन करके...मुझे हँसी आती है, तुम सब यहाँ तक डाक्टर अंकिल भी कितना कम मुझको समझ सके हैं। और यहाँ डाक्टर, तुमने देखा होगा जो हमारे वार्ड के इंचार्ज हाउस सरजन हैं, भी कह रहे थे, वे तो इसकी फ़िलासफ़ी पर ही कह रहे थे कि क्यों रोगी से डाक्टर अपना राज़ नहीं

बताना चाहता है। पर मुझे लगता है इस बात में चाहे जितना सत्य हो, उसकी चाहे जितनी उपयोगिता भी हो...पर रोगी से छिपा सकना सरल नहीं है। तुम इस बात को समझ नहीं सकते कि हमारे पास कितना समय रहता है, रोगी कितना आत्म-केन्द्रित हो जाता है, यह उसकी, उसकी स्थिति की विवशता है...। उसका रोग उसे ऐसा घेर लेता है कि उसका मन अन्यत्र नहीं जा पाता, वह सारे समय अपने, अपने रोग के विषय में सोचने के लिए मजबूर भी है...! और तुम सब समझते हो उसको धोखा देना इतना सरल, इतना आसान है...वह अपने एक-एक सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तन के विषय में सचेष्ट रहता है, उसको मार्क करता है, उसका अर्थ लगाता है, उसका अध्ययन करता है...और तुम चाहते हो कि उसको भ्रम में रख सकें, उसे। बहलाते रह सकें...कैसे आश्चर्य की बात है। पर डाक्टर कह रहे थे कि उनको विश्वास है कि जो ट्रीटमेन्ट चल रहा है उससे मुझे लाभ अवश्य होगा...और मुझे भी लग रह है कि मैं अब अच्छी होने के रास्ते पर आ गई हूँ। डाक्टर अंकिल ने पता नहीं, पहले ही यहाँ लाने का सजेशन क्यों नहीं दिया...उनको पता नहीं क्यों यहाँ के विषय में प्रेजुडिस है। पहले मैं भी यहाँ आने के विरुद्ध थी, डाक्टर अंकिल के ही मन के कारण ...पर यहाँ आकर मुझे लगता है कि यहाँ सचमुच अधिक सुविधाएँ हैं, यहाँ अधिक चिन्ता की जा सकती है...और हमारे डाक्टर सचमुच...ऐसे डाक्टर ही वास्तव में इस प्रोफ़ेशन के योग्य होते हैं, उसकी नोबिलिटी के अधिकारी हैं...उनके लिए इलाज साधना है, सेवा है। तुमने लिखा है, मैं जल्दी ही काम से समय निकाल कर आऊँगा, तब तुम्हारा परिचय कराऊँगी। तुम स्वयं अपना ओपीनियन बनाना... तुम किसी प्रकार की चिन्ता न करना...तुमने लिखा है कि सब का आग्रह है कि मैं कम्पटीशन में बैठूँ और मेरा जी उसके विरुद्ध है...मैं कहती हूँ कि यदि तुम्हारी इच्छा इस प्रकार की सरकारी नौकरी करने की नहीं है, तुम ज्ञान और अध्ययन में ही रहना चाहते हो, तो इसमें तुमको कोई

बाधा नहीं मानना चाहिए...तुम्हारी, नीरा।

...नरेश भइया आनेवाले हैं, वे रात की ट्रेन से आ रहे हैं...मेरी पीड़ाएँ कम हो गई हैं, मेरा कष्ट...उसे याद आ रहा है...वह कितनी कृतज्ञ है डाक्टर की जिनकी सेवा और परिश्रम से वह अच्छी हो रही है। डाक्टर अपनी मधुर बातों से अपने प्रोफ़ेसर के प्रति उसके मन में श्रद्धा उत्पन्न कर सके हैं, उसे अनेक दवाओं के कोर्स को स्वीकार करने के लिए बाध्य कर सके हैं...उसे ऐसे अनेक टॉनिक लेने के लिए राज़ी कर सके हैं जिन्हें वह अन्य स्थिति में स्वीकार नहीं कर सकती थी...। वह सोचना चाहती है, ऐसा क्यों हुआ? ऐसे कैसे हुआ? उस डाक्टर में ऐसा क्या जादू था कि उसने उसे सब कुछ मान लेने के लिए जैसे बाध्य कर दिया हो... पापा और अंकिल तारानाथ के हज़ार कहने पर वह अंडा नहीं ले सकी, अख़नी नहीं ले सकी, कभी ऐसा टॉनिक तक नहीं ले सकी। दवाओं के प्रत्येक कोर्स को पूरा करने में उसे इतनी उतावली रहती थी कि डा० तारानाथ स्वयं परेशान हो जाते कि उसके साथ किस प्रकार डील किया जाय...। पर उसको आज लग रहा है कि उसका रहस्य उसकी समझ में आ रहा है...डाक्टर ने न जाने कैसे उसके मन में जीवन की अदम्य लालसा जगा दी थी। उन्होंने उसको जीवन का विश्वास पहले दिया था और दवा उसके बाद आती है.. यहीं डा० अंकिल से डाक्टर का भेद है...वे दवा के माध्यम से अच्छे होने का विश्वास उत्पन्न करना चाहते और डाक्टर ने जीवन का विश्वास पहले दिया है...। कितना परिवर्तन हुआ है इस बीच, शायद भइया को स्वयं आश्चर्य होगा! पर वे मानेंगे नहीं, वे सदा यही प्रकट करते हैं, हाँ, यह ऐसा ही चाहिए था, जैसे प्रत्येक बात उनको सहज स्वाभाविक लगती, उसके विपरीत कुछ होता ही नहीं...

...नरेश भइया उसके सामने कुर्सी पर बैठे हैं, माँ उनके लिए खाना बनाने, उसकी तैयारी में चली जा चुकी हैं ..। वह आज प्रसन्न है, इसलिए कि उसके भइया आये हैं, और इसलिए भी कि वह आज उनके

सामने अधिक स्वस्थ रूप में है, और पूर्ण स्वस्थ होने के रास्ते पर है...। वह मन ही मन उल्लसित है कि अभी उसके डाक्टर अपने राउंड पर निकलेंगे, और तभी वह उनसे अपने भइया का परिचय करायेगी। उसे उत्सुकता है कि वह भइया के सामने यह सिद्ध कर सके कि उसने जो लिखा है, वह ठीक है, अत्युक्ति नहीं। डाक्टर वैसे ही हैं जैसा उसने लिखा था...। पता नहीं क्यों उनके पत्रों से ऐसा नहीं लगा कि डाक्टर की बात को वे अधिक महत्त्व देते हों...लेकिन भइया ऐसे उदास क्यों हैं? क्या बात हो सकती है! सामान्य हाल-चाल के बाद जैसे गुम से बैठे हैं... पिछले पत्र में श्यामा सुन्दरी के विषय में ज़रूर ऐसी बात थी...सुन्दरी अनायास ही उनसे खिंच गई है, पता नहीं क्या वह उनसे चाहती है। पर वे स्वयं ही कुछ कह क्यों नहीं रहे हैं...वह सोच लेना चाहती है... उस दिन का उल्लास उसे आज भी प्रभावित कर रहा है। भइया क्यों उदास हैं, जब कि उसे आशा थी कि उसको अच्छा देखकर भइया उत्साहित हो जायँगे, वे उमंग में न जाने कहाँ-कहाँ की बातें करेंगे, कितनी बातें वे सुनेंगे और सुनायेंगे...इस प्रकार चुपचाप बैठे रहने का उनका स्वभाव भी नहीं है...ज़रूर कोई बात है...

एकाएक उसे अपने डाक्टर की बात याद आ जाती है...कितने हँस-मुख हैं...एक क्षण के लिए चुपचाप बैठा रहना उनके लिए सम्भव नहीं है, और उसमें वे हँसते-हँसाते ही रहते हैं। उनके मुख पर कोमलता का भाव अभिव्यक्त होता रहता है, लगता है उनका पुरुषत्व स्त्रीत्व की स्नेह-शीलता से अभिभूत हो...पर साथ ही डाक्टर में कुछ है जो उसे कुछ भी करने के लिए विवश कर देता है, उसका अपना सारा आग्रह और उसकी सारी कठोरता उनके सामने शिथिल पड़ जाती है। जब वे उसका हाथ पकड़ कर कह देते हैं—'नीरा जी, यह कैसे हो सकता है कि तुम प्रोफ़ेसर के कहे अनुसार न चलो...यह इंजेक्शन तो तुमको लगवाना ही होगा, यह टॉनिक लेना ही चाहिए, ऐसा इसमें क्या है जो तुमको इस पथ्य के लेने में आपत्ति है...अरे भाई, हत्या और अहिंसा सब कुछ

कम्परेटिव ही तो हैं...तुम तो बहुत समझदार हो, तुम्हारे जैसे मरीज़ तो डाक्टर के लिए सौभाग्य की बात ही समझो, जो बात को समझ सकें, और कापरेट कर सकें'—फिर नीरा के लिए आगे मना करना कठिन हो जाता है...और डाक्टर जाने क्यों तभी मृदु भाव से मुस्करा देता है... आगे उसे लगता, उसे अपनी बीमारी से लड़ने का नया बल मिल गया हो, उसके मनोयोग के सामने उसकी बीमारी, उसके सारे कष्ट, पीड़ाएँ कुछ भी नहीं है...

...वह केवल विह्वल होकर कह पाती—'डाक्टर, डाक्टर जी, अपने लिए दूसरों का नाश, दूसरों की हत्या, चाहे वे जीव-जन्तु ही क्यों न हों, क्या उचित हो सकता है...मेरे लिए, मेरे संस्कारों के लिए यह सब सह्य नहीं है।' पर डाक्टर...तुम्हारे तर्क विचित्र हैं— तुम स्वतंत्र हो, यही ग़लत धारणा है...तुम अपनी रक्षा करो, अपने शरीर की रक्षा करो, यह प्रधान धर्म है, फिर इसका उत्तरदायित्व हमारे प्रो० महोदय पर है। एक बार बीमार होने के बाद तुमको अपने ऊपर यह अधिकार नहीं रह गया है कि तुम हमारे, हम डाक्टरों के मार्ग में किसी तरह की बाधा डालो...बी ए गुड गर्ल, एण्ड टेक अवर इंसट्रक्शन्स हैपिली'—और इसके आगे उसका वश नहीं है...नरेश भइया को जब यह ज्ञात हो चुका है, वह सब कुछ विस्तार से उसे लिखती रही है...तब उनको प्रसन्न होना चाहिए, यही तो वे चाहते थे...। और यही सब बातें थीं जिनके लिए वह सब को खिझाती थी, सबको शिकायत थी कि वह दवा में अपना हठ क्यों रखना चाहती है...यह दवा खाऊँगी, यह मुझे सूट नहीं करेगी, वह यह इंजेक्शन नहीं ले सकती, यह पथ्य वह नहीं ले सकती, इसमें जीव हत्या होती है, वह अच्छे होने के लिए भी किसी की हत्या नहीं कर सकती... यही तो भइया के चिढ़ने की बात थी। इसमें वे सबके साथ हो जाते थे, और अब वह यह सब स्वीकार कर चुकी है, उसे कोई आपत्ति नहीं रह गई है...

...नीरा से आगे चुप रहना सम्भव नहीं रह गया, वह विह्वल होकर

पूछती है—'नरेश भइया...' नरेश चौंक-सा पड़ता है, जैसे वह किसी कल्पना से जाग गया हो—'हाँ नीरा जीजी...सचमुच तुममें काफ़ी परिवर्तन आ गया है, यही मैं भी सोच रहा था...सचमुच यह बहुत खुशी की बात है...' नीरा इस फ़ार्मल-सी बात से और भी संकुचित होती है...उसे लगता है कि क्या यह उसके सामने वही नरेश भइया बैठे हैं जिनसे उसकी इतनी अभिन्न मैत्री रही है...जिनके साथ उसने अपने जीवन की सभी समस्याओं पर निस्संकोच होकर बातें की हैं...और कभी कोई दुराव, किसी प्रकार का संकोच नहीं रहा है। और आज... वही भइया इस प्रकार मौन, इस प्रकार चुप क्यों हैं...उसके मन में कुछ आकर जैसे अटक गया...उसके वक्ष में जैसे कोई पीड़ा उठी है... यह दर्द उसकी अन्य पीड़ाओं से भिन्न है, यह ऐसा नहीं लगता कहीं किसी स्थान विशेष पर उठा हो...पर वेदना की एक लहर उठी और फैल कर वक्ष को उद्वेलित करती हुई सारी चेतना को अतिक्रांत करती सम्पूर्ण अस्तित्व में फैल जाती है...

...डाक्टर अपने राउंड पर आ गये हैं, हाउस सरजन डा० विपिन चन्द्र...अपने काले सूट में, उसके कमरे के पर्दे को उठा कर प्रवेश करते हैं, उनके पीछे सिस्टर क्रिश्चियाना है...डाक्टर अपनी सहज मुस्कान के साथ प्रवेश करते हुए कह देते हैं—'नीरा जी, आप आज अधिक उत्फुल्ल लग रही हैं...!' सिस्टर आगे आकर थर्मामीटर आदि सँभालती है...नीरा ने अनुभव किया उसके मन का सारा ज्वार एकाएक विलीन हो गया, उसके मन की सारी वह अज्ञात व्यथा न जाने कहाँ विलीन हो गई। एक क्षण वह कहने के लिए उत्सुक हुई कि अभी-अभी वह किसी कष्ट का अनुभव कर रही थी, पर दूसरे ही क्षण वह उसके सम्बन्ध में सब कुछ भूल गई। आज उसे न जाने क्यों उस भूली हुई व्यथा का अधिक एहसास हो रहा है...डाक्टर बिल्कुल सामने खड़े हैं, उसकी मुस्कान में कोई रहस्य जैसे झाँक रहा है...जैसे यह उसके चेहरे पर फैल कर घुल गई है...उसने देखा वह मुस्कान उसके मुख से उसके हृदय में

प्रवेश कर रही है...उसके माध्यम से डाक्टर उसे जैसे रोग से लड़ने की शक्ति, जीवन को आवाहन करने की प्रेरणा देता हो। उसके मुख पर भी बरबस मुस्कान आ गई...उसने प्रसन्नता के इसी आवेश में कहा—'डाक्टर जी, यह हमारे नरेश भइया हैं, मैंने इनके विषय में आपसे पहले कई बार ज़िक्र किया है...नरेश भइया...।' इसके पहले नीरा उनके बीच में अधिक कुछ कहती, डाक्टर ने आगे बढ़ कर एकाएक खड़े हो गये नरेश का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा—'आ'म वेरी हैपी टु मीट यू मिस्टर नरेश...मैं समझता हूँ नीरा के माध्यम से हम दोनों एक दूसरे से परिचित हैं।' नरेश भइया उल्लास व्यक्त करते हुए कह रहे हैं, पर उसका ध्यान अब भी इसी ओर है कि नरेश भइया मुक्त नहीं हो पा रहे हैं, वे किसी छाया से घिरे हैं और वह उनको इस प्रकार छाये हुए है कि प्रयत्न करने पर भी छोड़ नहीं रही है। ऐसी स्थिति में नरेश अपने को किसी प्रकार उबार कर कह रहा है—'हाँ, डाक्टर जी, मैं आप की बहुत प्रशंसा सुन चुकी हूँ। नीरा जीजी आप से बहुत प्रभावित हैं।' वह कह गया, कहने के लिए ही...क्या कह रहा है, इसका उसे भान नहीं है...और नीरा है कि उसे लगता है कि यह भइया कैसे हो गये हैं, ये कह क्या रहे हैं...यह भइया को हो क्या गया है...डाक्टर जी क्या कहेंगे—यही हैं इनके नरेश भइया जिनकी यह इतनी तारीफ़ करती थी...यह इनके कहने का भाव कैसा लग रहा है...। वह किसी प्रकार बात सँभालने के भाव से कह देती है—'डाक्टर जी, भइया अभी आ ही रहे हैं, कपड़े तक नहीं बदल सके हैं।' उसने जैसे कहना चाहा कि यह भइया ऐसे ही नहीं हैं, उनको तुम इस प्रकार देखकर ही जज न करना। पर डाक्टर हैं कि वे कुछ नहीं मानते...उनके लिए किसी का व्यवहार खोद-बीन करने की जैसे चीज़ ही न हो...वे मुक्तभाव से हँसते रहे और भइया से बात करते रहे, उन्होंने इस बात की ओर ग़ौर भी नहीं किया कि नरेश बहुत अनमने भाव से उससे बात कर रहा है, उसे बात करने में अन्दर से प्रयत्न करना पड़ रहा है...वह अपने को डाक्टर के मुक्त भाव

के अनुरूप बनाने का भरसक प्रयास करके भी सफल नहीं हो पा रहा है...

डाक्टर तो कहता जा रहा है कि 'नीरा जी उसकी दृष्टि में आदर्श पेशेण्ट है जो अपने डाक्टर के साथ पूरा कापरेट करती हैं, हमारे प्रो० भी इनकी प्रशंसा कर चुके हैं...हमारे प्रो० मेडिकल ट्रीटमेंट में ह्यूमन एलीमेंट को बहुत अधिक महत्त्व देकर चलते हैं...आदमी को केवल बयालॉजिकल आरगेनिज़्म मानकर चलने वाले मेडिकल मेन से उनका विरोध रहा है...यदि वे इस प्रकार के कट्टर सिद्धान्तवादी न होते तो आज युनाइटेड किंगडम के प्रमुख मेडिकलमेन में होते...।' डाक्टर बहुत बात करते हैं...उनकी बात में कोई ओर छोर ही न हो जैसे...नरेश भइया उसमें भाग लेने का प्रयास करते हैं...डाक्टर उनको अपनी बातों से प्रेरणा देते हैं, पर नरेश का सारा आन्तरिक प्रयत्न विफल हो रहा है। उसे नरेश का व्यवहार खिझाने वाला लगता...और वह समझती है कि नरेश भइया के मन में कहीं कोई बात है जिसे वह स्वयं व्यक्त नहीं कर पा रहे हैं, पर वह बात उनके मन में छाई हुई है और मथ रही है, पर कुछ आभास नहीं मिल पा रहा है...

...सिस्टर क्रिश्चियाना ने इस बीच अपने सारे चार्ट स्वयं भर लिए हैं और फिर एक ओर खड़ी अस्थिर भाव से सब देख सुन रही है... डाक्टर ने इस बात का आभास पा लिया—'सिस्टर, आ' म वेरी सारी। आ' व डिटेन्ड यू अननेससरीली...' फिर शीघ्रता से सारे चार्टस पर दृष्टि डाल कर और गम्भीरता के साथ सोच कर कहा—'सिस्टर, आई थिंक वी आर प्रोसीडिंग आल राइट। 'और फिर गुड नाइट करते हुए डाक्टर जल्दी ही वहाँ से चले जाते हैं...पीछे सिस्टर भी अभिवादन के साथ जाती है, पर वह अपनी दृष्टि से क्षमा माँगती हुई जान पड़ती है, मानो उसे भान हो कि उसने डाक्टर को जल्दी करने के लिए बाध्य करके उसके साथ अन्याय किया है। उसके इस भाव को नीरा पकड़ सकी और वह उसकी दृष्टि में कुछ पढ़कर संकुचित हो जाती है...सिस्टर अपनी आँखों से क्या कहना चाहती है? शायद उसे अन्य मरीज़ों के सम्बन्ध में चिंता

है, उसके लिए तो उसके समान ही सभी प्राइवेट वार्ड के मरीज़ हैं। इस प्रकार यदि डाक्टर को एक मरीज़ के पास देर लगाती गई तो रात का यह राउंड समाप्त कब होगा ? ठीक है क्रिश्चियाना, इसमें इस प्रकार जल्दी करना तुम्हारे लिए उचित ही है...

उसे याद है कि सिस्टर ने उसके अटैक के प्रारम्भिक दिनों में कितनी तत्परता से उसकी सेवा की है, केवल नौकरी का आदर्श नहीं ..वह अपने मरीज़ों के क्लेश को जैसे अपना लेने के लिए विकल हो जाती है...वह उनके क्लेश में ही जीती है। वह उन सिस्टर्स और नर्सों से नितान्त भिन्न है जो ऊब कर अपने मरीज़ों को इस बात की सीख देती हैं कि जितनी परेशानी बीमार और उनके संरक्षकों को होती है, उतनी परेशानी प्रति मरीज़ के लिए वे लोग करने लगें तो उनके लिए जीना सम्भव नहीं हो सकता...। उसके लिए सेवा जीवन की सबसे बड़ी प्रेरणा है... वह कभी किसी मरीज़ को उसके सन्तोष भर ध्यान न दे सके ऐसा हुआ ही नहीं...। उसे सिस्टर के विषय में सब कुछ साफ़ याद आ रहा है... किसी समय वह युवती रही होगी, ऐसा नहीं कि वह अभी युवती नहीं है...पर तब उसके मन में न जाने कितने स्वप्न होंगे, न जाने कितनी अभिलाषाओं के जाल होंगे...पर अपनी सारी कल्पनाओं के साथ उसका मन अब केवल प्रभु ईसु के चरणों में समर्पित हो चुका है...वह विवाह नहीं करेगी, वह अब अपना जीवन सेवा में उत्सर्ग कर देगी। पर यह क्या है ? यह कैसी सेवा है जिसमें अपने जीवन को अस्वीकृत करना होता है, कैसा यह मार्ग है जिसमें अपने आप को ही भुला देना होगा... नीरा का मन एक क्षण के लिए फिर न जाने कैसी व्यथा से भर गया, उसे जीवन में प्रथम बार लगा जैसे कुछ है जिसे छोड़ना बहुत कठिन होता है, कुछ है जिसे छोड़ने में लगता है सारा अस्तित्व ही मिट जायगा...उसका मन भर आया है...

वह डूबते हुए मन को सहारा देते हुए कह देती है—'नरेश भइया, तुम थक बहुत गये हो। क्यों न तुम अन्दर जाकर मुँह-हाथ धोकर छुट्टी

पा लेते...तब तक माँ अपनी व्यवस्था कर चुकेगी।' नरेश जैसे इस प्रकार की किसी बात के लिए उत्सुक बैठा हो। उसको लगा, उसे कुछ याद आ गया हो—'हाँ, नीरा, मैं थक गया हूँ। आज दिन में मुझे बहुत काम करना पड़ा था...' उसने उसके मस्तक पर हाथ रख दिया—'अभी मैं हाथ-मुँह धोकर फिर स्वस्थ और ताज़ा हो जाऊँगा।' उसका हाथ दो क्षण के लिए उसके माथे पर रखा रहा...उसको लगा जैसे वह कुछ गरम है, पर उसके स्पर्श से उसे जान पड़ा जैसे कहीं किसी ने उसके स्पाइनल में बिजली छुला दी हो और सारा शरीर एक झनझनाहट से अभिभूत हो गया...उसे लगा कोई नशा सा छा रहा है, पर फिर उसे याद आया कि उसने कोई दवा अभी खाई है...और वह उसी दवा का प्रभाव हो सकता है...नरेश अन्दर वाले कमरे में चला जाता है...नीरा किसी उहापोह में लग गई है...'

कमरे में प्रकाश चारों ओर से फैल रहा है...नीरा ने देखा आरती अब तक उठकर अंदर जा चुकी है, उसके हाथ की पुस्तक भी कहीं नहीं दिखाई देती, आन्द्रेज़ीद,...वह एक बार इस पुस्तक को देखना चाहती है। पर शायद आरती आज उसका मन घेर रही है, आरती को लेकर वह व्यस्त हो रही है...न जाने क्यों उसे लग रहा है कि उसने आरती के साथ कहीं कोई अन्याय किया है...यह ठीक है कि अनजान में ही उसने किया होगा, पर अनजान में किये गये अन्याय से उसका परिणाम हलका तो नहीं हो जायगा...आरती अन्दर चली गई है...। यही आरती थी कभी ऐसे रह नहीं पाती थी कि कोई जान न पाये, कोई समझे नहीं कि आरती है, आरती आ रही है, आरती जा रही है, आरती हँस रही है, आरती बातचीत कर रही है...। वही आरती है कि ऐसी हो गई है, जान ही नहीं पड़ता कि उसका कोई अस्तित्व है...वह साँस लेती है, वह भी जीती है, वह भी कुछ आन्दोलित होती है।...लेकिन आरती...आरती अब भी पिक्चर्स में इंट्रस्टेड है, घूमने-फिरने जाती है, पति के साथ

पार्टीज़ में ड्रेसअप होकर सजधज के साथ जाती है...कभी कोई प्रतिवाद उसने नहीं किया, कभी उसने इन सबके प्रति विरोध प्रकट नहीं किया...

उसने देखा कमरे में प्रकाश का अंश आ रहा है...झलमलाता हुआ सा...किसी ओर से आने वाली धूप यह नहीं हो सकती...यह तो किसी चमकीली चीज़ का प्रतिबिम्ब हो सकता है। झलमल-झलमल प्रकाश की कुछ रेखाएँ चमक रही हैं...यह क्राइस्ट के क्रुसित होने के चित्र के ठीक नीचे प्रकाश के प्रतिबिम्ब की चमक है...उसके मन में उठता है कि यह किस चीज़ का प्रतिबिम्ब हो सकता है...किस चीज़ का रिफ़लेक्शन है। हाँ रिफ़लेक्शन पड़ता है, जीवन में ऐसे अनेक रिफ़लेक्शन होते हैं जिनके मूलस्रोत्र का पता हमको होता ही नहीं...क्या है यह, किससे ये प्रकाश की किरणें टकरा रही हैं...ज़िन्दगी में ऐसा होता है, हमारी ज़िन्दगी का बहुत-सा हिस्सा ऐसा ही रहता है जिसके विषय में यह कह सकना आसान नहीं होता कि...यह सब क्यों ऐसा होता है, ऐसा ही क्यों है? और इसका कारण क्या हो सकता है...फिर ज़िन्दगी चलती रहती है, जैसे उसमें यह चलते ही रहना अनिवार्य हो...गति...हाँ यह गति ही इसके लिए अनिवार्य है और सब कुछ अनिश्चित, अनप्रिडिक्टेबिल...

यह आरती का जीवन ही है, आज वह ऐसी है, वह सब कुछ में है...पर यह भी लगता है कि उसके मन में कहीं कोई सूत्र ऐसा भी है जो अब टूट चुका है। ऊपर से सब जैसा का तैसा ही लगता है...कहीं कुछ भी बदला नहीं जान पड़ता...सागर में वही गम्भीर विस्तार हो...वही तरंगों का उत्थान-पतन हो, वही क्रमिक ज्वार भाटा हो...पर सचमुच में उसका सारा नाद, गर्जन, सारा हाहाकार जैसे अब डूब गया है...फिर जैसे यह सागर का मात्र चित्र हो जिसमें व्यंजना हो सकती है, पर जीवन का यथार्थ स्पन्दन नहीं...पर आरती के जीवन में यह प्रकाश की प्रतिबिम्बित छाया कहाँ से पड़ रही है जिसमें प्रकाश का भ्रम तो है...पर यह प्रकाश केवल दूसरे का रिफ़लेक्शन है...'

...आरती ने उससे कुछ छिपाया नहीं, पर उसने कहा ही क्या...

उसने जब पूछा—'आरती, तुमको यह क्या हो गया है...तुम ऐसे-ऐसे कैसे रहती हो...तुम ऐसी तो कभी नहीं थीं, यह तो मेरे लिए ही डिपरेसिंग है...आरती, तुम ऐसे न रहा करो...।' आरती ने क्या कहा, पर उसने ऐसा भी नहीं कि कुछ शेष रखा हो कहने से...इससे अधिक वह कह ही क्या सकती थी—'नीरा जीजी, मैं बिल्कुल ठीक हूँ, वह मेरा बचपन मुझसे ज़रूर छूट गया है...और जीजी वह किसके पास सदा रहता है...फिर स्त्री का जीवन तो किसी न किसी के साथ चलने के लिए होता है...उसे हाथ भी बदलने पड़ते हैं...अपना है ही क्या उसके लिए...जब जैसा हुआ...कभी हँसने का मौक़ा मिल सका हँस लिए और कभी वह नहीं ही मिला तो सन्तोष कर लिया...तुम जिन दिनों की याद कर रही हो जीजी, वे अतीत की वस्तु हो गये हैं...आज मेरा जीवन बदल गया है...अब मैं पापा की हँसोड़ आरती नहीं रही, अब मैं मिसेज़...हूँ और उसके साथ जो कुछ अपने आप लग जाता है, उसको अस्वीकार कैसे कर सकती हूँ। तुम नहीं जानती जीजी, यह जीवन क्या है...इसकी स्लॉवरी, इसकी हिपोक्रेसी से तुम्हारा परिचय दूर का ही है, जीजी...शायद इसका कोई और चित्र हो जिससे मेरा परिचय न हो सका हो...पर मैंने आपके बहनोई के साथ जो अनुभव किया, जिसको जाना है...उसमें जीवन की परिभाषाएँ अलग हैं। मेरे लिए विवाह के बाद सारे अर्थ ही बदल गये हैं, सारी मेरी धारणाओं को बदल जाना पड़ा है...और जीजी ऐसा मैं जानती न होऊँ, यह बात भी न थी।...पर सबकी इच्छा...माँ की, भइया की, और सबसे अधिक तो तुम्हारी ही...हाँ, पापा होते...।'

इससे अधिक आगे नीरा के लिए उस दिन सुनना कठिन था...आरती भी क्या कहती...उसे आज वही याद आ रहा है...उसी का अर्थ आज उसके मन पर अधिक व्यक्त हो कर उभर रहा है...'और सबसे अधिक तुम्हारी ही'...हाँ उसी ने तो सबसे अधिक राजेश की बात का विरोध किया था, उसीने तो किसी प्रकार इस बात को स्वीकार नहीं किया

था...उस दिन आरती मौन थी, उसने उसकी बात को यथावत् स्वीकार कर लिया। आज वह कहना चाहती है...आरती तुमने विद्रोह किया क्यों नहीं ...तुमने मेरी बात उसी प्रकार क्यों मान ली...उसे आरती के अविद्रोही व्यक्तित्व पर आक्रोश आना चाहता है। वह ऐसा नहीं कर सकती थी, वह चुपचाप स्वीकार कभी नहीं कर सकी...आरती है कि सब कुछ मान लेगी, सब कुछ स्वीकार कर लेगी...तब भी और अब भी। यह स्त्री जाति का अपमान है...यह नारी जाति पर लांछन है...। आधुनिक संदर्भ में नारी की यह विवशता सचमुच हेय मानी जायगी...पति सब कुछ कर सकता है, और स्त्री से सब कुछ आशा कर सकता है...यह आज एकदम अस्वीकृत मूल्य है। पर आज वह यह भी सोच रही है कि इसी प्रकार अपने माँ-बाप के सामने उनकी इच्छाओं के सामने सिर झुका देना भी नहीं है...।

उस दिन...उस समय नीरा पूरे आवेश के साथ यही मान रही थी कि माँ-बाप की इज्ज़त का, उनकी मर्यादा का ध्यान, उनकी भावनाओं का ध्यान रखना ही चाहिए...लड़के-लड़कियों को स्वतन्त्रता इस सीमा तक नहीं मिल सकती, नहीं मिलनी चाहिए...। पर उस दिन उसने आरती से पूछा था, उसकी भावना को महत्व देकर ही तो पूछा था...यह उसके मन की प्रवंचना थी जो आज स्पष्ट हो चुकी है, उसे कोई भ्रम, कोई सन्देह नहीं रह गया है। उसने आरती के सामने कोई मार्ग नहीं छोड़ा था...उसने आरती को कोई च्वायस नहीं दी थी...जिस आवेश में, जिस आवेग से उसने सारी बात रखी थी, उसके आगे कोई... विशेषकर आरती जैसा व्यक्ति कभी कोई निर्णय नहीं ले सकता था। उसके लिए तो निर्णय पहले लेकर, सही लगाने को कहने जैसा था वह सब...और नीरा उससे आशा करती है कि वह आज विद्रोह करे...। क्यों आज भी नहीं कर सकती विद्रोह, ऐसा क्यों है? आरती अब बड़ी हो चुकी है, उसको निर्णय करने का अधिकार पूरा होना चाहिए...पर जो उस दिन नीरा, अपनी जीजी का विरोध नहीं कर सकी वह आज सामा-

जिक स्थिति का, उसकी सारी दुरभिसन्धि का विरोध कर सकेगी ?... आरती में विद्रोह का तत्व नहीं है, उसने परिस्थिति को स्वीकार करके रहना ही सीखा है...। और उसके मन का सारा शून्य ऐसे ही उसके सारे अस्तित्व को ग्रसता जायगा, वह उसमें धीरे-धीरे डूबती जायगी, उसमें निमग्न होती जायगी...लेकिन वह उसमें एक बार भी छटपटायेगी नहीं...सहज भाव से, बिल्कुल निश्चिन्त भाव से सब कुछ को स्वीकार करके अपने को समर्पित करती जायगी...

शेर अपने शिकार को...भागते हुए हरिन को जब बिल्कुल अपनी छलांग की सीमा में पा लेता है, उस समय हरिन उसकी आँखों के आकर्षण से अभिभूत होकर मंत्रमुग्ध रह जाता है...फिर उसे जान ही नहीं पड़ता कब शेर ने उसे अपने पंजों में लपक लिया, कब उसने...। इसी प्रकार, बिल्कुल इसी प्रकार आरती अभिभूत है...वह जानती है, अनिवार्य को, वह अपनी स्थिति को भली प्रकार समझती है, पर बचने का उपाय नहीं है, इसलिये उसके विषय में सोचना भी नहीं चाहती। वह तो बस रह रही है...यह छाया, यह प्रकाश-सी झलमलाहट तो नीरा को दिखाई दे रही है उसके जीवन में, उसका उसे इस रूप में जैसे कोई भान भी नहीं है। और इसका कारण आज वह अपने को ही समझ रही है...उसकी आत्मा पर यह न जाने कैसा बोझ है...जब सारे दर्द, सारी पीड़ाएँ मिट चुकी हैं, तब यह बोझ अधिक अनुभूति का विषय हो गया है...

...और यह अनुभूति...किसी बोझ का एहसास उसकी चेतना के उस अंश के साथ मिल-जुल गया है जो उसके लिए बिल्कुल नवीन है। इस अनुभूति की तरंग उसी नये अंश के साथ मिलकर फैलती जा रही है...उसे लगता है कि वह अंश उसके अस्तित्व का ऐसा भाग रहा है जिसको उसने अपने अन्दर कभी जाना-पहिचाना नहीं...पर वह उसके अन्दर कहीं न कहीं छिपा रहा है...उसकी चेतना में अन्तर्वर्तिनी धारा के रूप में...और आज वह धारा एकाएक प्रकट हो गई है, उसका अज्ञात स्रोत फूट कर निकला है। वह उसके इस प्रवाह को अपने ही अन्दर

महसूस करती है...पर यह अनुभूति कहीं से उसे पकड़ नहीं पा रही है...घेर नहीं पा रही है। इसी के साथ यह बोझ मिल गया है, यह आरती की व्यथा की अनुभूति भी मिल गई है...और यह अनुभूति उसे जीवन का एक ऐसा अर्थ देना चाहती है जो उसके सारे जीवन को एक नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर रहा है। वह क्षणों में अभिव्यक्त हुए इस जीवन के प्रति क्या सोचे-समझे...वह बरबस समझ नहीं पा रही है कि जीवन की मिटती-डूबती हुई संवेदनाओं के क्षणों में इस नये परिप्रेक्ष्य से अपने पिछले सारे प्रवाहित अस्तित्व को किस प्रकार अनुभूत कर सकेगी...

आरती ने पुनः कमरे में प्रवेश किया, उसके हाथ में ग्लास है, जिसमें उसे ज्ञात है, उसके लिए रस होगा...सन्तरे का या अनार का। ये सब उसकी सेवाएँ कितनी निश्चित, कितनी क्रमिक हो गई हैं। घड़ी में तीन बज चुके हैं, उसके रस लेने का समय हो गया...अभी आरती कहेगी जीजी रस, अर्थात् अब रस की बारी आ गई है...दवा, रस, दूध, पथ्य, थर्मामीटर, ज्वर, कमोड...यही तो उसका जीवन-क्रम इधर वर्षों से रहा है...कोई परिवर्तन नहीं, कोई नवीनता नहीं—हाँ, दवा बदली जाती रही है, डाक्टर बदले जाते रहे हैं...। उन परिवर्तनों का रूप उसके लिए निश्चित हो गया है...उसके लिए यह एक क्रम हो गया है और वह उससे अभ्यस्त हो चुकी है...। पर आज सारे कष्टों के साथ जैसे उसका यह अभ्यास भी छूट गया हो। उसे यह सब असह्य लग रहा है...यह क्यों चलता रहेगा?...आरती उसके पास ही चुपचाप खड़ी है, प्रतीक्षा कर रही है...उसे स्वयं जीजी से कहने में संकोच का अनुभव हो रहा है...जीजी आज शान्त है, उसकी शान्ति भंग करने में उसे वेदना होती है। आरती जानती है कि मीरा जीजी समझती हैं—यह सब दवा-दारू का क्रम केवल भ्रम है।...पर कौन किसको दे रहा है धोखा...बीमार जानता है, और सुश्रूसा करनेवाले भी जानते हैं...यह

सब केवल चलते रहने के लिए है...पर कोई किसी से कुछ व्यक्त नहीं कर सकता। यद्यपि यह भी है कि बीमार को एहसास है कि उसकी स्थिति का ज्ञान अन्य लोगों को है, और परिचर्या करनेवाले भी जानते हैं कि उनके बीमार की मनःस्थिति क्या है ? फिर भी दोनों ओर से पूरी सतर्कता बरती जा रही है...जैसे प्रयत्न है दूसरे लोग न जान सकें...।

नीरा ने संकेत किया कि वह उठना चाहती है, पर आरती ने उसे उठने नहीं दिया। डाक्टर ने मना किया है कि उसके लिए यह इस प्रकार का स्ट्रेन करना उचित नहीं है...आरती के हाथ से ग्लास लेकर नीरा ने तकिया के सहारे लेटे ही लेटे रस ले लिया...वह बहुत ही अनिच्छा से रस पी लेती है। आरती ने जीजी के व्यवहार में इस बात को लक्ष्य किया—"जीजी, आज आप अन्दर से इतनी उदास क्यों लग रही हैं...तबियत तो ठीक लग रही है।" नीरा मुस्कराई, उसके दुबले गोरे मुख पर उस मुस्कान की जैसे बहुत हल्की गुलाबी छा गई हो, उसी मुस्कान के बीच से उसने कहा—"आज मेरी तबियत ठीक लग रही है...पर आरती, इतने दिनों बाद यह मुक्ति उदास ही कर रही है...।" आरती ने उत्तर से जीजी की इस मुस्कान का अर्थ ग्रहण किया, वह अधिक सुन नहीं सकी, उससे यह सहा नहीं गया, वह ग्लास रखने के बहाने घर में चली गई...

नीरा के सामने की घड़ी में तीन बज कर बीस मिनट हो चुके हैं... पैंडुलम टक-टक चल रहा है...यह पैंडुलम प्रति क्षण हिलता रहता है—टक-टक और घड़ी की सुई उससे आगे बढ़ती है, घड़ी उससे आगे चलती है...और...और जब एक दिन इसमें कूक, चाबी समाप्त हो जायगी, उसके चलने की सारी प्रेरणा, सारी शक्ति बीत जायगी, तब पैंडुलम हिलते-हिलते धीरे-धीरे रुकता जायगा, रुक ही जायगा।...और फिर घड़ी की सुइयाँ भी चलते-चलते रुक जायँगी...घड़ी रुक जायगी,

उससे समय नहीं जाना जा सकेगा...उसका सारा अस्तित्व विलीन हो जायगा...! और आदमी...आदमी का क्या होता है, उसकी इस साँसों के पैंडुलम की हिलती रहनेवाली घड़ी का क्या होगा ? धीरे-धीरे एक दिन उसके साँसों की कूक भी समाप्त हो जाती है, फिर उसके हृदय का पैंडु-लम रुकने लगता है, हृदय की गति रुकने लगती है, रुक जाती है, फिर ...फिर सब समाप्त, सब विलीन...

सामने दूसरी ओर उसकी दृष्टि पापा के चित्र पर रुकती है... अपने चित्र में वे मुस्करा रहे हैं, सदा की तरह उनकी मुस्कान में व्यक्त हो रहा है कि आँखों में ही हँस रहे हैं, किसी की हँसी करना चाहते हैं, अभी-अभी वे किसी से कोई हँसी की बात कहने ही वाले हैं।...उनके ओंठ में अप्रत्यक्ष कम्पन है जैसे वे खुलने ही वाले हों...नीरा को लग रहा है, पापा उनके सामने प्रत्यक्ष ही मुस्करा रहे हैं—'अरे इसमें क्या नीरा, यह तुम चिढ़ गईं। भाई, हँसी में कहीं चिढ़ते हैं...नीरा बेटी ज़िन्दगी में हँसते रहना इसलिए अच्छा होता है कि दूसरों को मौक़ा नहीं मिल पाता है...तुमने दूसरों को मौक़ा दिया कि वे ले उड़े...दुनिया का यही दस्तूर है, इसलिए हँसते-हँसते उसे झेल जाना ही आसान है... यही तो बात है कि यह श्याम तुमको चिढ़ा पाता है, तुम चिढ़ती हो और इसको मौक़ा मिल जाता है।...आरती, देखो वह है कि हँसती ही जायगी...उससे श्याम और राजे दोनों की नहीं चल पाती। उसकी वजह यही है कि वह उनकी बात पर ध्यान नहीं देती है...और तुम हो कि हर बात को बहुत गम्भीर बना देती हो'—पापा कह रहे हैं और मुस्करा रहे हैं...उनकी मुस्कान में सचमुच दुनिया की उपेक्षा कर सकने की शक्ति है...पापा के चरित्र की कठोरता और मृदुता दोनों उनकी इस मुस्कान में एक साथ व्यंजित हैं...

...पापा...वह सोच रही है...पापा ने हमको प्रभावित किया है, अपने चरित्र का एक अंश दिया है...उन्होंने उसे विद्रोह करना सिखाया है। यह उसके चरित्र में निश्चय ही पापा के चरित्र से विकसित हुआ

होगा...वह सामान्य स्वीकृत को केवल इसलिए कभी नहीं मान सकी कि सब मान कर चलते हैं, यह सबको स्वीकृत है...पापा वही मानते रहे हैं जो उनको ठीक लगा है, जो उनकी दृष्टि में, उनके तर्क से उचित लगा है...। आरती ने कहा था कि उसने उसके, नीरा के सामने, उसके व्यक्तित्व के सामने समर्पण किया है...आरती ने उसके कारण अपना यह जीवन बिना कुछ कहे स्वीकार कर लिया है।...आरती में माँ अधिक हैं, यह उसने अनुभव किया है...पापा से उसने केवल ऐसा लगता है हँसी पाई हो, पापा कहते थे—'आरती रानी को देखो, वह कितनी निश्चिन्त रहती है...वह हँस कर सब कुछ झेल लेती है'—पर यह ऐसा नहीं है कि आरती की हँसी भी पापा की हो...पापा खिलखिलाकर हँस नहीं सकते थे, वे स्वयं इतने मुक्त कभी नहीं हो सकते थे। उनकी मुस्कान तो उनके आत्मविश्वास को व्यक्त करती थी, निश्चिन्तता को नहीं...।

आरती में हँसी, अल्हड़ हँसी...वह तो माँ की आत्मसमर्पण की भावना के अधिक निकट है...उसी भावना में यह निश्चिन्तता मिल सकी है उसे...वस्तुतः वह माँ के अधिक निकट है, उसमें पापा का न विद्रोह है, न उनका निश्चय ही...पापा उसके माध्यम से माँ की प्रशंसा करते हो जैसे...।...पर आरती को भी पापा का अधिक सहारा था...उसने उस दिन कहा था यदि पापा होते तो वह किसी से कह सकने की स्थिति में होती...जब वे ही नहीं रहे तो उसकी बात को सुनने वाला है कौन...। माँ का विश्वास, उसका विश्वास वह भी नहीं कर सकी...पापा अपने पुराने संस्कारों, पुरानी रूढ़ियों के बीच आरती की बात को, उसकी ऐसी अनैतिक बात को भी सुन सकते थे, समझ सकते थे...आरती को विश्वास है...और उसका यह विश्वास अन्यथा नहीं है। पापा में कहीं कोई ऐसा तत्व अवश्य था...वे अपने विश्वासों का अतिक्रमण कर दूसरों की भावना को सहानुभूति के साथ समझ सकने में समर्थ थे। उन पर हम सब निर्भर रहते रहे हैं...आज

उसे लग रहा है कि पापा आरती की बात को सचमुच समझ सकते थे, उसका मन वे समझ सकते थे...

...पापा पर परेलेसिस का आकस्मिक अटैक हुआ है...वह उनको देखेगी...ऐसा नहीं हो सकता पापा वहाँ इस हालत में पड़े रहें और वह मेडिकल कॉलेज के इस कॉटेज़ में आराम करती रहे...माँ चली गई हैं, उसके पास आरती कैसे रह सकती है, वह अभी बहुत छोटी है, श्याम पापा के पास ही रहेगा, उसकी पढ़ाई वैसे ही डिस्टर्ब हो गई है।... वह डाक्टर से जाने की आज्ञा ज़रूर ले लेगी, उसकी तबियत अब सुधर चली है...वह वहाँ रह कर भी अब इलाज करती रह सकती है... पर...डाक्टर...वह इस पक्ष में कभी नहीं हैं...उसका कहना है कि प्रोफ़ेसर इस बात के बिलकुल खिलाफ़ हैं...वह इस बात को टॉलरेट नहीं कर सकते...—आ' म वेरी सारी फ़ार योर फ़ादर नीरा...बट शाइ नाट ही शुड कम हेयर। डाक्टर के सामने तर्क करना कठिन है, वह अपने प्रोफ़ेसर की ओर से सब कुछ कहना चाहते हैं—'प्रोफ़ेसर फिर आप की रिस्पांसिबिलिटी किस तरह ले सकते हैं...उनका कहना है कि तुम्हारे फ़ादर ने ही उन्हें सौंपा है, वे तुमको इस हालत में किसी प्रकार जाने नहीं देंगे!'...वह नहीं समझ पाती, डाक्टर को किस प्रकार समझाया जाय। पापा की इस हालत में वह उनके पास न पहुँचे तो उसकी अन्तरात्मा उसे ही सह नहीं पायेगी...यह उसके लिए सम्भव नहीं है...श्याम ने लिखा है कि पापा को मूव नहीं किया जा सकता...फिर वह यहाँ किस प्रकार रुक सकेगी...स्वयं पापा की ओर से भी श्याम ने लिखा है कि उसे अभी यहीं रहना चाहिए...पर पापा... उन्होंने सदा सारे परिवार की चिन्ता अपने ऊपर झेली है, और आज इस अवसर पर वह उनके पास भी न रह सके, यह कैसी बात है? डाक्टर को समझाना होगा...प्रोफ़ेसर तो कुछ...उनको झक्की कहना क्या उचित होगा, इतने साधनारत व्यक्ति मेडिसिन के क्षेत्र में कितने होंगे...डाक्टर के मन में उनके प्रति कितनी श्रद्धा है। पर...उसके लिए

अब वहाँ रुकना कठिन हो गया है...

...डाक्टर की बात वह नहीं मान सकी...उसने अपनी ही ज़िद रखी...डाक्टर को यह शायद अच्छा नहीं लगा, उनका कहना था कि इस स्थिति में उसका कॉलेज छोड़ना उचित नहीं होगा...उसे लाभ हो रहा है, उसे एक सीमा तक लाभ हो चुका है, पर यह लाभ अभी स्थायी नहीं है, उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता है...प्रोफ़ेसर इस बात से सहमत नहीं हो सकेंगे और इस प्रकार वे आगे इलाज चलाना भी पसन्द नहीं करेंगे...यह उनके स्वभाव के अनुकूल नहीं होगा। लेकिन नीरा के मन में केवल एक बात गूँज रही थी, वह और कुछ सोचने-समझने में असमर्थ है...उसे इस प्रकार डाक्टर के विपरीत करना अच्छा नहीं लग रहा है। पर यह क्या है? यदि लाभ है, और लाभ हो ही रहा है, तो उसके यहीं रहने की क्या आवश्यकता, उसको कुछ दिनों के लिए घर जाने दिया जा सकता है। क्या यह ऐसा तो नहीं है कि यह लाभ केवल एक भ्रम, एक धोखा ही सिद्ध हो...यह उसको सदा की तरह धोखा दिया जा रहा है...

...वह घर जाने के लिए आग्रह करती है, उसने अपना निश्चय व्यक्त भी कर दिया है...वह सोचती है, उसका कुछ दिन बाहर रहना आवश्यक है, इससे यह सिद्ध हो सकेगा कि वह किस सीमा तक ठीक हो सकी है। वह उन सारे इंस्ट्रक्शनस का पालन करती रहेगी फिर क्या चिन्ता की बात हो सकती है। उसके मन में न जाने क्यों यह भाव प्रधान होता जा रहा है कि उसकी दशा में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं है...यह लाभ केवल एक भ्रम है। वह किसी से यह स्वीकार नहीं करती, पर उसके मन में यह भाव घर कर रहा है...उसे ऐसा ही लगने लगा है कि उसकी तबियत में विशेष परिवर्तन नहीं हो सका है...उसे और उसके डाक्टर को ऐसा भ्रम ही हुआ है। शायद उसकी बीमारी में लाभ है पर ऐसा नहीं जिस पर अधिक विश्वास किया जा सके...फिर यही कारण तो नहीं कि डाक्टर...

प्रोफ़ेसर, डाक्टर उसको धोखा नहीं दे सकते, उसको जाने नहीं देना चाहते। उसे याद आ रहा है...डाक्टर कह रहे हैं—'नीरा जी, हम डाक्टरों को व्यक्तियों से डील करना होता है, व्यक्ति-व्यक्ति में अन्तर होता है, उनको समझ कर ही हम ट्रीट कर सकते हैं...प्रत्येक व्यक्ति की समस्या भिन्न होती है, उससे उसी प्रकार की डीलिंग करना होता है... हमारे प्रोफ़ेसर का कहना है...हम आदमी के मन को समझकर ही उसका ट्रीटमेंट कर सकते हैं, आदमी को केवल आरगेनिज़्म समझाना मेडिकल सायंस की सबसे बड़ी भूल हो सकती है...हम मान कर चलते हैं, प्रत्येक इंडिव्यूजुअल अलग है, उसको अलग मान कर ही हमको चलना चाहिए...डियर बॉयेज़, एवरी पर्टीकुलर केस शुड बी ट्रीटेड एज़ ए इंडिव्यूजुअल केस...इट इज़ नाट दि डिज़ीज़, बट दि डिज़ीज़ ऑव ए पर्टीकुलर परसन विच शुड बी ट्रीटेड...' और क्या यह उसके केस के अनुसार ही उसका ट्रीटमेंट नहीं है? डाक्टर के प्रोफ़ेसर उसके सम्बन्ध में स्पष्ट नहीं हैं, वे उसको कुछ साफ़ नहीं बताना चाहते। उसे इस बात से चिढ़ है, ऐसा क्यों माना जाय कि उससे इस सम्बन्ध में छिपाया जाना चाहिए...यह छल है, धोखा है!

...और डाक्टर...वह क्यों छिपाते रहे हैं उससे यह सत्य? अपने प्रोफ़ेसर के वे प्रिय शिष्य हैं...उनके सिद्धांत पर पूर्णतः विश्वास करते हैं...पर वह अब नहीं मान सकेगी...लाभ उसे है, पर उसे संदेह है कि यह स्थायी प्रकार का लाभ है...और उसे जाना है, उसके लिए जाने की विवशता है। अपने पापा की इस बीमारी में भी वह नहीं जा सके, उनके निकट नहीं रह सके, यह कैसी बात है।...वह जायगी, उसका निश्चय है और अपने निश्चय पर कार्य करना उसे आता है।...डाक्टर उसको अन्तिम बार इंस्ट्रक्शन दे रहे हैं...उसके सामने कुर्सी पर बैठे हैं और सिस्टर क्रिश्चियाना उसके सामने की ओर खड़ी है...नीरा के जाने के विषय में उसे भी अफ़सोस है। डाक्टर उसे समझा रहे हैं, दवा के सम्बन्ध में, इंजेक्शनस के सम्बन्ध में, पथ्य के सम्बन्ध में और वह सुन

रही है, डाक्टर की वाणी में सरलता, मधुरता, कोमलता जैसे एक साथ मिल गई हो। नीरा को जाने के विषय में तै कर लेने के बाद पहली बार मन ही मन उदासी का अनुभव होता है... उसे लगता है कि वह यह निर्णय करके कहीं ग़लती तो नहीं कर रही है, पापा स्वयं उसके इस व्यवहार को पसन्द नहीं करेंगे, और सब उसके इस प्रकार चले आने को अपरूप तो नहीं करेंगे...। डाक्टर को भी अच्छा नहीं लगेगा, उसका इस प्रकार चला जाना...पर वह क्या करे! पापा को इस प्रकार, इस दशा में वह न देखने जाय, उनके पास न रह सके तो उसके अच्छे हो जाने से भी क्या?...उसे जाना था, और वह चल पड़ी।... दातादीन के लिए कोई चारा नहीं था, उसकी बात कौन सुनता है, और उसका स्वयं का मन ही उस समय कहाँ प्रकृतस्थ था...दातादीन स्वयं इस समय अपने मालिक के पास पहुँचने के लिए उत्सुक है, यह वह जानती है। यद्यपि उसने परिस्थिति के अनुसार उसे रोकने का प्रयत्न किया...,

...पापा प्रसन्न नहीं हैं, उन्हें उसकी यह ज़िद अच्छी नहीं लगी... यदि डाक्टर रोक रहे थे तो उसका आना ठीक नहीं हुआ...उनको ऐसा क्या हो गया है! परेलेसिस का हल्का अटैक, और अब उससे वह बच भी चुके हैं, यह सब चिन्ता केवल प्रिकाशनरी तौर पर की जा रही है। लेकिन नीरा को एक क्षण के लिए भी यहाँ आकर यह नहीं लगा कि उसने ग़लती की है...डाक्टरों का कहना है—उन्हें थ्रामबॉसिस का सन्देह है और इस हालत में चिन्ता पूरी करनी ही चाहिए। डा० तारानाथ स्वयं अपने हाथ में केस को लिए हुए हैं और स्टेट हॉस्पिटल के इंचार्ज डॉ० हार्टले का इलाज चल रहा है...पर पापा को यह इस रूप में ज्ञात नहीं है; वे केवल इतना जान सके हैं कि यह एक परेलेसिस का माइल्ड अटैक था जो अब कन्ट्रोल में आ चुका है; अब उन्हें कोई कष्ट नहीं है। वह सोचती है, पापा को इस प्रकार अन्धकार में क्यों रखा जा

रहा है। उसे भी बताया नहीं गया, उसने बातचीत के प्रसंग में सुन लिया है...पर इस बात का स्पष्टतः उल्लेख करने का साहस नहीं कर पाती, वह यह कहने में भी संकोच कर रही है कि बात उसको क्यों नहीं बताई जा रही है। उसे भय है कि इस प्रकार अपनी असावधानी से वह अपने पापा के इलाज को कहीं डिस्टर्ब न कर दे...वह जानते हुए, समझते भी चुप है, मौन है।...पापा की स्थिति ठीक नहीं है, वे भयानक मर्ज़ के शिकार हैं। डा० हार्टले को इस विषय में कोई सन्देह नहीं है, एक्सरे की जाँच में अधिक कुछ न आने से भी वे लगभग निश्चित हैं... पर डा० अंकिल इस मत के बहुत पक्ष में नहीं हैं, वे इसको थ्रामबॉसिस का केस मानने के लिए पूर्णतः तैयार नहीं हैं। फिर भी सारी चिन्ताएँ उसी दृष्टि से की जा रही हैं...इस विषय में सतर्कता है कि बात पापा तक न पहुँच सके।

...डा० अंकिल इस पक्ष में अधिक हैं...पर वह समझ नहीं पा रही है कि इसमें क्या लाभ हो सकता है।...पापा जैसे व्यक्ति को उनके विषय में स्पष्ट स्थिति न बताई जाय, यह वह समझ नहीं पा रही है... यह उसे बहुत उचित नहीं लगता, लेकिन वह कुछ कह नहीं सकती।

सारे परिवार में एक भय की छाया है, जिसमें उसे कुछ कहने का स्वयं साहस नहीं हो पाता। उसे डा० हार्टले की बात पर जाने क्यों अधिक विश्वास हो गया है, यद्यपि और लोग डा० अंकिल की बात पर अधिक विश्वास करना चाहते हैं...सब इस प्रकार गुपचुप चल रहा है। और पापा को कुछ ज्ञात नहीं है, पापा अन्धकार में हैं, उन्हें अपनी बीमारी की सीरियसनेस के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं।...उसे इस विषय में सबसे खलने वाली बात यही लगती है। यह ऐसा क्यों है? अनिवार्य को छिपाने से क्या होगा? और उससे ही, जिसको सामना करना है...उससे जूझना है; वह नहीं जानता कि उसके सामने अनिवार्य उपस्थित हो गया है...उसको आलिंगन करने के लिए उसने अपनी लम्बी भुजाएँ बढ़ाई हैं—वह आलिंगन पाश में, अपने शीतल पाश में

लेगा और उसका यह पाश कसता जायगा धीरे-धीरे...यह व्यक्ति इस आकस्मिक को किस प्रकार ग्रहण कर सकेगा, किस रूप में लेगा ?... अन्धकार में यह क्या इसलिए सह्य हो सकेगा कि उसका अनुभव एकाएक ही होगा ? उसका अनुभव ही न हो, यह ऐसा नहीं होता शायद।... फिर पापा के लिये; पापा को क्या किसी ने परिस्थिति के सामने झुकते हुए देखा है...कैसी ही परिस्थिति क्यों न हो, पर पापा के मन में उसे बचा जाने का भाव कभी नहीं जागा। वह सीधे सहज भाव से आगत को ग्रहण करेंगे, ऐसा ही सदा लगा है।...डा० अंकिल क्यों उन्हीं से यह सब छिपा रहे हैं...उन्होंने पापा को इतने दिनों से जाना है, समझा है।...उसे न जाने क्यों यह गोपन पापा का अपमान लगता है। पापा आगत अनिवार्य के सामने अपनी मुस्कान के साथ ही खड़े रह सकते हैं, यह डा० अंकिल क्यों नहीं समझते...माँ क्यों नहीं देख पातीं।

...इस सघन और उदास वातावरण में किसी को उसकी बीमारी की याद नहीं, उसे स्वयं अपनी चिन्ता नहीं है...केवल माँ परेशान हैं, इस परेशानी में नीरा ने आकर एक उलझन बढ़ा दी है। वह न तो ठीक दवा का ध्यान रखती है, और न ठीक ढंग से इंजेक्शन ले रही है।... माँ भरसक उसकी चिन्ता रखती हैं, पर उनका मन अस्थिर है, उनकी गति...सोचने-समझने की शक्ति ही जैसे कुण्ठित हो गई है। माँ के अन्तिम अवलम्ब हैं उनके भगवान्, वह उनको स्मरण कर पा रही हैं। इसके अतिरिक्त उपाय भी नहीं है। और सब व्यस्त हैं...चाचा जी दौरे पर अधिक रहते हैं, वे जो कुछ देख-रेख कर भी पाते हैं, वह केवल पापा की। उनका ध्यान केवल पापा की बीमारी तक केन्द्रित हो गया है।... वह स्वयं अपनी चिन्ता कर नहीं पाती है, ऐसा नहीं कि करना नहीं चाहती, पर उसके मन में पापा को लेकर न जाने कैसा ऊहापोह चलता रहता है जिससे उसे किसी अन्य बात की सुधि नहीं है। वह चाहती है कि माँ की इच्छा रखने के लिए ही कम से कम अपनी चिन्ता करती रहे। पर ऐसा हो नहीं पाता...वह अपनी चिन्ता कर नहीं पा रही है।

लेकिन पापा लेटे ही लेटे सारे घर की भावनाओं, उसकी व्यस्तता, परेशानी का अनुभव जैसे कर लेते हों, उनकी दृष्टि से कुछ छिपा पाना सरल नहीं है। वे कभी-कभी मुस्करा देते हैं, माँ को उनकी यह मुस्कान न जाने क्यों भयभीत कर देती है...यह पहले की परिचित मुस्कान है, फिर माँ उसे सह क्यों नहीं पातीं, विचलित क्यों होने लगती हैं।...उनके मुस्काने के भाव से ऐसा जान पड़ता है कि वे सब जान रहे हैं, वे अनिवार्य से, इनएवीटेबिल से अपरिचित नहीं हैं। सब छिपाते रहो, पर उनके लिए यह अब स्पष्ट पारदर्शी है। इस प्रकार उनको कौन धोखा दे सकता है, सब अपने को ही छल रहे हैं...उसको बराबर यही लग रहा है। पापा अब धीरे-धीरे बोलने लगे हैं, उनके बोलने की शैली से, मुस्कराने के ढंग से, उनकी भंगिमा से यही व्यक्त होता जान पड़ता है...वह विकल हो जाती है, फिर क्यों पापा से यह इस प्रकार गोपन रखा जा रहा है। डा० हार्टले इस पक्ष के नहीं हैं, अंकिल ऐसा क्यों कर रहे हैं...शायद उनको इस डायगनोसिस पर ही विश्वास नहीं है, वे यह मानने को तैयार नहीं हैं। यही कारण हो सकता है, फिर भी पापा से साफ़ स्पष्ट...उसे लगता है, यह पापा के प्रति अन्याय है...

वह पापा के पास आराम कुर्सी में बैठी है...पापा ने मसनद की धोख लगा ली है, एक प्रकार से तिरछे होकर लेटे ही हैं...आराम, आराम, कम्पलीट रेस्ट, यही डाक्टरों की एकमत राय है।...पापा अपनी चिरपरिचित गीता के पन्ने उलट रहे हैं। ऐसा लग रहा है कि मन में कहीं कोई अस्थिरता है जो इस प्रकार व्यक्त हो रही है। वह उनके मुख की ओर देख लेती है...पापा भी उसकी ओर ध्यान देते हैं, वह देखती—उनकी दृष्टि में कोई प्रश्न, कोई जिज्ञासा झाँक रही है...वह आँख नहीं मिला सकी, पापा की दृष्टि का अपरिचित भाव वह सहन नहीं कर सकी...ऐसे-ऐसे पापा कभी नहीं होते, इस प्रकार उन्होंने कभी नहीं देखा।...आज यह नया भाव उनके मन में आया है, आज यह नई संवेदना उनके मन में जागी है। वह उससे न जाने क्यों संत्रस्त होती

है, उसको पापा की दृष्टि असह्य लगती है।...उसे लगा पापा उसकी ओर उसी भाव से, उसी प्रकार अब भी देख रहे हैं...वे शायद प्रतीक्षा में हैं कि वह कब उनकी ओर फिर देखती है...वे उससे कुछ कहना चाहते हैं। उसे पापा की बात सुननी चाहिए, वे अपने मन की बात उससे कहना चाहते हैं। उनके लिए यह नई बात है, आज जैसे कोई नया संस्कार उनमें जगा है।...पापा की ओर वह साहस करके फिर देखती है...पापा उसी प्रकार चुपचाप बैठे हैं, उनके मुख पर एक छाया है...।

उसने पापा के मुख पर कभी नहीं देखा है इस छाया को...लग रहा है सागर गम्भीर शान्त फैला है, अपने असीम विस्तार में, पर उस पर एक काले बादल की छाया पड़ रही है...छाया फैल रही है, फैलती जाती है, उसमें सागर का सारा नीला विस्तार अन्तर्लीन हो रहा है, विलीन होकर डूब रहा है।...वह मन ही मन व्यथित हो उठी...उसके मन में कोई उमड़न उठी है जो घुमड़-घुमड़कर उसके मन को अभिभूत कर रही है...उसके मन में अव्यक्त पीड़ा हो उठी, पापा शायद उसके इस भाव को पकड़ पाते हैं। वे उसको इस भाव से मुक्त करने के लिए ही जैसे कहते हैं—'नीरा।' उनके इस प्रकार पुकार लेने को नीरा और नहीं सह पा रही है। उसके आँसू बरबस उमड़ रहे हैं, पापा कभी इस प्रकार नहीं पुकारते रहे हैं, इस प्रकार व्यंजनाओं में उनको बोलने का कभी अभ्यास नहीं रहा है। उनकी वाणी में कभी सन्देह, अनिश्चय, पराजय का भाव नहीं रहा ; उसमें सदा निश्चय, विश्वास, दृढ़ता ही प्रकट हुई है। उन्होंने पराजय को उस रूप कभी लिया नहीं...आज उन्हीं पापा की वाणी में यह जिज्ञासा, यह सन्देह कैसा ?...यह दीनता जैसा क्या भाव है उनकी वाणी में ? वह अपने को संयत करने में ही व्यस्त है, कुछ कह नहीं पा रही है। पापा संयत स्वर में फिर कहते हैं—'नीरा बेटी, तुम जानती हो, मुझसे यह सब छिपाया जा रहा है !' यह कह कर वे अपने ढंग से मुस्कराते हैं—'मैं नहीं समझता तुम्हारे डा० अंकिल

इसमें क्या लाभ समझते हैं।...नीरा, यह क्या? तुम रोने लगीं...अरे यह कैसी बात है। तुम ऐसी नहीं थी नीरा...जो होना है, निश्चित इनएविटेबिल है, उसे कौन टाल सका है। उसे खुले मन से स्वीकार कर ही लेना चाहिए, इस प्रकार अपने को भ्रम में रखने से क्या फ़ायदा! और ये सब सोचते हैं, मैं समझ नहीं रहा हूँ, कैसी बच्चों जैसी बात है...ताज्जुब की बात है कि इसमें तुम्हारे डा० अंकिल भी हैं। डाक्टर से कितने दिनों की मेरी दोस्ती है, तुम नहीं जानती नीरा, स्कूल डेज़ से ही हम इसी प्रकार एक दूसरे को मानते आये हैं।...नीरा, तुम समझदार हो, मेरा भाव समझ सकी हो।...मेरा भाव स्वयं बदल रहा है, अब अनिवार्य के सामने झुकना पड़ेगा...मैंने हार कभी नहीं मानी, आज हार की बात मेरे मन में नहीं है।...हाँ, मैं ज़रूर सोचता हूँ कि तुम्हारी तन्दुरुस्ती ठीक होती। कुछ नहीं, ज़रा अधिक निश्चिन्त होकर फ़ेस कर सकता था!...परन्तु नहीं नीरा, इनएविटेबिल यह सब हिसाब नहीं करता, जब वह आता है, आ ही जाता है...फिर उसके सामने आदमी के पास सोचने-विचारने का मौक़ा ही कहाँ?...लेकिन यह ऐसे ही आगे सब अपने आप ठीक हो जाता है।'...

उसके लिए पापा की बात को सह पाना सम्भव नहीं रह जाता। वह चुपचाप अपने को सँभाले, दाबे बैठी रहती है। वह पापा के सामने रोयेगी नहीं, वह इस अन्तिम संघर्ष में उन्हें कमज़ोर नहीं होने देगी... पापा ने जिस प्रकार संघर्ष करना जाना है, उसमें अन्त तक हार जाने पर भी पराजय स्वीकार करना नहीं होता। वे अनिवार्य के सामने भी झुकेंगे नहीं।

नीरा के मन में पापा की अनेक मूर्त्तियाँ उभर कर ग़ायब हो रही हैं...चलचित्र के भागते दृश्यों के समान पापा की छायाकृतियाँ एक के बाद एक निकलती जा रही हैं...पापा हर रूप में सहज भाव से मुस्करा रहे हैं, उनके मस्तक पर चिन्ता की रेखाएँ पढ़ पाना सम्भव नहीं है...।

उनकी मुस्कान अधिक व्यंजनात्मक होती जा रही है, नीरा को उसमें गहराई में कहीं कोई छाया का आभास मिल रहा है, पर स्पष्ट कुछ भी नहीं। अन्तिम समय तक उनका यह भाव बना रहता है, केवल उनकी मुस्कान की वह छाया करुण होती आ गई है...लेकिन उस करुण भाव को पकड़ पाना सम्भव नहीं है। वे उसी प्रकार संसार से चले गये और सारा परिवार उनकी मुस्कान से, उनके आत्म-विश्वास से भ्रम में रहा... शायद पापा ने यह अपने को भ्रम में रखने का बदला लिया हो इस प्रकार...सब ने उनको भ्रम में रखने का प्रयत्न किया और उन्होंने सबको भ्रम में रखा...।

...पापा शांत भाव से लेटे हैं...श्याम को तार देकर फिर एकाएक बुला लेना पड़ा है। पापा ने कहा है श्याम को बुला लिया जाय...पर श्याम के पास अभी तार पहुँच पाया होगा और वह चलेगा। माँ बहुत उद्विग्न हैं, पापा ने श्याम को क्यों एकाएक बुला लिया है? यह उनको जैसे कोई संकेत मिल रहा हो!...वह स्वयं कुछ समझ नहीं पा रही है। माँ के मुख पर छाई घोर चिन्ता और पापा की मुस्कान की किसी गहरी अभिव्यक्ति से वह इस बात का आभास पा रही है...घर पर कोई बहुत काली, बहुत गहरी छाया मड़रा रही है...एक विचित्र-सी उदासी उसे घेर रही है, उसके मन में कोई व्यथा उमड़-उमड़ कर हृदय को मथ देती है...वह पीड़ा से विह्वल हो उठती है।

...उसका रोग, उसका कष्ट बढ़ रहा है, पर वह कहेगी नहीं, उसे उसकी चिन्ता नहीं!...पापा बहुत चुप हैं, आज शाम से उनके हृदय में बहुत हलका सा दर्द हो रहा है...ऐसा उन्होंने डा० अंकिल से कहा है। डाक्टर अंकिल उद्विग्न होकर स्वयं डा० हार्टले को लेने गये हैं। उनकी मुद्रा से माँ ने कुछ जैसे पढ़ लिया हो।...कुछ देर माँ दिखाई नहीं दी, वह समझती है—माँ पूजाघर गई हैं...फिर वे अधिक संयत और गम्भीर हो गई, उनके मुख पर की कातरता विलीन हो गई है।...उनका भाव है

कि वे अब अनिवार्य के लिये तैयार हैं, उन्होंने सदा समर्पण करना जाना है, वे प्रभु की, अपने प्रभु की प्रत्येक इच्छा के सम्मुख नत-मस्तक हैं।... पर उनकी इस गम्भीर मुद्रा के अन्दर कहीं हाहाकार का दूर से उठनेवाला बहुत मन्द स्वर सुनाई दे रहा है...माँ व्यस्त हैं, वे पापा को दवा दे रहीं हैं, क्षण-क्षण उनकी नब्ज़ देख रही हैं। चच्चा और चाची दोनों उनके समीप हैं। पापा अब भी चुप हैं, उनकी मुद्रा से उनकी व्यथा अथवा कष्ट का कोई अन्दाज़ नहीं लगाया जा सकता...वे शान्त हैं, वे अपनी नीरव शान्ति से दूसरों को सान्त्वना देना चाहते हैं।...

...नरेश भइया, वे दो दिन पहले आ गये हैं। उनके आ जाने से सबको सहारा मिला है...पापा और उनकी न जाने क्या-क्या बातें पिछले दिन होती रही हैं, पूछने पर भी साफ़ स्पष्ट उन्होंने कुछ कहा नहीं, पर भंगिमा से लगता है वे अपने को संयत करने के प्रयत्न में गंभीर हो उठे हैं। पापा उनको देखकर उसी प्रकार मुस्करा देते हैं और वे न जाने कैसे-कैसे होने लगते हैं...।...नरेश भइया ने पीछे से पापा को सँभाल-सा रखा है, पर उनका मुख पापा के सामने ही पड़ता है। वह स्वयं सामने की कुर्सी पर बैठी है...चच्चा देर समझ कर उद्विग्न हो रहे हैं...वे बाहर चले जाते हैं...मोटर स्टार्ट होने की आवाज़, और मोटर चली जाती है। शायद चच्चा भी डा० हार्टले के पास चले गये हैं, वे स्थिति की गम्भीरता को समझ रहे होंगे...चाची व्यस्त-सी इधर-उधर आ-जा रही हैं, एक प्रकार से माँ के साथ-साथ लगी हुई हैं। न जाने वातावरण कैसा घना धुँधला, उदास करुण होता जा रहा है...सन्नाटा, उदासी, अज़ब सी स्तब्धता, न जाने कैसा लगता है, कैसी वेदना उमड़ रही है, व्यथा घुमड़ रही है।...वह महसूस कर रही है कि इस व्यथा का अनुभव सब कर रहे हैं, पर सब चुपचाप सहन कर रहे हैं, इसके अतिरिक्त जैसे कोई मार्ग नहीं है। उसे अपने को संयत रखना है...इस अवसर पर पापा के क्लेश से अधिक किसी की भावना का ध्यान नहीं रखा जा सकता। उन्होंने सदा दूसरों के लिये सहा है, झेला है...अपने

मन की सारी व्यथा उन्होंने चुपचाप सह कर दूसरों को सहारा दिया है, हम सबको कभी अपनी चिन्ताओं की आँच नहीं लगने दी, कभी अनुभव नहीं होने दिया कि आपत्ति-विपत्ति क्या होती है। उन्हीं पापा को क्या हम...क्या उनके लिये हम इतना भी सहन नहीं कर सकेंगे...अपनी अन्तर की व्यथा को इस प्रकार मौन रह कर सहना ही होगा...माँ इसी भाव से एक दम दृढ़, संयत और निश्चित जान पड़ती हैं।

...पापा ने आँखें खोल दीं, कुछ देर से वे आँख बन्द किये शान्त लेटे थे। आज वह समझ रही है...उस दिन पापा इस प्रकार अपनी असह्य पीड़ा को सह रहे थे, डा० हार्टले ने कहा था कि पापा को अन्तिम समय में असह्य पीड़ा सहनी पड़ी, क्योंकि वे लोग कोई पेनकिलर इंजेक्शन नहीं दे सके, उन्हें देर में पहुँचने का खेद था। और डा० अंकिल की वेदना का पार नहीं रहा, क्योंकि वे अन्त तक एक प्रकार से उनके सम्बन्ध में धोखे में रहे।...पापा ने आँखें खोलीं, उन्होंने चारों ओर देखा जैसे किसी को खोज रहे हैं। वह अनायास पुकार लेती है—'माँ', माँ आ जाती हैं—पापा की खोजती हुई दृष्टि उन पर रुकती है, उनकी दृष्टि में कोई संकेत है। माँ बिल्कुल उनके पास पहुँच जाती हैं...वे उनके बिस्तर के बाईं ओर जाकर किंचित् झुक जाती हैं। पापा ने उनको देखा और कुछ क्षण मौन देखते रहे...उनके देखने में कहीं कोई उद्वेग नहीं, कहीं कोई चंचलता नहीं, बिल्कुल शान्त। उसके सामने माँ और पापा की दृष्टियाँ एक दूसरे से मिल रही हैं...दोनों में गम्भीर शान्ति व्याप्त रही है, पर दोनों में कोई व्यंजना है, अर्थ है!...उसे लगा —इनकी इस गम्भीरता के अन्तराल में वेदना-व्यथा के सागर लहरा रहे हैं...ये दोनों सागर एक दूसरे के सामने फैले हैं, दूर बहुत दूर से एक दूसरे का अनुभव करते हैं...फिर उमड़ते हुए दौड़ पड़ते हैं और आगे बढ़ते हुए एक दूसरे की उत्ताल तरंगों को छूने के लिये विकल हो जाते हैं।...वे एक दूसरे को, एक दूसरे की तरंगों को छू लेते हैं, चुपचाप मौन ही वे एक दूसरे की व्यथा को समझ लेते हैं जैसे!...फिर

किसी प्रकार अपने को उबार कर माँ पूछती हैं—'कैसी तबियत है।' माँ की वाणी में जैसे उनकी व्यथा का लेश न हो, वे बहुत स्नेह के स्वर में कहती हैं...पर उसे लग रहा है—माँ की वाणी में कहीं गहराई में अत्यंत करुण अनुगुंज है जिसे वे किसी प्रकार ऊपर आने नहीं देंगी।...पापा उसी प्रकार मुस्कराये जैसे वे सदा माँ को चिढ़ाने के लिये मुस्कराते थे। कितनी परिचित मुस्कान है, माँ के मुख पर लज्जा का आभास आकर मिट गया।...पापा ने जैसे प्रयत्न के साथ धीरे-धीरे कहना शुरू किया—'देखो भाई, अपने को ठगना बेकार है, साहस करो। यह ऐसे होने से नहीं चलेगा। तुम साहस करो, मेरी तबियत तो ठीक ही है।...लेकिन मैं अब इनएविटेविल के सामने हूँ...जो घटित होना है, वह रोका नहीं जा सकता...मैं अब साफ़ देख रहा हूँ। मैं अपनी पीड़ा को स्वयं समझ रहा हूँ, डा० हार्टले से अधिक मैं उसे आज बता सकता हूँ।...दुःख, शोक, रोना-धोना सब दुनिया का धर्म है।...पर न...भई तुमको यह नहीं चाहिए, इतना सब करने को छोड़ जा रहा हूँ।...यह सब इतना बोझा अकेले तुम पर छोड़ जाने में मुझे भी दुःख हो रहा है...लेकिन तुम्हारे बल पर, तुम्हारे साहस पर छोड़ने में निश्चिन्त भी हूँ...।' पापा कह रहे हैं और माँ सुन रही हैं...यह सब सुनने में माँ को कितना सहना पड़ रहा है, इसका अनुभव वह कर रही है। उसे लगता है, उसके मन का कोई सूत्र छिन्न-भिन्न हो रहा है, कोई तन्तु टूट कर बिखर रहा है...और ये सूत्र, ये तन्तु उसके सारे अस्तित्व, उसकी चेतना के अंशों को बाँधे हुए थे। इन्हीं के सहारे उसका अपनापन बना हुआ था, व्यवस्थित था...ये ही सूत्र, ये ही तन्तु छिन्न-भिन्न होकर उसके मन को मथ रहे हैं।...पर माँ अपने सारे सूत्रों को, तंतुओं को समेटे सँभाले खड़ी हैं...उनकी चेतना का तार-तार काँप रहा है, लेकिन माँ हैं कि सबको समेटे बटोरे खड़ी हैं। वे पापा के लिए सब कठिन कठोर सह लेंगी...वे सारे विष को बिना अस्थिर हुए ही पी लेने के लिये दृढ़ हैं। माँ ऐसी निश्चल हो सकती हैं, ऐसी निरासक्त हो सकती हैं...

उसे आज भी आश्चर्य होता है !...

...वह समझ रही है—इस सारे गम्भीर सागर के अन्तराल में घोर बड़वाग्नि दहक रही है, अनन्त प्रलय छिपे हैं...पर माँ सब को थामे बाँधे खड़ी हैं, जैसे सागर की नीली उज्ज्वल लहरों के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। उसके लिये, नीरा के लिये यह सब सह पाना कठिन है, माँ का यह सहना उससे नहीं देखा जा सकेगा...पर वह इस अवसर की पवित्रता को भंग करने का अपराध भी कैसे करे।...लेकिन यह सत्य नहीं है, यह स्वाभाविक नहीं है, यह मानवीय नहीं है...माँ को रोना चाहिए, माँ के आँसू ही इस समय उनको भी संतोष दे सकते हैं, और हम सबको भी।...पर माँ पापा के लिये, वे पापा के स्वभाव को जानती हैं, रोएँगी नहीं।...वह समझती है—माँ इस समय पापा को ग्रहण करने में पिछले पापा का विचार रखना चाहती हैं। पर वह देख रही है, समझ रही है...पापा में परिवर्तन है, या उनका अन्तः इस घड़ी बाहर व्यक्त होने के लिये आकुल है, उनके मन की कोमलता किसी अवलम्ब को ग्रहण करना चाहती है...उसके मन में यह सब एक क्षण में कौंध गया। उसकी आँखों का बँधा हुआ प्रवाह बह चला...वह रो रही है...उसके गाल आँसुओं से भीग रहे हैं।...वह चुपचाप रो रही है...पापा ने देखा नीरा रो रही है, माँ ने भी देखा नीरा रो रही है। माँ ने करुण भाव से पापा की ओर देखा और...और पापा के आँसू भी...माँ के आँसुओं का बाँध टूट गया...और पापा...उसने आँसुओं के बीच से देखा...पापा की आँखों में वही मुस्कान है। मुस्कान आई, मुख पर फैल गयी...फिर जैसे उसके अन्दर से व्यथा—करुणा की व्यंजना के आँसू ढुलक पड़े।...पापा की आँखों में आँसू, उनको दुःख है ?...या उनको कष्ट है ?...नहीं उसके पापा कभी दुःख से, पीड़ा से, क्लेश से, कष्ट से हारनेवाले नहीं...वे सब कुछ झेल सके हैं, उनके लिये कुछ भी सहना अधिक नहीं है...ये आँसू ? कैसे हैं ये आँसू ?...इनमें पापा के मन की कोमलता, स्नेहशीलता व्यंजित हुई है। इस समय अनिवार्य के

सामने वे अपने अन्तर को छिपाना नहीं चाहते—उनको अपने परिवार के प्रति ममता है, रही है...वे सदा निसंग नहीं रहे हैं, वे आदमी की तरह ही ममता में जिए हैं। केवल वे कभी हार कर नहीं चले और आज भी उनकी मुस्कान में वही दृढ़ता है, निश्चय है...कहीं कोई अन्तर नहीं है, वे उसी प्रकार मुस्करा रहे हैं।...नरेश भइया सब कुछ भूल कर उनकी ओर न जाने कैसे भक्ति भाव से देख रहे हैं, अविभूत होकर...उनके आँसू सूख गये हैं, उनके मन में तो जैसे कोई आह्लाद मौन हो गया हो...पवित्र देव मन्दिर में जैसा भाव भक्त के मन में उत्पन्न होता है...

एकाएक दृश्य बदल जाता है...घर में न जाने कितने व्यक्ति एकत्र हो गये हैं...डा० अंकिल डा० हार्टले के साथ आ गये हैं। चच्चा की भारी-भारी आवाज़ सुनाई दे रही है।...उसे धीरे-धीरे होश आ रहा है, घर में स्वरहीन हलचल का आभास मिलता है...उसे धीरे-धीरे याद आता है, पापा की तबियत बहुत ख़राब है। अब डा० हार्टले आ गये हैं, ऐसा जान पड़ता है...डा० अंकिल की आवाज़ आ रही है... उनके स्वर में यह घबराहट कैसी? वे प्रसिद्ध डाक्टर हैं...वे इस प्रकार घबरा कैसे सकते हैं...डाक्टर कहीं घबराता है, पर डाक्टर तारानाथ उसके अंकिल भी हैं, उन्होंने पापा को भाई ही माना है।...डा० हार्टले लगता है व्यस्त हैं...दो एक आ जाने वाले शब्दों से उसे लग रहा है कि डा० हार्टले पापा के होश को सरवाइव करने के लिये संघर्ष कर रहे हैं...इंजेक्शन काम नहीं दे रहे हैं...अन्त में वह उन्हें आक्सीज़न देने के उपक्रम में हैं।...अपने कमरे में उसे आभास मिल रहा है...डा० हार्टले पापा को बचाने के लिये संघर्ष कर रहे हैं। वे मौत से लड़ रहे हैं... बिल्कुल तन्मय और एकाग्र होकर...उनकी आवाज़ बहुत कम केवल कुछ शब्दों में सुनाई देकर मिट जाती है...डा० तारानाथ बिल्कुल हतप्रभ हैं...उनका मन स्वयं स्थिर है, वे बीच-बीच में डा० हार्टले का नाम लेते हैं जैसे किसी पीड़ा को सहते-सहते कराह उठते हों। डा० हार्टले

का स्वर सुनाई देता है 'एस डाक्टर', जैसे अपने संघर्ष की तन्मयता के अन्दर से उत्तर देते हों...!...पर यह एकाएक क्या हो गया...डा० हार्टले का पराजित स्वर सुनाई दे रहा है—'आ'म सॉरी...आई एम कमप्लीटली डिफ़ीटेड...आ'म लॉस्ट।' उसको लगता है उसके स्पाइ-नेल में दर्द आवेग के साथ लहराता दौड़ पड़ा है और उसकी पीड़ा की उमड़न उसे मूच्छित कर रही है। उसे लगता है...उसके चारों ओर अंधकार ही अंधकार छाया है, कहीं कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है...वह उसी में डूब रही है...अन्धकार अधिकाधिक घना होता जा रहा है, उसका मार्ग खो गया है...वह भटक रही है...और जैसे पापा उसी अंधकार में छिप गये हैं, उसमें वह उनको ढूँढ़ रही है...बढ़ते हुए अंधकार में पापा को खोज पाना कठिन है, पर वह स्वयं भी उसी में खोई जा रही है...उसे यह अँधेरा निगल लेगा...।

वह व्याकुल होकर चौंक पड़ती है।

ट्रेन अपनी गति से भाग रही है, झिक-झिक छुक-छुक करती अविराम भाग रही है...लम्बे विस्तार में फैले हुए रेत के मैदान अब अधिक सपाट चले जा रहे हैं। विस्तृत रेत के वनस्पतिहीन मैदान पार हो रहे हैं...बीच में एक आध डूँगर ज़रूर दिखाई दे जाते हैं, जिस पर दस-पाँच जानवर चरते दिखाई पड़ते हैं। रेत के भाग में कहीं-कहीं छिउळ और बबूल के एक आध पेड़ आ जाते हैं और फिर सपाट रेत का मैदान।...युवक बाहर देख रहा...मन में आता है कि अब बाँदीकुई जंकशन आनेवाला है...बाँदीकुई जहाँ से आगरा की लाइन मिलती है और वहाँ से जैपुर साठ मील रह जायगा। अभी तीन भी नहीं बजा है, लेकिन अब दोपहर ढल चुकी है। साथ के यात्री—कुँअर उतर गया है पिछले स्टापेज़ पर...लेकिन इस छोटी सी यात्रा को भी उसने मनोरंजक बनाया है, इसमें कोई संदेह नहीं। वह जानता है ये राजकुमार अब अधिक नहीं रह सकेंगे, इनका समय बीत चुका है...पर इस राजकुमार के लिए उसके मन में सहानुभूति जाग रही है, इसलिए नहीं कि उसकी जागीर समाप्त हो जायगी...वह तो जाना है और जायगी...कुँअर तो लगता था कि इस बात से खुश ही था। हाँ, प्रसन्न तो क्या हो सकता है...पर उसे वह स्वीकार कर सका है यही क्या कम है।...दुःख है कि उस का सारा स्वप्न टूट जायगा, वह कोमल स्वप्न जो आज तक वह देखता आया है...शराब...शिकार...विलास...रंगीनी...यह निश्चय ही बदल जायगी। इसका बदल जाना उसके लिए भी अच्छा ही होगा, वह स्वयं मानता है। जिनके परिवार में युग-युग से शासन करने की परम्परा चली आ रही है, वे अपनी वर्तमान स्थिति को समझते ही न

हों, ऐसी बात नहीं है। कुँअर साहब को यह ज्ञात है कि उनका पिछला जीवन स्वप्न पर आधारित रहा है...अंग्रेज़ी शासन को सहायता और समर्पण करने का इनाम उन्हें मिला है...यही स्वप्नों का जीवन और इनके स्वप्नों के माध्यम से अंग्रेज़ लोग भी कभी स्वप्नों का, स्वर्ग का सुख प्राप्त कर लेते थे। शिकार, पार्टी, पिकनिकों में उन्हें देशी राजाओं के सारे ऐश्वर्य उपभोग उसी प्रकार सुलभ हो जाते थे, मानों अधिकारी देवता वे ही हैं, राजा लोग तो उन्हीं की ओर से यह सब प्राप्त करते हों।...अब देवता चले गये, और उनके साथ ही सारे स्वर्गीय ऐश्वर्य, विलास भी विलीन हो रहे हैं...यह अच्छा हो रहा है, अपने स्वप्न से जागते हुए ये सब ऐसा ही सोचते हैं, यह स्वस्थ बात है। पर यह क्या करुण नहीं है, क्या यह दयनीय नहीं है कि किसी के सारे मधुर स्वप्न इस प्रकार एकाएक विलीन हो रहे हों...

...इस राजस्थान में, इसके इस रेत के अनन्त विस्तार में इतना ऐश्वर्य इतना विलास कहाँ से जुड़ सका, कहाँ से सारी रंगीनी आ सकी! ट्रेन रेत के इसी फैले हुए विस्तार से भाग रही है, बीच-बीच में केवल कहीं-कहीं रेत की मेड़ों से घिरे हुए खेत आ जाते हैं...रेत की मेड़, और रेत के खेत...कितनी अस्थिरता है, कितना व्यंग है। प्रकृति का यह भी एक रूप है, पर आदमी इसमें भी रस की सृष्टि कर लेता है...इस रेत के मध्य भी खेती करता है, रहता है... फिर इतना ही नहीं उसमें स्वप्न पालता है। रंगीन स्वप्नों का ही देश यह नहीं है, इसमें एक युग में वीरता का युग भी था...जब अपनी आन-बान के लिए वीर राजपूत जौहर करते थे, नारियाँ एक साथ अग्नि की धधकती हुई चिता में अपने को समर्पित कर देती थीं। लेकिन...लेकिन मूल में उस भावना के...विलास की प्रेरणा रही है! वहां स्वर्ग की छलना उन्हें छलता रही, ऐश्वर्य-विलास यही उनका जीवन सदा ले रहा है... पर हाँ, इस भूमि में कुछ ऐसे योद्धा हुए हैं जिन्होंने स्वाधीनता के लिए निरन्तर संघर्ष किया है...

और आज युग युग के बाद यह देश, देश का यह भाग जाग रहा है, सच्चे अर्थ में जाग रहा है...उसके मन में उस राजकुँअर के प्रति सहानुभूति ज़रूर जाग रही थी, उसके स्वप्नों के भग्न होने के लिए...। एक आदमी अपने जीवन में यह परिवर्तन कैसे स्वीकार कर सकेगा, यही वह सोचता है। लेकिन यह जो परिवर्तन का चक्र चला है, यह अपनी गति में इतना धीमा है, इतनी मन्द गति से आगे बढ़ रहा है... परिवर्तन का एहसास नहीं हो सकेगा...धीरे-धीरे सब बदलता जायगा, बदलता जा रहा है! लेकिन यह राजकुमार क्या कह रहा था? वह कहता है...परिवर्तन की यह गति ही उसके लिए सबसे अधिक असह्य वस्तु है। उसकी बेचैनी वास्तव में इसी बात को लेकर है, यह धीरे-धीरे अपने संस्कारों से अलग होना शायद सबसे अधिक कठिन है...एकाएक झटके के साथ उनको छोड़ देना सम्भव है, उसमें जो कष्ट होगा वह एक झटके में समाप्त भी हो जायगा...पर यह गिलोटिन की तरह धीरे-धीरे साँस साध कर अपने ऊपर बढ़ते हुए तेज़ धार के आरे को देखता रहना...और फिर उस धार के धीरे-धीरे प्रवेश करने की कल्पना कितनी भयावह होती है...वह तो आरे के नीचे धीरे-धीरे कटते रहने की वास्तविक स्थिति से अधिक, कहीं अधिक टेरर उत्पन्न करने वाली है! कौन उसे सहन कर सकता है? फ्रांस के इन गिलोटिनों के नीचे कौन होश में रहता होगा आरे के नीचे रहने के लिए, कौन सह पाता होगा, उस मर्मान्तक भयावह स्थिति को! और राजकुमार किशुनगढ़ का कहना है कि यह धीरे-धीरे संस्कारों से अलग किया जाना लगभग ऐसा ही है! युवक को लगता है उसके मन की सहानुभूति इसी स्थल पर सबसे अधिक केन्द्रित हो रही है...

...इतिहास की गति है...यह ऐसे ही प्रवाहित है। किसी की चिन्ता वह नहीं करता...किसी की अपेक्षा करके नहीं चलता...इस पृथ्वी पर। इस धरा में कितने युगों का इतिहास सो रहा है...कितने युग आये और धरा की गोद में चुपचाप सो गये! उसी की कोख से

जन्में थे और फिर उसी गोद में सदा के लिए सो भी गये...माँ की छाती कितनी कठोर है, माँ की गोद कितनी कोमल है ! अपने से जन्मे युगों को बीतते धरा देखती रहती है, सहती रहती है...लेकिन फिर उनको वही अपनी गोद में स्थान भी देती है, धरा एक साथ कोमल और कठोर है !

...उसके सामने टीले सो रहे हैं...ये मोहनजोदड़ों के टीले हैं... न जाने कितने युगों से थे इसी प्रकार सो रहे हैं...नीले आकाश के नीचे न जाने कितने सहस्त्र वर्षों से इसी प्रकार बिना करवट लिए सो रहे हैं...और कौन कब इन्होंने चुपचाप करवट ली हो, सोने की मुद्रा में यह कब अंकित होता है। इसके नीचे हज़ारों, हज़ारों वर्षों का इतिहास सो रहा है, दबा हुआ है। और ये सिन्धु घाटी के टीले हैं, कगार है, कटान हैं, भुरके हैं...इनमें न जाने कितने युगों का इतिहास... कितनी शक्तियों, कितने संगठनों, कितने राज्यों का उत्थान पतन सो रहा है...नीले आकाश के नीचे, चमकते हुए सूर्य के प्रकाश में, तारों की छाया के नीचे यह सब इतिहास इसी तरह गाढ़ निद्रा में पड़ा है।

...और उसका कैम्प अपने डायरेक्टर के साथ उसी इतिहास के, अतीत के खँड़हरों में पड़ा हुआ है ! खुदाई की रेखाएँ डाली जा चुकी हैं...इतिहास के अतीत को जगाया जायगा...इन रेखाओं के सहारे पिछले युगों को खोजने का प्रयत्न किया जायगा ! वह अपनी स्मार्ट ड्रेस में है, उसके दोनों ओर विद्यार्थियों का झुण्ड है, उनके सुपरिन्टेन्डेन्ट आगे दिखला रहे हैं...नीचे गहरी खाइयों में खुदाई हो चुकी है, हो रही है ! वे अन्दर उतरते हैं...लेयर के बाद लेयर इतिहास के विभिन्न युगों का रहस्य उद्घाटित कर रहे हैं, उनमें रेखाएँ पड़ी हैं...उनमें युगों के निर्देश किये गये हैं। वह फिर एक टीले पर अकेला खड़ा है...तारों की छाया में वह इस अतीत के प्रदेश को न जाने कैसी भावनाओं से देख रहा है। तारों की झिलमिलाहट में सारा प्रदेश एक स्वप्न सा फैला

है। और वह देख रहा है कि सारे वातावरण में एक अद्भुत स्वप्न सा बिखर गया है...आदमी अतीत को खोजता है, आदमी अपने गत में क्या खोज रहा है? और जब वह अपने को ही नहीं जान पाता है, अपने आप को पूरी तरह समझ नहीं पाता है...वह अपने जीवन के छोटे से अतीत में ही भटक जाता है...फिर उसका यह अतीत के प्रति आग्रहशील होना कितना अकिंचन लगता है। तारों ने मुस्करा कर जैसे कुछ कह दिया हो और उनके नीचे सिन्धु की यह घाटी सिहर गई हो... उनके नीचे सोती हुई कितनी भावनाएँ अँगड़ाई लेकर संवेदित हो गईं! उसका मन एक कोमल परन्तु आतंकित करनेवाले भाव से उद्वेलित हो गया...उसके चारों ओर वही जादू है। वह सिन्धु की इस घाटी में इतिहास के निर्माण के लिए प्रयत्नशील है...वह सामग्री एकत्र कर रहा है, तुलना के लिए वह आस-पास के 'डेटा' को एकत्र कर रहा है!...पर इस भाव को कोई कैसे पकड़ सकेगा, यह जो इस सोते हुए प्रदेश से व्यंजित हो रहा है, इसे कौन से स्तर पर, किस लेयर में वह खोज सकेगा, कहाँ से वह उसके लिए प्रमाण संग्रहीत कर पायेगा।...यह हमारी सामग्री ही क्या है, कुछ मूर्त्तियों, बर्त्तनों, खिलौनों के टूटे हुए खण्ड, खपड़े...कहीं कोई ईंट, कहीं कोई संकेत...पर इससे कहीं किसी युग की भावना को पढ़ा जा सकता है...

...पर मनुष्य सहस्रों वर्षों से चल रहा है, उसकी भावनाओं में ऐसा अन्तर नहीं हुआ शायद कि उसे पहिचानने के लिए किसी साधन की अपेक्षा हो। आदमी अपनी भावनाओं में युग-युग से समान रहा है, बहुत कुछ आज भी वैसा ही है, जैसा उस सिन्धु घाटी के युग में रहा होगा। और...आज मनुष्य की संवेदनाओं का इतिहास पहले युग से शायद भिन्न नहीं है, इसीलिए आदमी अतीत की केवल घटनाओं से, संकेत से संतोष कर लेता है; इस अत्यन्त नगण्य सामग्री से सारे इतिहास का निर्माण करना चाहता है।...सिन्धु घाटी उस रात तारों की छाया में न जाने कितने अर्थों में व्यक्त हो रही है।

यह घाटी है जिसमें...जिसकी कोमल छाया में एक पुरुष और नारी का आविर्भाव होता है...वे एक दूसरे के सामने खड़े हैं...यही मानव जीवन और संस्कृति का मूलाधार हो जैसे।...वह देख रहा है, तारे टिमटिमा रहे हैं, उनके नीचे हल्के प्रकाश में सारा दृश्य छायाओं में रूप धारण कर रहा है, केवल उन्हीं में व्यक्त हो पाता है। लेकिन स्त्री पुरुष प्रत्यक्ष हैं, वे इस सारे दृश्य को सजीव कर रहे हैं। पुरातत्व के विद्यार्थी के सामने प्रश्न है...वह इतिहास की सामग्री में, इतिहास की वस्तुओं से युग-युग का जीवन कैसे व्यक्त साकार कर सकेगा...जीवन के स्पन्दन, उसकी साँसों को, उसकी प्रवाह-गति को कोई किस प्रकार पकड़ सकेगा...इतिहास की उस सजीव धारा को पुनः कैसे पाया जा सकता है? इतिहासकार के हाथ जो आया है, वे तो केवल रेत के सूखे तट मात्रा...जब पानी की बाढ़ बीत गई हो, जब सैलाव उतर गया हो...उस बाढ़ में आये युग बीत गये हों, अर्थात् पानी की वे सारी गीली रेखाएँ भी सूख चुकी हों। उस समय केवल सूखे निशानों के आधार पर सैलाव के वेग का, उसके प्रवाह का, उसकी शक्ति का, उसके संहारक रूप का कोई कैसे अन्दाज़ लगा सकता है? इन रेखाओं से केवल उसके विस्तार की कल्पना की जा सकती है,...उसकी चढ़ाई का अन्दाज़ लगाया जा सकता है...इससे अधिक इतिहासकार का दावा नहीं हो सकता। इसके आगे तो कल्पना का आश्रय ही लिया जा सकता है... तारों के नीचे वह सिन्धु घाटी के एक टीले पर खड़ा है, उसके पैरों के नीचे युगों का अतीत सो रहा है...उसके सामने धुँधले प्रकाश में जैसे एक नारी-पुरुष आविर्भूत हो जाते हैं...

उसका अपना अतीत, उसका अपना इतिहास,...कितने दिन वर्ष बीतते गये हैं। वह इतिहास का विद्यार्थी है, वह पुरातत्व विभाग का एक अफ़सर है...उसका कार्य ही है ज़मीन में अन्तर्निहित अतीत का पुनर्निमाण करना, करवाना। लेकिन उसके मन में अपना जीवन, उसका ही अतीत आज उलझ गया है, वह केवल घटनाओं को देख पा रहा

है...उसकी स्मृति में अतीत घटनाओं के देश-काल में जैसे स्थित रह गया है, उस अतीत जीवन को उसकी समस्त गति और संवेदनाओं के साथ ग्रहण कर पाना आज सम्भव नहीं रहा है। उस दिन अन्य अनेक दिनों के रूप में जो अतीत मन में उभर पाता है, वह केवल देश-काल की उन सीमाओं में जो किसी घटना की मात्र रेखाएँ हैं। उसकी गहन संवेदनाओं को, उसके भावात्मक स्पन्दन को पकड़ पा सकना सम्भव नहीं है। जीवन के प्रवाह की उन अनुभूतियों को पुनः जाग्रत करना कैसे हो सकता है...लेकिन जीवन एक प्रवाह है, अतीत एक प्रवाह है, केवल घटित मात्र नहीं। जीवन के प्रवाह में गत, वर्तमान और आगत एक रेखा में, एक ही धारा में आते हैं...संवेदना की एक क्रमिक धारा है जिसमें बीता कल, आज और आनेवाला कल एक साथ अवस्थित हैं, इनमें कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकेगी।...प्रत्येक क्षण की अनुभूति दूसरे आगे पीछे के समस्त क्षणों से सुसम्बद्ध है; यही है कि आज का व्यक्ति उस सारे व्यक्तित्व से अभिन्न है जो काल के सारे विस्तार में फैला हुआ है। और आज का इतिहास, सारे अतीत के इतिहास से अविच्छिन्न है...हम मानव इतिहास के खंड नहीं वरन् उसके प्रवाह के अंश हैं, हमारे मन में युगों के सारे अनुभव, अनुभूतियाँ, संस्कार, संवेदनाएँ सुरक्षित हैं। मन में हमारे जीवन का सारा अतीत वर्तमान है, उससे हम अलग नहीं हो सकते...

ट्रेन ने किसी स्टेशन को सड़-सड़, खट-खट करते हुए पार कर लिया। और युवक के कम्पार्टमेंट में ढलती हुई दोपहरी की तन्द्रा छायी हुई है। दक्षिण की ओर झुके हुए सूर्य की किरणें खिड़की से आ रही हैं, कम्पार्टमेंट में कुछ गरमी है, पर हवा की ठंडी तेज़ी से बचने के लिए सामने की खिड़की बन्द कर दी गई है। दोनों यात्री जैसे तन्द्रा में लीन हो गये हों। ट्रेन के हल्के झटके से स्त्री जाग गई, उसने देखा उसके साथ का युवक तिरछा बैठा है, पैर फैला कर उसने अपने हाथ पैंट की

जेब में डाल लिए हैं...और वह शायद सो गया है। उसे युवक के इस प्रकार सो जाने पर जैसे कुछ दया आई हो...वह एक क्षण उसकी ओर देखती रही, उसके मन में जैसे कोई विचार उमड़ आये हों, उसने किसी संकोच, अथवा अन्यमनस्कता से अपना मुख खिड़की की ओर कर लिया और बाहर देखने लगी।...और युवक को हल्की तन्द्रा ने घेर लिया है...

...खिजलीपुर...यहाँ से रणथम्भौर के लिए जाना होता है.. सब लोगों के साथ वह इस किले पर जा रहा है। वह आगे आ गया है, सारी पार्टी पीछे छूट गई है, साथ में केवल नीरा आगे बढ़ती आ रही है। बाहरी रास्ता पार हो चुका है, अब उन दोनों ने पहले फाटक को पार किया। वह सोचता है, फूफा जी तथा अन्य लोगों का इंतज़ार कर लिया जाय...नीरा का कहना है, वह मार्ग जानती है, वह चच्चा के साथ पहले आ चुकी है। दोनों आगे बढ़ते जा रहे हैं, दोनों ओर पहाड़ियाँ पास-पास चली जा रही हैं जिनके बीच से नाले में होकर रास्ता आगे को बढ़ रहा है...दोनों ओर की पहाड़ियों की चट्टानें दीवाल की तरह उठी हुई हैं! वह उनको देख लेता है और फिर नीरा की ओर देखता है...दोनों बिल्कुल दुर्ग के नीचे आ गये हैं! दुर्ग की ऊँची और विशाल दीवालें उनके साथ-साथ चली गई हैं, वे पहाड़ को काट कर बनी हुई हैं!...फिर सबके बीच वह जा रहा है, रणथम्भौर का इतिहास कोई कह रहा है। यहाँ के सिपाही साथ-साथ चल रहे हैं, एक गलमुच्छोंवाला सिपाही दुर्ग के इतिहास में अधिक रुचि ले रहा है, उसे उसकी कहानी बहुत भा रही है...पद्मला सरोवर में राजकुमारी पद्मा...।

...रणथम्भौर गढ़ पर चाँदनी फैली हुई है, पूर्णमासी का चाँद ऊपर चढ़ आया है...साथ का शोर-गुल अब नहीं है, सब जैसे आराम कर रहे हैं। वह महल के पीछे के पद्मला सरोवर के ऊपर बैठा है...सामने

सरोवर में कमल खिले हैं, कोई पक्षी पुकार रहा है...सरोवर के जल पर वह पक्षी तैरता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है...राजकुमारी पद्मा सरोवर में तैरती चली जा रही है।...यह क्या राजकुमार...वीरम... राजकुमार और राजकुमारी सरोवर के जल पर अनायास ही तैर रहे हैं...पद्मा को जैसे वीरम पकड़ने के लिए तेज़ तैर रहा है।...यह क्या राजकुमारी विलीन हो गई...और वीरम...वह तैर रहा है, सरोवर के शीतल जल में वह तैर रहा है।...उसके सामने ही जैसे कोई है...श्यामा सुन्दरी यहाँ आ गई, यह कैसे! यहाँ सुन्दरी कहाँ थी साथ...सुन्दरी सरोवर में आगे बढ़ती जा रही है...उसके सामने से अदृश्य हो रही है। वह उसे बचा लेगा...वह आगे बढ़ रहा है, तेज़ तैर रहा है...उसके हाथों में सुन्दरी आ जाती है...वह उसको पूरी तरह अपने ऊपर सँभाल लेता है, सुन्दरी बिल्कुल शिथिल है, उसका शरीर ठंडा है...वह एक हाथ से तैरते हुए आगे बढ़ता जा रहा है। तट पर उसकी गोद में सुन्दरी है, उसके शरीर की उष्णता युवक के शरीर को भी उत्तेजित कर रही है। वह धीरे-धीरे होश में आ रही है...एकाएक भय से वह उसके गले में लिपट जाती है।...उसके अस्तित्व के सारे सूत्र जैसे एकाएक झनझना उठते हैं, उनमें अजब सा तनाव आ जाता है, शरीर की पेशियों में तनाव उत्पन्न हो जाता है...एक विचित्र सेनसेशन उसके सारे शरीर में व्याप रहा है। वह अपने इस तनाव से विह्वल होकर पुकार उठता है—सुन्दरी!

...यह क्या यह तो...उसके सामने नीरा बैठी है...सरोवर के किनारे दोनों बैठे हैं...नीरा बिल्कुल चुप है, वह उदास है।...उसके शरीर में न जाने कैसी शिथिलता फैल रही है...लग रहा है शरीर का सारा बल शिथिलता से आच्छादित हो रहा है, निष्क्रियता व्याप रही है। नीरा एक टक उसी सरोवर को देख रही है, फिर वह करुण स्वर में कह देती है—'नरेश भइया, पद्मा का यह सरोवर कितना उदास है, इसमें न जाने कैसी करुणा व्याप रही है! पद्मा जीवन में किसी अभिशाप से ही

वीरम को प्राप्त नहीं कर सकी...कहते हैं उसकी अतृप्त आत्मा आज भी यहाँ वीरम को खोजने आती है...तुम नहीं मानोगे, पर मुझे लग रहा है पद्मा सचमुच आज भी यहाँ वीरम की प्रतीक्षा कर रही है।...देवता, शिव का दीपक जलाने नहीं, वह वीरम के लिए इस सरोवर में आती होगी'...उसको नीरा की बात से जैसे आश्चर्य हुआ—'नीरा, तुममें लोक का अन्धविश्वास कैसे जागा है।'

...वह विराट नगर के उत्तर की पहाड़ी पर चढ़ रहा है...और फूफा के साथ की पार्टी आगे जा चुकी है, उनको कहीं मुआयना करना है। यहाँ अकेले सन्ध्या समय घूमना ख़तरे से खाली नहीं है, पर इस कल्पना से उसके मन पर भय की कोई छाया नहीं है। उसने देखा पहाड़ी की एक उपत्यका में हरियाली के बीच एक बटेर का जोड़ा चहक रहा है, दोनों साथ साथ उड़ रहे हैं, एक साथ पेड़ों की डालों पर बैठ कर फिर बोल उठते हैं, उनकी चहचहाहट से सारी उपत्यका मुखरित है...वह पहाड़ी पर चढ़ते हुए उनको देख लेता है।...यह क्या धायँ की आवाज़! घाटी में बन्दूक की आवाज़ गूँज जाती है...फिर उसने देखा एक बटेर गिर पड़ी है...उसको लगता है उसके हृदय पर चोट लगी हो।...घाटी में वह धायँ देर तक गूँजती रही...फिर उसने देखा दूसरी बटेर घाटी में बहुत तेज़ी से चक्कर लगाती हुई टाऊँ टाऊँ करती शोर मचा रही है...उसके मन में टीस उठी और फैल गई।...

...वह पहाड़ी के ऊपर की ओर बढ़ रहा है...उसके साथ पीछे-पीछे कोई आ रहा है, उसे आहट मिलती है, पर वह उस ओर ध्यान नहीं दे रहा है। पहाड़ी का पूरा ऊपरी भाग तीन विशालकाय पाषाणों से बना हुआ है, उसे उन्हें देखकर आश्चर्य हो रहा है, कितने विशाल, कितने चिकने पाषाणखंड हैं। वह कुछ क्षण उन्हीं को देखता रहता है... पीछे से वह अनुसरण करनेवाला व्यक्ति पूछता है—'नरेश भइया, क्या ये केवल तीन, चार पूर्ण पाषाणखंड हैं। तुमने सुना है, इनको भीम

पहाड़ की एक चोटी से दूसरी चोटी पर फेंक दिया करते थे।' वह पीछे मुड़ कर देख लेता है, नीरा यहाँ कहाँ?...दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, संध्या अधिक उतरती आ रही है...ऊपर चढ़नेवाली सड़क एक ओर घूम जाती है और सूर्य पहाड़ी की ओट में आ जाता है...पहाड़ी की छाया में दोनों आगे बढ़ रहे हैं...अब ऊपर के मोड़ पर लोगों की आहट मिल रही है जैसे ऊपर चढ़नेवाली पार्टी पास ही हो, शायद वे लोग दूसरी ओर का मौक़ा देखकर वापस आ रहे हैं...

एकाएक दोनों पहाड़ी के शिखर पर पहुँच जाते हैं...सामने दूर तक मैदान दिखाई दे रहा है और कुछ दूर पर जंगल भी गोचर हो रहा है। सामने पहाड़ी के पार्श्व में सुन्दर घाटी भी है, उसका मन प्रकृति के सौन्दर्य से अभिभूत है। वह देश-काल एक क्षण के लिए भूल जाता है, चारों ओर के सौन्दर्य से वह विमुग्ध है, आत्मविस्मृत है...वह भूल गया उसके साथ नीरा है या कोई और है। एकाएक पास से चीख सुनाई पड़ती है और नीरा उससे चिपट गई है। वह इसके पहले कि कुछ समझ सके, देखता है...चोटी के बाईं ओर कुछ ही नीचे पहाड़ी के ऊपर की तीन शिलाओं में से बिल्कुल उत्तरवाली का चक्कर काटता हुआ मुख्य चढ़ाई के मार्ग पर एक बाघ है...उसकी चमकती त्वचा, उस पर पड़ी हुई सुन्दर धारियाँ, उसका बहुत बड़ा और भव्य चेहरा... सब एक साथ व्यक्त हो गया। उसको देखते ही उसका मन आतंक से स्तब्ध और स्थिर-सा हो गया...वह एक टक देखता रहा और नीरा उससे लिपटी भय से अभिभूत हो गई है। वह अपने हाथ से उसे सँभालना चाहता है, पर अज्ञात भय से दोनों एक दूसरे से चिपटते ही जाते हैं, अधिकाधिक समीप आते-जाते हैं, दोनों की दृष्टि उसी सुन्दर आकर्षक बाघ पर जमी हुई है, पर उनकी साँसें एकदम पास हैं। उसे उसकी साँस का अनुभव हो रहा है, उसे साँस की उष्णता का स्पर्श हो रहा है। दोनों के शरीर एक दूसरे से भयवश गहरे आलिंगन में बँधे हुए हैं... उसे अनुभव हो रहा है, वे काँप रहे हैं। बाघ उनके अत्यन्त निकट है,

वह उनसे केवल एक छलाँग की दूरी पर है...उसे लग रहा है बाघ उनको देख रहा है; और अज्ञात भय तथा आशंका से सारी आन्तरिक संवेदना जैसे जड़ होती जा रही है। उसे लग रहा है कि उसकी अनुभव करने की सारी शक्ति विजड़ित हो चुकी है...लेकिन नीरा उससे इतनी सटी हुई, इतनी लपटी हुई है कि उसके स्पाइनल को सुन्न करती हुई चेतना से उसके अस्तित्व का संवेदन फिर उसे कम्पित कर रहा है। एक ओर सारी चेतना विजड़ित होती जा रही है, दूसरी ओर सारी चेतना में एक उद्वेग व्याप रहा है। बाघ उनकी ओर देखता हुआ चुपचाप एक ओर दक्षिण पाषाण खण्ड की ओट में चला जाता है...। सब अदृश्य हो जाता है।

फिर वह सारी पार्टी के साथ पहाड़ी के नीचे आ चुका है, उसी उपत्यका के समीप...। बटेर के जोड़े में से एक अब भी सारी उपत्यका को अपनी टाँऊँ-टाऊँ से गुँजा रहा है...कितनी करुणा, कितनी वेदना उसके मन में उमड़ आती है। क्यों यह इस प्रकार चिल्ला रहा है? क्यों यह इस अन्धकार में भी उपत्यका पर मड़रा रहा है? उसे याद आ रहा है, इसी बटेर का जोड़ा गोली का शिकार हुआ था।...नीरा कहाँ है...नीरा को वह खोज रहा है, उसका मन नीरा की खोज में मड़रा रहा हो...सब अदृश्य हो चुका है। वह नीरा की खोज में भटक रहा है, उसके मन में न जाने कैसी वेदना व्याप रही है...लगता है उसी मड़राते बटेर के समान उसका अस्तित्व भी चक्कर काट रहा है...नीरा कहीं खो गई, वह खोज रहा है।...नहीं वह किसी को खोज रहा है, वह भूल जाता है कि किसे खोज रहा है। वह चला जा रहा है अकेले पहाड़ी शिखरों को पार करते हुए, घाटियों को पार करता, हरे-भरे जंगलों को पार करता हुआ।...जंगल में हरिन दौड़ते हुए निकल जाते हैं, बारहसिंघे आगे-आगे दौड़ रहे हैं, फिर ओझल हो जाते हैं। वह बिना किसी की परवाह किए आगे बढ़ रहा है...पहाड़ी पर जंगल सघन है, आगे बढ़ने में दिक्कत हो रही है, पर उसे आगे बढ़ना ही है, किसी

अज्ञात प्रेरणा से वह आगे बढ़ता रहता है।

बहुत ऊँचाइयाँ पार करता जा रहा है...वह एक शिखर के बाद दूसरे शिखर को पार कर रहा है...ऊँचाई बढ़ती जा रही है और उसके मन में अज्ञात आशंका घर कर रही है। लेकिन वह विवश है, वह अकेला है, एकदम एकान्त है...वह किसी को खोज रहा है। उसे कुछ दूर पर आहट मिलती है और वह उसको पा लेने के लिए उत्सुक हो उठता है... वह आहट का अनुसरण करता है, आहट हटती जा रही...किसी की पदचाप सुनाई पड़ रही है, वह पगध्वनि का अनुसरण कर रहा है, पगध्वनि उसको पहाड़ के दुर्धर्ष शिखर की ओर ले जा रही है और वह किसी बात की चिन्ता किए बिना आगे बढ़ता जा रहा है। उसे लग रहा है कि सुन्दरी के पीछे-पीछे वह इतनी दूर आगे चला आया है...यह सामने सुन्दरी ही है। शिखर पर वह खड़ी मुस्करा रही है, जैसे कह रही हो आखिर तुम आये न। सुन्दरी के श्याम वर्ण पर शिखर की प्रभा में वह कोमल गौरवर्ण कैसे झलक रहा है...वह मुस्करा रही है, उसकी मुस्कान में जैसे कोई शरारत हो। वह सामने खड़ी उसे बुला रही है और स्वयं वह आगे बढ़ रहा है। पर यह क्या, ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ रहा है, शिखर पीछे खिसक रहा है। उसके साथ सुन्दरी भी पीछे हटती जा रही है...वह भरसक तेज़ चल रहा है, वह सुन्दरी के पास पहुँच जाना चाहता है, वह बिल्कुल समीप पहुँच गया है।...यह क्या? यह तो नीरा है...वह कह उठता है—'नीरा जीजी, तुम कहाँ भटक गई हो, मैं तुमको न जाने कितनी दूर से ढूँढ़ता आ रहा हूँ।'

...नीरा शिखर के ऊपर चुप मौन खड़ी है, उसे किसी बात का भान नहीं है। उसका ध्यान उसकी ओर नहीं है, जैसे वह अन्यत्र कहीं देख रही हो...उसके मुख पर कोई भाव नहीं है। सारे भाव, सारी संवेदनाओं से वह तटस्थ हो चुकी है...भाव विनिर्मुक्त, अपने चारों ओर से असम्पृक्त नीरा शिखर पर खड़ी है, वह भूल गई है कि वह कौन है, कहाँ है? स्वयं वह उसे पुकार उठता है, वह उसकी ओर

दृष्टि डालती है...उसकी दृष्टि में अपरिचय का भाव है, जैसे वह कह रही हो—ये तुम कौन हो? वह उसके इस भाव से विह्वल हो जाता है। वह उसके समीप जाना चाहता है, पर अत्यन्त पास होकर भी वहाँ तक पहुँच नहीं पा रहा है और नीरा...वह नारी एकाएक चौंककर पर्वत के उस ओर के ढाल पर उतरने लगती है, वह उस ओर उतरने के लिए आगे बढ़ता है...पर यह क्या? जहाँ से वह युवती आगे उतर रही है, और इस शिखर जिस पर वह खड़ा है, दोनों के बीच के उस उतार में अनन्त गहरी घाटी फैली है जिसको पार करना असम्भव है। वह विवश और निरुपाय होकर देख रहा है...नारी उन बर्फ़ और तूफ़ान से भरी हुई घाटियों और दर्रों में उतरी जा रही है। और यह कौन है?...उसके आगे-आगे, नीचे पैर तक लम्बा चेस्टर पहने कोई गौरवर्ण का भव्य पुरुष जा रहा है...कौन है? अरे यह तो बड़े फूफा जी हैं।...नीरा गहन दुर्गम्य हिमाच्छादित घाटियों में उतरी चली जा रही है और वह विवश होकर देख रहा है...यह कैसा लोक है, यह कौन-सा प्रदेश है? वह उसमें प्रवेश नहीं कर सकता, उसे लौटना होगा...उसके मन में अनन्त वेदना, व्यथा उमड़ आती है...उसी में सारा दृश्य, सारी संवेदना डूब जाती है...

उसकी आँख खुल जाती है, ट्रेन दौड़ रही है...उसे झपकी आ गई थी। उसकी गर्दन में हल्का-हल्का दर्द होने लगा है। सामने की स्त्री कुछ सतर्क लग रही है, वैसी सतर्कता जो उतरने के स्टेशन के समीप आने के समय हो जाती है। उसकी दृष्टि एक बार सामान की ओर घूम जाती है, फिर वह बाहर देखने लगती है। शायद बाँदीकुई जंक्शन समीप है और साथ की महिला को वहीं चेंज लेना है। वे भरत-पुर से बड़ी लाइन का बम्बई मेल लेंगी। उसे, और उसे अभी इसी ट्रेन में कई घण्टे बिताने हैं। आज समय अधिक भारी निश्चय ही होता जा रहा है...ट्रेन कैंचियों को खटर-खटर पार कर रही है, तो क्या बाँदीकुई

आ गया ? आस-पास कहीं किसी बड़े स्टेशन के चिह्न दिखाई नहीं दे रहे हैं। ट्रेन खट-खट, गड़-गड़ करती एक छोटे स्टेशन को पार कर आगे बढ़ जाती है। कुछ ही देर में फिर छोटी-छोटी पहाड़ियों के उजाड़ प्रदेश से गुज़रती हुई गाड़ी दौड़ रही है। उसने अपनी प्रश्न चिह्न जैसी दृष्टि युवती की ओर डाली। उसने समझ लिया, उसके भाव को पकड़ते हुए उसने कह दिया—"बाँदीकुई, नेकस्ट स्टापेज़।" फिर वह निश्चित होकर ट्रेन के बाहर देखने लगता है...पहाड़ी टीलों के बीच से बंजर धरती पर ट्रेन दौड़ रही है, यहाँ रेत के स्थान पर धरती पथरीली अधिक है। वह भागते हुए इन टीलों को देख रहा है...एक पहाड़ी टीला आता है और ऊपर उठता-उठता बड़ा हो जाता है, फिर धीरे-धीरे उतरता हुआ छोटा होकर ग़ायब हो जाता है...पृथ्वी पर चारों ओर पत्थर के छोटे-बड़े खण्ड बिखरे हुए हैं...

...जीवन का यह रास्ता कितना विविध है...मैदान, उसका विस्तार उसका प्रसार, उसकी हरियाली, उस पर प्रवाहित सुस्थिर नदियाँ, यह सब भी कितना एकरस, कितना स्वादहीन हो जाता है। आदमी के लिए मैदान के समान सीधे रास्ते पर भी सदा चलते रहना आसान नहीं है... उसका समरस विस्तार उसे उबानेवाला लगने लगता है, उसके बिना मोड़ लिए मीलों चलते रहनेवाले रास्ते कितने उबानेवाले हो जाते हैं... उसकी एक-सी प्रसरित हरियाली कितनी मन को खलने लगती है।... आदमी इस मैदान में एक टीले के लिए, एक मोड़ के लिए, एक उतार-चढ़ाव के लिए लालायित रहता है। उसके लिए एक नदी का कगार आश्रय-स्थल हो जाता है, उसकी कल्पना के लिए खुला आकाश, उसके चमकनेवाले चाँद-तारे, उसकी चाँदनी, प्रातः संध्या के रंग ही सहारे रह जाते हैं।...लेकिन ये कब तक सहारा दे सकेंगे ? आख़िर यात्री, आदमी थक जाता है, उसके लिए उसकी यात्रा भार हो जाती है...

...फिर मैदान का हारा यात्री रेगिस्तान में प्रवेश करता है, उसको

लगता है उसे उस मन को थकानेवाली हरियाली से मुक्ति मिली है। वह देखता है एक समतल चमकता हुआ विस्तार उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, उसका मन उल्लसित हो जाता है। वह उसके लिए, उस प्रसार को आलिंगित करने के लिए विकल हो जाता है...। वह उस रेत के अनन्त विस्तार में आगे बढ़ता जा रहा है। आगे रेत के टीले हैं, ऊँचे-ऊँचे पहाड़ से टीले फैलते-फैलते सामने आ जाते हैं, उसका मन उल्लसित हो जाता है। फिर वह ऐसे अनेक टीले पार कर चुका है, उसने रेत के लम्बे विस्तार को पार किया है...उसकी समतल एकरस भावना मन पर उभर कर मन को बोझिल करने लगी है।...पहले जो पेड़ों की झुकती हुई घिरती हुई हरियाली मन को संत्रस्त करती थी, वही है कि उसके लिए मन तरस रहा है...कहीं एकाध बबूल, छिउल के पेड़ मन को उल्लसित करने की चेष्टा करते हैं, पर अब वे भी तो दिखाई नहीं देते। केवल रेत, उसका अनन्त प्रसार, विस्तार, मन को आक्रांत करनेवाला...वह थका-हारा आगे बढ़ रहा है, न कहीं कोई उमंग, न कहीं कोई उल्लास। बस आदमी का चलना भाग्य है और वह यात्री चल रहा है।...बस केवल कभी रात के निर्मल आकाश के तारे और कभी दिन की आँधियाँ; इन्हीं के बीच उसकी यात्रा आगे बढ़ रही है।

...आदमी की ज़िन्दगी के रास्ते बदलते हैं, यही उसके लिए सबसे बड़ा आश्वासन है...वह पहाड़ और घाटियों के बीच आ गया है।... उसके सामने पर्वत के शिखर हैं, उसकी हरी-भरी गहन भयानक घाटियाँ हैं। उसका मन फिर एक बार आन्तरिक उल्लास से भर जाता है... सामने पहाड़ी रास्ते को देखकर मन में कल्पना जागती है, उसके मन में उत्साह और उल्लास की तरंगें आलोड़ित होने लगती हैं।...वह पहाड़ पर चढ़ रहा है, उसकी उपत्यकाएँ, उसकी घाटियाँ, उसके झरने, उसके शिखर न जाने कितने आकर्षणों में उसके चारों ओर फैले रहते हैं, और वह उनमें न जाने कब तक घिरा और उलझा रहता है। हरियाली चीड़, बलूत, देवदार, बाझ के ऊपर लहराती रहती है, ऊँचाई शिखरों पर

चढ़ती-उतरती रहती है, गहराइयाँ न जाने कितनी घाटियों, उपत्यकाओं, श्रृङ्गों में विमुग्ध करती हैं, और रंग, न जाने कितने रंग उस पर्वत के शिखरों पर पड़नेवाले प्रकाश से बनते मिटते रहते हैं...ध्वनियाँ और स्तब्धता समान रूप से अभिभूत करती है।...पर आदमी अपने एकरस रास्ते से ऊबता है, थकता ही है...उतरते-चढ़ते, पहाड़ों की दुर्गम घाटियों को पार करते-करते, बार-बार की गर्मी-सर्दी से यात्री शिथिल हो चुका है, श्रान्त हो गया है। अब उसके लिए कहीं कोई आकर्षण शेष नहीं रह गया। अब न उसे शिखर अपनी ओर बुलाते हैं और न उपत्य-काएँ उसको निमंत्रण देती जान पड़ती है। सब का सब जैसे बदल गया हो...अब भी वह आगे बढ़ता जा रहा है, क्योंकि आदमी का भाग्य है चलते रहना। वह उससे अलग हो कैसे सकता है, जीवन भर जो चलना है।...पर इसी तरह एक दिन वह हारा थका यात्री अपनी यात्रा के उस शिखर पर पहुँच जाता है, जहाँ से वह अपने सारे जीवन की ओर एक दृष्टि डाल सकता है...जैसे वह एक क्षण रुक कर अपनी यात्रा के सारे प्रयास को देख लेना चाहता है और फिर वह यात्री चुपचाप, मौन ही, शांत भाव से, शायद एक दीर्घ निश्वास लेकर उस अज्ञात घाटी में उतर जाता है जिसके विषय में उसका कोई ज्ञान नहीं, जिसको किसी ने आज तक जाना नहीं। और आगे सब समाप्त, सब अन्धकार के परदे में अदृश्य हो जाता है...यात्री उस घाटी में, अज्ञात की घाटी में उतर गया, कोई नहीं जानता वह किधर कहाँ गया...आदमी के जीवन का यह ऐसा ही रहस्य है...

युवक ने देखा अब पथरीला हिस्सा पार हो गया...छोटा-सा हरा-भरा भाग आ जाता है। हल्की हरियालीवाले खेत दिखाई दे जाते हैं जिन पर पीलापन उभर रहा है। पियराते हुए खेत और उनका इस प्रदेश में फैला हुआ यह विस्तार...लगता है तैरता हुआ आदमी बहुत शिथिल होकर, हार थक कर जब हाथ पैर छोड़ने ही वाला था, उसे एकाएक

कोई पैर रखने को धरातल मिल गया हो। परन्तु यह छोटा-सा खण्ड कुछ देर में पीछे खिसकता हुआ ट्रेन को पार कर चुका था और फिर वही ऊसर-रेत के मिले-जुले प्रदेश से होकर ट्रेन गुज़रने लगती है। यात्री देखता है उसके साथ की स्त्री ट्रेन के पीछे देख रही है, उसके मुख पर हल्की उद्विग्नता की छाया है, पर किस लिए। वह इस प्रकार व्यथित क्यों लगती है? पीछे छूटते हुए प्रदेश से उसका ममत्व है, या ट्रेन बदलने की परेशानी है...सम्भव है उसे अपना परिवार...

...व्यक्ति अपने परिवार से घिरता है, उसके अस्तित्व का यह शायद अंश हो जाता है, या ऐसा कि वह परिवार के अस्तित्व का ही एक अंश बन जाता है। फूफा जैसा निर्लिप्त व्यक्ति परिवार की माया से घिरता है। बड़े फूफा, उसने सदा समझा कि वे सबके बीच में भी माया ममता से अलग रह पाते हैं...वे सामने मुस्करा रहे हैं जैसे उनके मन को चिन्ताएँ छू भर रही हों, ये उनको अभिभूत नहीं कर पाती हैं...वे गीता के श्लोक के रूप में उपस्थित हैं; श्लोक उनके जीवन को अनासक्त कर्म के समान निःसंग असम्पृक्त रूप प्रदान कर रहा है...वे सदा आपत्ति, विपत्ति को इसी मुस्कान पर झेलते रहे हैं।

पर...पर वे थ्रामबोसिस के अटैक से एक दम सिथिल हैं, डा० तारानाथ अपने स्नेह के कारण यह मानना नहीं चाहते, हार्टले ने स्वयं उससे कहा है स्पष्ट शब्दों में।...वह क्या करे? वह परेशान है, छोटे फूफा आज कल दौरे पर हैं, वे एक दो दिन से अधिक रह नहीं पा रहे हैं और वह आ गया है, उसके ऊपर फूफा का विश्वास है।...वे उससे कहते हैं—नरेश भी, देखो मेरा अपने परिवार पर कभी विश्वास नहीं रहा है, मैं उनको समझता रहा हूँ। यह जानते हुए ही उनकी सहायता जब जितनी हो सकी है मैंने की है। दिलीप पर मैं विश्वास कर सकता हूँ, पर वह स्वयं व्यस्त रहते हैं।...देखो भाई, हमको सच से आँख नहीं बन्द करनी चाहिए। मैं समझ रहा हूँ, मेरा वक़्त

आ गया है, अब चला चली है। तुम्हारी बुआ इस बात को भरसक अपने आप से छिपाना चाहती है, मैं देख रहा हूँ।...ऐसा नहीं कि वे समझ न रही हों, पर वे समझने से इनकार कर रही हैं, ऐसा ही होता है।... मुझे इस बात की तकलीफ़ है नरेश, कि मेरा यह सारा परिवार अभी कोई शेष पा नहीं सका है...तुम समझते हो कि फूफा को कोई चिन्ता, कोई मोह व्यापता नहीं है, पर यह नहीं है...इन सब से मुक्त हो पाना आसान नहीं है, केवल यह तो झेल पाना ही कहा जायगा इससे अधिक मैं समझ नहीं पाया हूँ। शायद मुझ में इससे अधिक संस्कार ही नहीं रहे।...मैं, मुझे सदा यह लगता है कि तुम पर विश्वास किया जा सकता है, तुममें वह स्नेह है, वह है जिससे आदमी पर भरोसा किया जा सकता है...।' फूफा जी बहुत रुक-रुक कर, धीरे-धीरे कहते जा रहे हैं, और वह सुन रहा है। सुनने से अधिक कुछ ऐसा है जिसे वह ग्रहण कर रहा है। उसे लग रहा है फूफा के समस्त झेलने के नीचे, उस कठोरता के नीचे जिस पर वे सब कुछ झेलते रहे हैं, बहुत कोमल अंश है जो इस प्रकार कभी-कभी ही उभर आता है...आज इस अन्तिम क्षण पर बहुत उभर आया है, बहुत स्पष्ट हो गया है।... उनके मन का यह भाव अधिकाधिक उभरता है, उनकी कोमलता जैसे उनकी ऊपर की कठोरता को पराजित करके ऊपर आ रही है। पर यह ऐसा नहीं कि इस कोमलता में कहीं कोई कम्पन हो, कहीं कोई अस्थिरता हो...उनके मन की व्यथा, उनके मन का कष्ट सब उनको पराजित नहीं कर सके, वे केवल उनको आर्द्र कर रहे हैं...

सामने बुआ खड़ी हैं! फूफा के सामने वे संयत हैं, उन्होंने अपने को कठोर पत्थर का बना लिया हो जैसे...पर फूफा इस अन्तिम क्षण में शायद कोमल संवेदन का आश्रय चाहते हैं, उनमें एक बेचैनी परिलक्षित हो रही है। उनकी आँखों से कष्ट के नहीं, वरन् व्यथा के आँसू उमड़ रहे हैं; कष्ट को सहना उन्होंने सीखा है, कष्ट उनको अन्त तक पराजित नहीं कर सके...पर वे कठोरता के साथ सुखपूर्वक शायद नहीं जा

सकते थे।...वे समझ रहे हैं उनके चारों ओर जो संयम का वातावरण है, वह केवल कृत्रिम है, उसमें सत्य नहीं है। शायद जीवन में पहली बार उन्हें जान पड़ रहा है कि कठोरता का संयम जीवन की वेदनाओं को सहज नहीं बना सकता, वह युद्ध है, संघर्ष है...अनासक्ति नहीं।... जीवन के अन्तिम प्रहर में उन्हें लगा था कि गीता की अनासक्ति का अर्थ मन का कठोर दमन मात्र नहीं...जीवन को अस्वीकार करना, गीता के निष्काम कर्म की शिक्षा नहीं है। वे एकान्त क्षणों में उससे अपने को व्यक्त कर चुके हैं... और अन्तिम समय वे अपने को मुक्त कर सके... उन्होंने अपनी कठोरता का बाँध खोल दिया, उन्होंने अपनी सहज कोमल स्नेहशीलता को आँसू के प्रवाह में स्वीकार कर लिया।

फूफा के आँसू? सब का बाँध खुल गया, सबके भाव मुक्त हो गये। वे शायद सबको मुक्त करना ही चाहते हैं...उन्होंने अपने को प्रकट कर दिया इसलिए कि सब अपने को उनके सामने खोल सकें, और वे नहीं चाहते कि घुटन के वातारण में यहाँ से प्रस्थान करें...महाप्रस्थान के पथ पर वे संशय, संकोच, संयम की कठोरता के साथ आगे बढ़ना नहीं चाहते...वे मुक्त होना चाहते है और सबको मुक्त करना चाहते हैं। उनके आँसुओं ने सबको मुक्त कर दिया, और वे स्वयं भी मुक्त हो सके। वह देख रहा है, उसके मन में शोक, व्यथा के आवेग में भी आश्चर्य मिला हुआ है...फूफा के आँसू उमड़ आये हैं, वे जिनके सामने दूसरे रोना-धोना अक्षम्य मानते हैं, वे ही स्वयं रो रहे हैं, और वह भी इसलिए नहीं कि वे अपनी शारीरिक व्यथा को सहन नहीं कर पा रहे हैं! इस क्षण भी तो वे कह रहे हैं—'ऐसा कुछ भी कष्ट नहीं है, हाँ यहाँ कुछ दर्द ज़रूर है'—उन्होंने अपने वक्ष की ओर इशारा कर दिया। पर वे रो रहे हैं, वे जानते हैं, वे इनएविटेबिल को समझते हैं, उसका अब अधिक गोपन वे नहीं चाहते; क्योंकि वे समझ रहे हैं कि इससे और सब भी परिचित हैं। फिर इस सघन वातावरण में उन्होंने अपने को अधिक छिपाया नहीं...फूफा जी के

साथ सब रो रहे हैं, उसमें सबका अनुताप, सबकी व्यथा प्रवाहित हो उठी।

उसने सुना—बाँदीकुई—उसका ध्यान बँटा, साथ की स्त्री ने कहा है। ट्रेन कैंचियों को पार कर रही है, चारों ओर पटरियों का जाल निकल-निकल कर फैल रहा है...सामने रेलवे कैबिन निकल जाती है और ट्रेन आगे बढ़ती हुई प्लेटफ़ार्म की ओर खटखट खटरखट करती जा रही है। महिला ने अपने सामान की ओर एक दृष्टि फिर डाली और व्यस्त लगने लगी जैसे मन ही मन उतरने की तैयारी कर रही हो। उसने अपने बिखरे हुए मन को बटोरना चाहा, बाँदीकुई पर ध्यान केन्द्रित करना चाहा। अभी उसे यहाँ से कितना और जाना है, उसने वाच की ओर दृष्टि डाली, केवल साढ़े तीन बजे हैं, अभी सवा दो घण्टे से अधिक का रास्ता है। जैपुर वह कितनी बार इसी रास्ते से, इसी ट्रेन से गया है...पर उसे याद आ रहा है कि समय उसे कभी इतना भारी नहीं लगा और उदास वह कभी नहीं हुआ...

पिछले वर्ष नीरा की तबियत खराब हो गई थी, और तब भी बाँदी-कुई होकर वह आगरे से गया था...नीरा के जीवन के सम्बन्ध में अनिश्चय की स्थिति इधर वर्षों से रही है, पिछली बार तो बड़ी बुआ का तार था।...पर इस बार उसके मन को यह इतनी उदासी क्यों घिर रही है...उसका मन क्यों बेहद थका हुआ है...अभी कुछ दिन हुए उसकी शादी हुई है। सामने प्लेटफार्म सरकता हुआ आ जाता है, एक्सप्रेस रुक गया है...फिर उतरने-चढ़नेवालों की भीड़ में उसका मन उलझ रहा है। वह देखता रहा, उसके साथ की महिला ने कुली को आवाज़ दी और अपना सामान उठवा कर उतर रही है। वह निरपेक्ष भाव से देखता रहा, उसने उतरते-उतरते हाथ जोड़ दिए और मृदु भाव से मुस्करा दी, उसने भी उत्तर में अपने हाथ जोड़ लिए...पर अप्रत्य-शित भाव से। फिर उसे लगा उसका व्यवहार शालीन नहीं है, उसने पूछ लिया—"आपकी ट्रेन तो खड़ी ही है...भरतपुर में कब चेंज"

मिलेगा।" वह जैसे कृतज्ञ हो गई हो, इस भाव से, फिर उसे देखकर मुस्कराती हुई उसने उत्तर दे दिया और कुली के पीछे आगे बढ़ गई।... वह देख रहा है, लोग उतर चढ़ रहे हैं, खोंचेवाले आवाज़ लगा रहे हैं... धीरे-धीरे भीड़ कम हो गई है, और खोंचेवालों की आवाज़ें उभर आई हैं।

वह अपने कम्पार्टमेन्ट के द्वार पर खोया-खोया सा खड़ा है...वह जैसे इस सारे शोर-गुल से उठता जा रहा है, इस सारे वातावरण से वह एकरस होकर ऊपर उठ गया हो, और फिर उससे अलग होकर उड़ता जा रहा है, आकाश में न जाने कितनी ऊँचाई पर चढ़ता जा रहा है... न कहीं ट्रेन है, न कहीं कोई स्टेशन है, उसका सारा शोर उसके लिए मिट चुका है, विलीन हो गया है...वह अपने प्रस्तुत देश-काल को भूल चुका है।...वह महिला जा रही है, अपने पति के पास से, उसे दक्षिण जाना है...उसको अपने पिता के पास पहुँचना है, पर वह अपने पति के साथ क्यों नहीं गई, शायद उन्हें अभी छुट्टी न मिल सकी हो, या उनका जाना बाद में अधिक उचित हो।...लेकिन उसे लगता है, उसके इस प्रकार जाने के पीछे कुछ रहस्य है, कोई साथ नहीं, कोई नौकर भी नहीं है। किसी बड़े आफ़िसर की पत्नी ही लगती है...हो सकता है, होने को क्या नहीं हो सकता है, संसार ऐसा ही है।...सामने एक मारवाड़ी दम्पति आ रहे हैं, पुरुष की पगड़ी कुछ ढीली हो गई है, वह कुछ घबराए हुए जान पड़ रहे हैं, पर उनके साथ की महिला लापरवाह है, अपने पति की उसको जैसे चिन्ता न हो।...वह देखता है कि साथ की स्त्री धीरे-धीरे चल रही है, पति झुँझलाता है, इस पर स्त्री क्रोध में कुछ कह कर चुपचाप खड़ी हो जाती है...एक खोंचेवाले से टकराने से बचती है...खोंचेवाला क्रुद्ध दृष्टि से देखता है, और मारवाड़ी क्षमा माँगता है...जैसे युवक को इस प्रसंग से कुछ आनन्द मिला हो।...पर वह देखता देखता खो जाता है, वह फिर प्लेटफ़ार्म पर नहीं है...

...नीरा के पास आज उसे पहुँचना है, उसे लग रहा है आज न

जाने क्यों इतनी देर लग रही है, आज जैपुर क्यों इतनी दूर हो गया है।...वह अनेक बार इधर से गुज़रा है...उसके मन में ऐसी न जाने कितनी सुधियाँ घुमड़ रही हैं...नीरा के जीवन के लगभग बारह वर्ष इसी प्रकार बीमारी में बीते हैं, और वह इस बीच आता-जाता रहा है।...पर उन दिनों की सुध भी है, जब वह पहली बार जैपुर जाकर गर्मियों की छुट्टी बिता कर लौटा था।...छुट्टियों में नीरा के पत्र आते रहे हैं, उसे उन पत्रों में तर्क-वितर्क पढ़ने को मिला है...देशी स्वदेशी, स्वतंत्रता परतंत्रता, हिंसा अहिंसा न जाने कितने प्रश्नों पर उसने विचार आमंत्रित किये हैं...जैसे उसके मन का उल्लास, उसके मन की तरंग असीम हो कर फैल जाना चाहती हो। वह पत्र क्या लिखती अपने मन का उल्लास व्यक्त करती है।...वह उससे जब बात करती है, तब भी ऐसे ही बोलती है, मानों किसी भावावेश में बह रही हो, वह किसी उल्लास से प्रेरित हो...और उसके पत्रों में भी वही भावावेश रहता है।...लेकिन वह केवल समस्याओं में उलझती है, वह विचार में इतनी आवेगशील होकर लिख सकती है...पर भावुकता पसन्द नहीं करती, वह इस प्रकार की बचकानी बातों को कभी महत्व नहीं देती। ऐसा कोई भी संदर्भ नहीं मिल सकता जिसे किसी भावुकता से प्रेरित माना जाय...उसे इस प्रकार की छिछली बातों से चिढ़ है, ऐसा उसने कभी अपनी बातों में व्यक्त भी किया है।

पर...पर उन पत्रों में उसे ऐसा लगता जैसे कुछ है, उसे कुछ ऐसा मिलता है जिसके लिए वह लालायित है, उत्सुक होकर प्रतीक्षा करता है?...वह लौट रहा है, वह वापस जैपुर जा रहा है, छुट्टियाँ उसने ख़ूब इंज्वाय की हैं। पिछले ख़त में नीरा ने लिखा है—'नरेश भइया, तुमने सचमुच छुट्टियाँ इंज्वाय की। इतना घूमना-फिरना, इतनों से मिलना-जुलना, इतने स्थानों को देखना, यह सब सोच कर ही मैं ईर्ष्या से जल जाती हूँ...और मैं हूँ कि इस वर्ष बस इस मनहूस नगर में कैद रही। मसूरी जाने का सुयोग था भी, चच्चा के साथ आरती और श्याम गये

भी...पर माँ ने कहा कि तुम्हारा पेट ठीक नहीं रहता, तुमको पहाड़ी पानी सूट नहीं करेगा और तुम जानते हो पापा को स्वयं भी पहाड़ का पानी कभी सूट नहीं कर सका। यह मेरा पेट का दर्द भी अच्छी आफ़त होगा, मैं नहीं समझती थी! पर भइया यह ऐसा ही नहीं है कि मैं पहाड़ के लिए इतना महसूस कर रही हूँ, यहाँ का यह अकेलापन जो झेलना पड़ा। और न जाने क्यों इस बार यह ऐसा अनुभव अधिक हो रहा है, वैसे मैं पापा के साथ बिल्कुल अकेले एक दो महीने रही हूँ।...इस बार ऐसा लगता रहा कि तुम होते तो अच्छी छुट्टियाँ कट जातीं, कितना अच्छा रहता कि हम लोग खूब डट कर चाँदनी रात में घूमते तमाम बातें करते हुए घण्टों बिता देते और फिर अम्मा हम लोगों से देर कर देने के लिए खीझतीं, खाने में देर कर देने के लिए लड़तीं।...आज कल यहाँ कोई नहीं है, चच्चा और चाची, सब लोग इस बार मसूरी की सैर कर रहे हैं, पापा को अपनी गीता, भर्तृहरि से छुट्टी मिली भी तो वे अकेले रामनिवास घूमने निकल जाते हैं, पापा के साथ बाग घूमना आसान नहीं है, तुम जानते हो उनकी चाल क्या रहती है?...इस बार मुझे अकेले रहने में ऊब लगने का एहसास हुआ, वैसे मैंने अपने ढंग से इस छुट्टी को इंज्वाय किया है...तुम्हारे पत्रों में और मेरे उत्तरों में इस बार की छुट्टियों का इतिहास छिपा है।...क्या तुमको अपनी यात्राओं, और अपनी भाभियों के बीच में कभी उदास होने का मौक़ा मिल सकता था। अच्छा है, मैं प्रसन्न हूँ कि तुम अब लौट रहे हो और हम फिर एक साथ पढ़ाई लिखाई कर सकेंगे। मैं तो तुमसे ही पढ़ाई का अर्थ समझ सकी हूँ...लगता है, इसके पहले तो मैं दूसरी लड़कियों की तरह पढ़ना एक फ़ैशन समझती रही हूँ, तेज़ तो कम्पटीशन की भावना से रही हूँ।...पर तुम से मैंने पढ़ने का रस ग्रहण किया है...तुम्हारी, नीरा।

...इसी प्रकार की न जाने कैसी-कैसी बातें उसने उसे लिखी हैं, लिखती रही है।...उसकी भाभियों ने, विशेषकर उसकी अपनी भाभी ने

उसके पत्रों को लेकर कुछ चर्चा, कुछ मज़ाक भी करना चाहा, पर भाभी उससे इतनी बड़ी हैं कि वे मुक्त नहीं हो पातीं।...लेकिन आज उसको लगता है, उन सहज साधारण पत्रों में उसको घेरने के लिए न जाने कैसा आकर्षण रहता था।...उसे इन पत्रों में कहीं कोई आमंत्रण मिलता जिसका उत्तर वह अपने पत्रों से देता, अपने पत्रों में वह क्या लिखता है... यात्रा के विस्तृत वर्णन, प्रकृति का सौन्दर्य, पहाड़, झील, अपने मन का अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न भावावेश, मन की उदासी, मन की करुणा, जब जैसा मूड होता।...आज वह नीरा के पास जा रहा है...उस दिन भी जा रहा था, न जाने कैसे भावावेश में, न जाने कैसे उल्लास में, न जाने कैसे आवेग में वह बहता चला जा रहा है...उसे लग रहा है वह अपने घर वापस लौट रहा हो। उसे अपनी बुआ से अत्यधिक ममता है, माँ के बाद एक प्रकार से उन्होंने ही उसे पाला है। पर बुआ के पास जाते समय वह प्रसन्न हुआ है, उल्लसित हुआ है, पर ऐसे मन के उल्लास का उसने कभी अनुभव नहीं किया...आज युगों के बाद वह अधिक समझ पा रहा है!

आज भी वह नीरा के पास ही जा रहा है...उसका विवाह हो चुका है, वह अपनी पत्नी को छोड़ कर नीरा जीजी को देखने जा रहा है, क्योंकि उनका पत्र आया है...वे अब...उनके सारे तन्तु बिखर गये हैं, और अब उनमें वह कुछ शेष नहीं रहा जिसके बल आदमी जीता है। और आज नीरा से मिलने की सम्भावना उसके मन में उदासी और वेदना भर रही है...न कहीं वह उल्लास है, और न कहीं आवेश...केवल एक सूनापन उसे घेर रहा है, जो उसके सारे अस्तित्व को स्तब्ध, विजड़ित कर रहा है...सारी चेतना पर कोहासा सा छा रहा है।

एकाएक उसकी दृष्टि के सामने सारा प्लेटफ़ार्म व्यक्त हो उठा, कोई एक व्यक्ति उसके सामने खड़े हैं, शायद ऊपर चढ़ने के लिए, उनके पीछे कुली सामान लिए खड़ा है। वे ऊपर आना चाहते हैं, उसको इस

प्रकार द्वार पर खड़ा देखकर वे सज्जन झुँझलाए हुए खड़े हैं, और ट्रेन सीटी दे रही है, गार्ड झण्डी दिखा रहा है, ट्रेन छूटने ही वाली है, और वे महाशय क्रोध और घबराहट में आगे बढ़ चुके हैं...तब उसे ध्यान आता है, उसने इनको चढ़ने नहीं दिया है—"आइए-आइए, जगह है", वह अपनी गलती के सुधार के लिए चिल्ला उठता है, पर वह सज्जन उसकी ओर आक्रोश से मुड़ कर देख ज़रूर लेते हैं—'यू रेस्केल' जैसे वे कह रहे हों, और अगले कम्पार्टमेंट में चढ़ गये !...ट्रेन धीरे-धीरे आगे बढ़ी, प्लेटफ़ार्म पीछे खिसकने लगा, झक-झक करता इंजन, ट्रेन का नया इंजन बेमन से जैसे आगे बढ़ रहा हो ।...ट्रेन रेलवे यार्ड की कैंचियों पर गति भर रही है, खटखट करती हुई उसने वेस्ट केबिन को पार कर लिया और अब फिर अपनी यात्रा पर चल पड़ी है ।...युवक देर तक उसी प्रकार कम्पार्टमेंट के द्वार पर हैन्डिल थामे खड़ा रहा, उसके मन पर उस बंगाली की आक्रोशपूर्ण दृष्टि उभरी रही, उसे लग रहा है कि उसने समझा है, वह जानबूझ कर उसे अन्दर आने नहीं देना चाहता...उसे दुःख है, वह स्वयं चाहता है कि कोई इस कम्पार्टमेंट में होता जिसके माध्यम से वह अपने आप से कुछ ही क्षणों के लिए मुक्त हो सकता...

वह चाहता है कि वह अपने आपको छोड़ सकता, क्योंकि लम्बे समय से वह अपने आप में ही केन्द्रित होता रहा है । इस घिराव ने उसे शिथिल और थका दिया है, लेकिन वह कम्पार्टमेंट में अकेला है । ट्रेन की गति और सूनापन, इसके अतिरिक्त उसको वर्तमान के प्रति सचेष्ट करनेवाली कोई वस्तु नहीं है ।...गति तथा चेतना, ये अतीत में उलझाने का प्रयत्न ही करते हैं, उनसे वर्तमान में रह पाने की किंचित् भी सहायता नहीं मिल रही है । वह खड़ा है । सामने, उसके मन के समान ही सूनसान भूमि फैली है, जिसके बंजरपन में रेत उभर रही है...इधर-उधर कहीं कोई हरा पीला खेत झलक जाता है...और इसी प्रकार इधर-उधर बिखरे-बिखरे से पहाड़ी खण्ड भी दिखाई दे जाते हैं... सीमान्त पर दूर कहीं एक पहाड़ियों की शृङ्खला भी झलक रही है, पर

ऊँचाई का अन्दाज़ लगा पाना सरल नहीं है। उसकी दृष्टि उसी दूरवर्ती पहाड़ी श्रृङ्खला पर घूम रही है...

आज न जाने क्यों उसका मन, उसकी चेतना, उसका सारा अस्तित्व किसी दूर के अतीत में अपने आप को विस्मृत कर देना चाहता है, वर्तमान से वह भागना चाहता है...वह अपने अतीत के सुदूरवर्ती सारे सूत्रों को पकड़ना चाहता है ! ऐसा नहीं, वे सूत्र उसके हाथ में, उसकी पकड़ में अनायास ही आ रहे हैं,...पर आ कर भी क्या आ पाते हैं, क्या वह इनके सहारे कुछ स्पष्ट साफ़ समझ या ग्रहण कर पा रहा है।... सूत्र पास आते आते, उसकी पकड़ में आते-आते न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं, न जाने कैसे छुट जाते हैं। क्षितिज रेखा पर इस प्रदेश में पहाड़ी श्रेणियाँ ही हल्का धुँधला सीमान्त बनाती है...मैदान का घिरता हुआ, चारों ओर से फैलकर सिमटता हुआ वृक्षों का क्षितिज यहाँ कहाँ ?...ये पहाड़ियाँ, के श्रृङ्खलाएँ...धुँधली स्पष्ट फैली होकर भी किसी अतीत के क्षणों को उभार रही हैं, इनका रहस्य मन में, उसके पीछे की ओर बहनेवाले प्रवाह की ओर प्रवृत्ति जगा रहा है।...उसी श्रेणी की सीमान्त रेखा के ऊपर होती हुई चेतना न जाने अतीत और वर्तमान को एकतान मिलाती हुई कैसे फैल गई है...

डाक्टर...विपिन चन्द्र...नीरा ने ठीक ही प्रशंसा की है, वे मृदुल और शालीन स्वभाव के हैं...उसको अपने बंगले पर आया जान थके होने पर भी मिलने निकल आये...डाक्टर रिफ्यूज़ भी कर सकता है, वह अभी ड्यूटी से लौटा है। वह आग्रह करता है कि फिर मिलने आ जायेगा, पर डाक्टर मानता नहीं...वह ड्राइंगरूम में मिलता है। वह घरेलू ढंग से मिलता है, लगता ऐसा ही है कि उसका यह सामान्य स्वभाव है। डाक्टर मृदु भाव से हँसता रहा और उसने उसकी खोज आदि के विषय में पूछा, उसने पहले शिष्टाचारवश उत्तर दे दिया। पर ऐसी बात नहीं है, वह एनशेन्ट हिस्ट्री के विषय में जानकारी रखता

है, वह जानता है कि अमुक खुदाई के विशेष प्राप्त क्या हैं।...वह फिर हँसते—मुस्कराते गम्भीर हो गया...उसने नीरा जी का प्रसंग उठाया, इस विषय में उसका उल्लास मानों किसी सतर्कता में रहना चाहता है। डाक्टर ने कहा कि यह निश्चित नहीं है कि नीरा पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकेगी, उसके अवडामन्ल में टी० बी० हो गई है, पर यह विचित्र बात है उसका यह रोग सारी दवाओं से पूरी तरह ठीक नहीं हो पाया, ऐसा भी नहीं कि रोग के निदान और उसकी चिकित्सा में कहीं कोई गड़बड़ी हो।...नहीं, नहीं यह सदा नहीं रहता है, हम डाक्टर प्रत्यक्ष रूप में न माने यह बात दूसरी है, यह हमारे प्रोफ़ेशन की माँग है। पर ऐसा अनेक बार रहता है, हम रोग के विषय में अन्धकार में रहते हैं, और हमारा इलाज ग्रोपिंग इंन दि डार्क रहता है; ऐसा नहीं है कि इसमें कुछ अनुचित है...मुस्कराते हुए कह रहा है...हम डाक्टर सर्वज्ञ तो नहीं हो सकते और यह ह्यूमन कांस्टीट्यूशन इतना विचित्र और कॉम्पलीकेटेड है कि इसके संबंध में कुछ एकाएक कह पाना सरल नहीं है...सामान्य लक्षण और निदान अनेक बार बहुत सहायक नहीं हो पाते...हमारे प्रोफ़ेसर कहते हैं—मनुष्य का इलाज कठिन है, उसकी सेवा ही हम कर सकते हैं।...कौन निश्चित रूप से कह सकता है, कौन डाक्टर अपने निदान को अन्तिम मान सकता है, अनुमान, अनुमान यही उसका एकमात्र सहारा है।...हम केवल सेवा करते हैं, यही हमारा मार्ग है, इससे अधिक का दावा डाक्टर नहीं कर सकते।...पर प्रोफ़ेसर नीरा के केस में, उसकी बीमारी के सम्बन्ध में प्रारम्भ से काफ़ी निश्चित रहे हैं, इसको उन्होंने सामान्य केस के रूप में ही लिया था; और यही नहीं नीरा जी को हमारे इलाज ने लाभ पहुँचाया है, मैं रोगी की दृष्टि से नहीं कह रहा हूँ, शुद्ध मेडिकल दृष्टि से भी। पर नरेश जी, इधर हम चकित हैं कि इस लाभ के साथ उनके स्पाइनल में परेलेसिस जैसा कुछ प्रभाव हो रहा है। इस टेन्डेन्सी से हम चिन्तित और परेशान हैं। इस प्रकार के रोगियों के लिए यह बहुत घातक सिद्ध होगा...नहीं-नहीं

जीवन ख़तरे में हो ऐसी बात नहीं, पर हम डाक्टर जिसे अधिक ख़तरे की बात मानते हैं...वह है परेलेटिक होकर रहना। इस प्रकार संभव है कि नीरा का कोई अंग या कई अंग बेकार हो जाँय, धीरे-धीरे अंग बेकार होते जाँय...यह बहुत घातक बात है।...

डाक्टर गम्भीर है या चिन्तित है...'हमारे प्रोफ़ेसर इस केस को विशेष रूप से देख रहे हैं...उनको इसके बिहेवियर के प्रति बहुत चिन्ता है। पर वे इस मेडिसिन के क्षेत्र में विचित्र व्यक्ति माने जाते हैं, उनका मेडिकल साइंस के संसार के प्रसिद्ध पंडितों से गहरा मतभेद है; वे मनुष्य का ट्रीटमेंट मात्र फ़िज़िकल लेविल पर सम्भव नहीं मानते...वे मनुष्य के मन को मेडिसिन के क्षेत्र में मानकर चलने के पक्ष में हैं...वे उसके बिना मेडिकल साइंस को अपूर्ण मानते हैं। और इनके इस मत को वैज्ञानिक मात्र सनक मानकर रेडिक्युल करते हैं। पर प्रोफ़ेसर किसी की चिन्ता करने वाले व्यक्ति नहीं हैं...उन्होंने अपने मत को निर्भीकतापूर्वक रखा है...उनकी शिक्षा है कि हमको मरीज़ की फ़िज़िकल चिन्ता के साथ-साथ उसके मन की, कभी तो वे आवेश में आत्मा की भी कह जाते हैं, चिन्ता करना चाहिए...ज़रूर ये नोशन विचित्र लगते हैं, पर क्या इनके प्रति मन में श्रद्धा नहीं पैदा होती...'

...डाक्टर मृदुल और सौम्य भाव से कहता जाता है, और वह सुन रहा है, उसे डाक्टर में, उसके प्रोफ़ेसर का स्वर ही सुनाई दे रहा है... ईमानदारी, सत्य और निष्ठा का...अब वह स्वयं कह रहा है—'नीरा जी के पत्रों से मैंने आपके विषय में बहुत कुछ जान लिया है, हम अपरिचित नहीं हैं।...यह सचमुच चिन्ता की बात है; नीरा को इस बात का किंचित् भान नहीं है, वह तो आप को अपना जीवनदाता मान चुकी है...उसके मन में आप के लिए कितना आदर है, वस्तुतः आदर शब्द से उसके मन का वास्तविक भाव अभिव्यक्त नहीं हो पायेगा...मैं तो बराबर सोचता हूँ कि होमियोपैथी अथवा नेचरोपैथी सिस्टम की-सी यह बात एलोपैथी आदि सिस्टम को माननी चाहिए। यह कहा जा सकता

है कि वास्तव में इनको इस अर्थ में साइंस नहीं कहा जा सकता है जिस अर्थ में एलोपैथी को कहा जाता है, लेकिन शायद आप भी मानेंगे कि ऐसे कितने ही अवसर आते हैं, आप का यही नीरा वाला केस इसी बात को सिद्ध करता है, जब आदमी के सिस्टम के सम्बन्ध में कहना सरल नहीं रहता है...प्रोफ़ेसर की बात में मुझे बहुत सत्य जान पड़ता है, आज नहीं तो कल मेडिकल साइंस को यह ह्यूमन पक्ष स्वीकार करना ही पड़ेगा...।'

...डाक्टर मुस्कराते-मुस्कराते कभी गम्भीर हो जाता है...नीरा की श्रद्धावाली बात पर लगता है, उसका ध्यान रुकता है, वह कुछ उलझन का अनुभव कर रहा हो जैसे...वह आगे कहता है—'नरेश जी, मैं आप से एक बात कहना चाहूँगा...मैं समझता हूँ आपके प्रति नीरा जी का बहुत स्नेह है। ऐसा लगता है आप की बात का बहुत आदर करती हैं... देखिए, आप कुछ और न समझें, आप से मैं एक विषय में सहायता चाहती हूँ...हमारे प्रोफ़ेसर का कहना है—नीरा के मन में इस समय विशेष बल की आवश्यकता है, यह ऐसा क्षण है, जब उसके मन में सबसे अधिक साहस की अपेक्षा है। उसे इस बात का विश्वास होने लगा है कि वह ठीक हो रही है और एक प्रकार से वह ठीक हुई भी है। ऐसी परिस्थिति में उसको यदि इस नये रोग या नयी परिस्थिति का आभास मिल गया तो उसके लिए अत्यन्त घातक हो सकता है। प्रोफ़ेसर को इस बात की विशेष चिन्ता है...वे नहीं चाहते कि नीरा को किसी प्रकार का शॉक इस बीच में लगे; वे इस शारीरिक प्रक्रिया से लड़ने के लिए रोगी के साहस का पूरा सहारा लेना चाहते हैं। उनको इस बात की बहुत अधिक चिन्ता है, लेकिन मेरे हाथों में नीरा के केस को वे बहुत अधिक सुरक्षित समझते हैं...नीरा को मुझ पर अनायास विश्वास हो गया है और प्रोफ़ेसर इससे लाभ उठाने के पक्ष में हैं। वे कहते हैं कि यदि इस क्रिटिकल मोमेण्ट पर वह इस प्रकार मन से सशक्त और आशावान रही तो उन्हें बहुत विश्वास है...यही कारण है

कि वे प्रत्यक्ष में इस केस को मेरे द्वारा ही संचालित कर रहे हैं...उनका कहना है—इस केस के द्वारा वे शायद यह सिद्ध कर सकें कि उनका क्या स्टैण्ड है, किस प्रकार व्यक्ति एक काम्लेक्स फ़ेनामेना है, किस प्रकार उसके शरीर को समझने के लिए उसके मन को, उसकी आत्मा...'

...उसे अजब-अजब सा लग रहा है, यह डाक्टर कह क्या रहा है... नीरा के पत्रों से उसने कुछ समझने का प्रयत्न किया था, पर उसने उस विषय पर सोचा नहीं, कहीं उसने उस पर रोक लगा दी थी...। और यह डाक्टर कह क्या रहा है, इसका अर्थ क्या हो सकता है ? हो सकता है प्रोफ़ेसर का अपरोच ठीक हो, पर नीरा जीजी के साथ यह सब क्या हो रहा है ।...वह समझती है कि अब रोग से मुक्त हो रही है । वर्षों बाद यह विश्वास उनके मन में आया है, और डाक्टर का कहना है कि वे विशेष क्रिटिकल मोमेण्ट से गुज़र रही हैं, उनका जीवन एक लम्बी पैरेलेसिस में ग्रस्त होता जा रहा है...वे अपने रोग से मुक्त होकर एक ऐसे जीवन में खिंचती जा रही हैं जो अनन्त वेदना, अनन्त प्रतीक्षा का जीवन होगा...और उनसे यह सब छिपाया जा रहा है, डाक्टर इसमें एक प्रयोजन देखते हैं...

उसके मन में एकाएक आन्तरिक रोमांच हो आता है, उसको नीरा के पिछले पत्र याद आ रहे हैं...'डाक्टर कितने अच्छे हैं, नरेश भइया, इसकी तुम कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रोफ़ेशन में इतना कोमल, इतना संवेदनशील व्यक्ति कैसे कोई हो सकता है, इसका मुझे स्वयं आश्चर्य है । उनका कवि हृदय है...न जाने क्यों भइया, डाक्टर मुझे बहुत अच्छे लगते हैं, उनको अपने प्रति इतना ध्यान देता देखकर मुझे लगता है, इतनी ममता इनको कहाँ से मिली, सभी मरीज़ उनकी तारीफ़ करते हैं, सभी उनके साथ रहना चाहते हैं । पर ऐसा ही नहीं है, मुझे लगता है वे मेरा विशेष ध्यान भी रखते हैं...सम्भव है, इसी प्रकार सभी समझते हों कि डाक्टर मेरा अधिक ध्यान देते हैं ।...मैं अपने आप अनुभव करने लगी हूँ कि मैं अब अच्छी हो रही हूँ, डाक्टर का आश्वासन

ठीक लगता है; मैं समझती हूँ कि डाक्टर का कर्तव्य है कि वह अपने रोगी को आस्थावान रखे। लेकिन डाक्टर की बात पर विश्वास करने की स्थिति मेरे मन की स्वयं ही है, मैं अपने आप में स्वतः परिवर्तन का अनुभव कर रही हूँ।...मुझे लगता है कि इस बीमारी से मेरा त्राण नहीं, मेरा मन निराशा और वेदना से टूट चुका था; इस बार नई आशा और विश्वास का संचार हुआ है। मेरे मन में नई सम्भावनाएँ जन्म ले रही है, नये स्वप्न पल रहे हैं और डाक्टर...यह डाक्टर ने ऐसा किया है, यह ठीक है कि यह स्थिति है जो इस प्रकार इस मेडिकल कॉलेज में मेरे लिए सहायक हो गई है। डाक्टर को उसका श्रेय पाना था, यह कहा जा सकता है...पर मैं इसका विरोध किये बिना भी यह मानने के लिए विवश हूँ कि मेरा यह नया जीवन...'

इस इतनी बात के बाद आज उसे ज्ञात होता है और वह भी उसी के द्वारा जिस पर उसका इतना विश्वास है कि यह नीरा की, उसके जीवन की प्रवंचना है...वह प्रसन्न है कि वह अपने कई वर्ष के लम्बे और कठिन रोग के बाद अच्छी हो रही है, उसे मुक्ति मिल रही है...। वह जैसे किसी दैत्य की कारा से इस प्रकार मुक्त होने के लिए उत्सुक है, उसका कहानी वाला राजकुमार आकर उसका उद्धार करेगा। वह दैत्य के भयानक पंजे से छुटकारा पा जायगी...उसने राजकुमार को दैत्य की गढ़ी में प्रवेश करते देख लिया है...परन्तु वह नहीं जानती कि उसको इस मुक्ति के पूर्व एक भयानक प्रेत-छाया निगल रही है, वह छाया उसे अज्ञात रूप में ही निगल रही है और वह इस परिस्थिति से अनभिज्ञ है...वह नहीं जानती कि वह इस प्रकार ग्रसी जा रही है और उसका वह राजकुमार ही उसका साक्षी है...उसको क्या मालूम कि उसका यह राजकुमार...वह उसके मन का भ्रम मात्र है।...उसके मन में व्यथा उमड़ आती है, वह वेदना से अभिभूत हो जाता है...

वह डाक्टर से कैसे कहे...तुम नहीं जानते कि तुम्हारा यह उपाय उस व्यक्ति के लिए कितना महँगा पड़ रहा है...तुम्हारा यह सारा अभि-

नय किसी के लिए कितना यथार्थ हो सकता है...और तब तुम क्या करोगे, जब उसका यह भ्रम टूटेगा, उस समय उसको कौन आश्रय मिल सकेगा...कितनी सीमित दृष्टि से डाक्टर काम कर रहे हैं, वह कहना चाहता है, पर वह सोचता है कि और उपाय ही क्या हो सकता है। वह समझता रहा है, उसे इस बात का भ्रम नहीं हो रहा है...डाक्टर का स्नेह प्रासंगिक मात्र हो सकता है...इससे अधिक और सोचा भी क्या जा सकता है। और नीरा ने ही क्या समझा होगा...वह क्या कोई अर्थ देखने का प्रयत्न कर रहा है...उसने सोचा भी नहीं है, यह डाक्टर ने ही जैसे व्यंजित किया हो।...डाक्टर ने नीरा को समझा नहीं होगा, नहीं ग़लत धारणा कैसे रहती...पर उन्होंने कहा ही क्या—विश्वास हो जाना तो...फिर उसने क्यों ऐसा अर्थ लगा लिया...वह विभ्रम में था, आज उसके सामने स्थिति कुछ साफ़ हो ऐसी बात भी नहीं...।

एक्सप्रेस की गति पूर्ववत् हो गई है, अपनी छोटी पटरियों पर दौड़ रही है...और युवक ने देखा वह देर से खुले द्वार पर खड़ा है, हैन्डिल उसके हाथ में है, हवा के तेज़ ठण्डे झोंके उसके मुख पर लग रहे हैं, उसे उसका शीतल स्पर्श अच्छा लग रहा है। पर उसे लगता है, यह इस प्रकार खड़ा रहना उचित नहीं है। वह द्वार बन्द करता हुआ अपनी सीट पर आ जाता है। उसने देखा कम्पार्टमेंट बिल्कुल खाली है...सूना-पन चारों ओर छाया हुआ है, उसके मन का सूनापन ही कम्पार्टमेण्ट में फैल रहा है...उसका मन उससे घुटने लगता है, उससे मानों एक प्रकार का सफ़ोकेशन हो रहा हो। बाहर सूना, भीतर सूना...दूने सूनेपन से उसकी मानसिक स्थिति जैसे हल्केपन के बोझ से आकुल हो रही है...

यह कैसा विस्तार है, यह कैसा फैलाव है...जिसमें सीमाएँ हैं, पर गहराइयों के होते हुए भी घनत्व नहीं है...न जाने कैसा यह काल है, जो भूत से लेकर भविष्य तक एकतान फैला हुआ है, अस्तित्व अपनी समस्त चेतना के साथ उससे एक रस होकर वर्तमान है। पर काल के

प्रसार में, अस्तित्व के इस एकरस बोध में कहीं कोई तीसरा आयाम है ही नहीं, उसके अभाव में कहीं कोई पकड़ नहीं, कहीं कोई स्पर्श नहीं। सब कुछ है, अनन्त विस्तार में फैला होकर भी अस्तित्व के बोध से परे, जैसे अस्तित्व स्वतः बोध का विषय रह नहीं गया है...एक निरन्तरता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। शेष सब एक अवशेष स्मृति है...जो है, पर कैसे कहा जाय कि वह है?

वह अपने कम्पार्टमेन्ट में बैठा है...कम्पार्टमेन्ट में खाली बर्थें हैं, जिनपर धूल जम गई है, ऊपर से वे साफ़-सुथरी हैं, पर उनपर धूल की एक पर्त जमती जा रही है। सामने एक हैट स्टैंड है, उसके नीचे एक शीशा है...और भी है सब, पर...पर यह सब क्या है, क्यों है? जिसपर धूल की पर्त जमती जा रही है।...ऐसे ही जीवन की इस अनुभूत चेतना पर भी न जाने कैसी पर्तें जमती जा रही हैं। कैसी हैं ये पर्तें...क्या है जो सारे हमारे अनुभूत जीवन पर जमती रहती है, और हमारा सारा जीवन, हमारी सारी चेतना आच्छन्न है इसी से...

...वह क्या कहे, वह क्या समझ सके!...डाक्टर मृदु है, नीरा उल्लसित है...और डाक्टर ने ही उससे आज सुबह कहा है कि नीरा जी को एक विचित्र प्रकार के पैरेलेसिस ने धीरे-धीरे आक्रान्त करना शुरू किया है...नीरा के मन में डाक्टर के प्रति यह क्या है? नीरा जीजी के विश्वास का क्या अर्थ है?...'प्रोफ़ेसर मेरे माध्यम से नीरा जी का ट्रिटमेन्ट करना चाहते हैं...' यह कैसा भ्रम है जिसमें नीरा को रखना इतना आवश्यक हो गया है, उसकी रक्षा के लिए, विशेषकर इस धीरे-धीरे ग्रसनेवाले दैत्य से...'नरेश जी यह एक ऐसा प्रकार लगता है पैरेलेसिस का जो धीरे-धीरे आदमी के एक-एक अंग को बेकार करता जायगा...और हम समझने की कोशिश कर रहे हैं कि इसका सम्बन्ध इस बीमारी से किस प्रकार है। हम उसपर विशेष रूप से कंट्रोल नहीं पा रहे हैं...' अभी हम इसका बिहैवियर वाच कर रहे हैं...इतने

भयानक ख़तरे में भी व्यक्ति को सतर्क न करके उसे भ्रम में रखना कितना अन्याय हो सकता है।

नीरा के मन का विश्वास है कि वह अब रोगमुक्त हो रही है, जिस रोग से प्रायः वह निराश हो चुकी थी...अब उसने भविष्य के नये स्वप्न पाले हैं, उसने नई कल्पनाएँ गढ़ी हैं...नीरा जीजी की इन नवीन कल्पनाओं में डाक्टर...और डाक्टर का कहना है कि उसे अपने प्रोफ़ेसर के प्रयोग में साथ देना है...प्रोफ़ेसर मानसिक शक्ति के बल पर बीमारी से लड़ने के पक्ष में हैं, उन्हें विश्वास है कि इस पेरेलेसिस से वे मानसिक धरातल पर डील कर सकेंगे। पर...पर यदि नीरा जीजी को ज्ञात हुआ, उन्हें अपने भ्रम का बोध हुआ, तो...तब उनका क्या होगा? उनके जैसे व्यक्ति के लिए आगे कितना अधिक कठिन हो जायगा, यह डाक्टर ने नहीं सोचा, उनके प्रोफ़ेसर ने भी नहीं विचारा यह कैसी बात है...पर यह क्या है? डाक्टर ने जो संकेत किया है, उससे भी यह स्पष्ट नहीं है कि नीरा का उसके प्रति भाव किस प्रकार का हो सकता है...पर।...पर जो उसके लिए स्पष्ट नहीं था, वही आज कुछ अधिक व्यक्त रेखाएँ ग्रहण कर रहा है...उस दिन वह सोच रहा है कि डाक्टर के इस सारे व्यवहार के नीचे क्या कहीं कोई सत्य नहीं है, सब अभिनय, एक मात्र अभिनय!

डाक्टर अपने सारे वार्ड का राउन्ड लगा कर इस प्राइवेट वार्ड में आये हैं, और निश्चित भाव से बैठे हैं, जैसे किसी ड्राइंग रूम में बैठे गपशप कर रहे हों। नीरा भी आधी लेटी आधी बैठी मुद्रा में है, वह उनकी बातचीत में मुक्त भाव से भाग ले नहीं रहा है, और अनुभव कर रही है कि नीरा उसकी अन्यमनस्कता को समझ रही है। ऐसा लगता है कि नीरा उसकी उदासी को समझ नहीं पा रही है, इससे वह खिन्न है। पर वह कैसे समझाएँ कि उसके मन में क्या ऊहापोह है?—'क्यों नरेश भइया, तुम तो मानते रहे हो कि विवाह आदमी के जीवन की पूर्णता है, इसके बिना उसका विकास एकांगी ही होता है, और डाक्टर

इसके विरुद्ध हैं, उनका कहना है कि विवाह जीवन की सीमा है, ऐसी सीमा जिससे सारा व्यक्तित्व कुण्ठित और पंगु हो जाता है,...वह अन्यमनस्क भाव से कह देता है—'डाक्टर को तो मेरी बात मानने के लिए मेडिकल साइंस में प्रमाण भी मिल जाएँगे'...डाक्टर मृदु मुस्कान के साथ कहते हैं...'नरेश जी, आप की बात मैं समझ रहा हूँ...पर आप सेक्स लाइफ़ को विवाह के सावल के साथ मिला कर ही देखने के अभ्यस्त हैं...अपने फ़िलासफ़रस में ऐसे देखे होंगे जो इस प्रकार के मुक्त जीवन को व्यक्ति के विकास के लिए अनिवार्य मानते हैं...एक निरसे का नाम ही लिया जा सकता है।'—'नहीं डाक्टर, मैं उससे कभी सह-मत नहीं हो पाता, कितनी ही आकर्षक बात क्यों न लगती हो...मैं ऐसे किसी व्यक्तित्व को नहीं मानता जो नितांत असामाजिक हो, व्यक्तित्व का सारा गठन समाज सापेक्ष है'...नीरा मुग्धभाव से सुन रही है, इस सुनने में उसका पुराना भाव जैसे वापस आ गया हो...उसकी दृष्टि में वही चमक है...

युवक को कालेज के दिनों के एक डिबेट की याद आ रही है जिसमें उसने अनायास ही भाग लेना स्वीकार कर लिया था, और उसने सब कुछ एक भावावेश की स्थिति में ही किया था। उस दिन भी बोलते बोलते उसकी दृष्टि नीरा पर पड़ जाती है...वह एक किनारे उल्लसित और आवेग की स्थिति में बैठी है और जब उसकी दृष्टि नीरा की दृष्टि से मिल जाती है तो उससे प्रेरणा तथा उत्साह की अद्भुत शक्ति मिलती है...नीरा की आँखों की वही उल्लासमयी चमक उस दिन पुनः उसे झलकती जान पड़ी। डाक्टर शुद्ध मेडिकल व्याख्या करते हुए कह रहा है—'सेक्स आदमी के लिये एक शारीरिक माँग है, और उस सीमा तक वह व्यक्ति के व्यक्तित्व की माँग भी है...पर यही जब उसके लिए अनेक पारिवारिक बन्धनों का सृजन करने लगती है, उसके लिए सीमाओं में प्रकट होने लगती है, उस समय उसके व्यक्तित्व के लिए सबसे अधिक घातक भी सिद्ध हो सकती है। पूर्ण व्यक्तित्व के विकास

के लिए व्यक्ति की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति समाज को बिना उससे बन्धन की माँग किए ही करना चाहिए।'...वह कह रहा है, उसके कहने में मृदुता है, उसके कहने में आकर्षण है, पर नीरा को जैसे इससे व्यथा हो रही हो, वह अनुभव करता है, डाक्टर उस ओर ध्यान नहीं दे रहा है।...नीरा उसकी ओर देख रही है, जैसे वह अपना उत्तर नरेश भइया के मुख से सुनना चाहती हो...उसे नीरा के व्यवहार से कुछ आश्चर्य होता है। उसे लग रहा था कि नीरा इस बहस में डाक्टर के पक्ष में होगी, उसने एक प्रकार से विवाह का सदा विरोध किया है, वह अनायास किसी बन्धन को स्वीकार करने के पक्ष में कभी नहीं रही। पर यह क्या, वह उसके मुख की ओर आज भी उसी प्रकार देख रही है जैसे वह उसके पक्ष का हीरो हो। वह डाक्टर को उसके बहाने उत्तर देना चाहती है...अन्त में नीरा कह ही देती है—'डाक्टर विपिनचन्द्र, हमारा आप का मौलिक मतभेद है, नरेश भइया समाजिक नैतिकता के एक ऐसे स्तर को मान कर चलते हैं जिसमें आध्यात्मिकता किसी न किसी रूप में स्वीकृत है, और डाक्टर, आप केवल सामाजिक नैतिकता के उस स्तर को शायद मानते हैं जिसमें व्यक्ति बेसिकली पशु ही है,...नीरा यह क्या कह रही है, वह उसके पक्ष में बोल रही है...वह डाक्टर के विरुद्ध बोल रही है जिसको वह बहुत कुछ मानती है...

वह सोच रहा है, आज उसके सोचने में सारे स्तर एक भिन्न रूप में उभर रहे हैं...नीरा ने डाक्टर पर विश्वास किया है, वह उन्हें बहुत मानती है, वह उनके प्रति ममता का भाव रखती है...और डाक्टर स्वयं समझते हैं कि वह उनको मानकर चलती है, इसीलिए प्रोफ़ेसर को उन पर विश्वास है। पर नीरा का यह आकर्षण, नीरा का यह विश्वास किस प्रकार का है, उसे डाक्टर के सामने ऐसा लगा था कि नीरा के साथ यह बहुत बड़ा धोखा है। पर उसे लग रहा है, शायद डाक्टर के प्रति नीरा का सहज विश्वास है; उनसे उसे जीवन का विश्वास मिला है। वह इसी विश्वास के कारण उन्हें इस सीमा तक मानती है; और

डाक्टर का भी इससे अधिक कुछ कहना नहीं। उसने अपने मन में यह कैसा अन्यथा...

उस दिन...ऊपर की छत पर चारपाइयाँ बिछी हुई हैं। गरमी की चाँदनी रात...चाँदनी में हल्की शीतलता है। दोनों जग रहे हैं...नीरा दो तकियों के सहारे पेट के बल लेटी हुई है और वह आकाश को देखता हुआ लेटा है...बहुत धीरे-धीरे बातचीत का क्रम चल रहा है। उसके मन में चाँदनी का फैलाव एक करुण सिहरन पैदा कर रहा है...नीरा की बीमारी, पीड़ा ने उसे अभ्यस्त कर दिया है। वह अपनी स्थिति से अभ्यस्त होती जा रही है, उसे जैसे जीवन के दिन बिताने ही हैं...उस दिन वह कई महीनों के बाद आया है, नीरा जीजी से उसे न जाने कितनी बातें करनी हैं। क्लेश पीड़ा के जीवन में वह क्या बटा सकेगा... उसका सामर्थ्य ही क्या है ? उसके मन की बात सुनकर, उससे अनेक बातें करके, उसके मन के भावों को सुन समझ कर उसको आश्वासन दिया जा सकता है, पर यह आश्वासन भी कितना हल्का-छिछला है।... चाँदनी उमड़ती आ रही है, वह उसमें डूबा जा रहा है। पर नीरा उसे देख नहीं रही है, वह चाँदनी का अनुभव नहीं कर पा रही है...उसके मन में कोई कसक उठकर व्याप जाती है। वह कुछ देर मौन चुपचाप लेटा रहता है, नीरा समझती है, और वह मना करती है—'नरेश भइया, तुम इतने चुप क्यों हो। मैं समझ रही हूँ, पर क्या हो सकता है, जिसमें अपना बस नहीं रह गया है, उसके प्रति निरपेक्ष रहना ही ठीक है...और हो ही क्या सकता है...मैं इस प्रकार ठीक हूँ।...तुम डाक्टर के विषय में पूछ रहे थे...डाक्टर फ्रंट पर हैं, शायद सहारा के युद्ध में...क्रिश्चियाना का पत्र आया था...उसके मन में काफ़ी विद्रोह है। उसका कहना है डाक्टर ने उसके प्रेम से मुक्त होने के लिए ही सेना में भरती ले ली है...मैं विश्वास नहीं करती, डाक्टर ने ऐसा नहीं किया होगा। क्रिश्चियाना का यह अभियोग ही कहाँ तक ठीक है कि डाक्टर ने उसके प्रेम की स्वीकृति दी थी...बस इतनी सी बात कि डाक्टर उसकी अधिक

चिन्ता कर लेता था, जब अन्य हाउस सर्जन उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करते थे, उसकी धार्मिक प्रवृत्ति से सबको कुछ संकोच और कुछ चिढ़ भी थी। डाक्टर विपिन चन्द्र उसकी इस धार्मिकता का आदर करते थे, उसकी सेवा के प्रशंसक थे...हो सकता है कुछ अन्य बात भी हो भइया, पर मुझे ऐसा ही लगता है।...सेना में जाने का कारण तो डाक्टर ने भारत छोड़ते समय मुझे लिखा था—

'नीरा जी, मैं जा रहा हूँ, अपनी इच्छा के विरुद्ध ही नहीं अपने सिद्धांत के विरुद्ध भी। इस युद्ध में, मैं नैतिक दृष्टि से भाग लेना उचित नहीं समझता हूँ। पर फिर भी जा रहा हूँ; कम ही लोग समझ पाते हैं दूसरों की विवशता और मैं समझता हूँ तुम उन लोगों में हो। मैं ग़रीबी में पला हूँ, मेरी पढ़ाई के लिए मेरी माँ को क़र्ज़ लेना पड़ा है। मेरे पिता, उनके बारे में जानकर तुमको विश्वास करने में कठिनाई होगी। वे जीवन भर कल्पनाओं में जीते रहे, पर किया कुछ नहीं। माँ को सब कुछ झेलना पड़ा है और तुम समझ सकती हो इस महँगाई में आठ-दस प्राणियों के परिवार को चला सकना सरल नहीं है। मैं विवश हूँ...और तुम को भी आश्चर्य होगा, मुझे क्रिश्चियाना का एक पत्र मिला है, उसने मेरे इस प्रकार सेना में जाने को क्या अर्थ दिया है...निश्चय ही इधर क्रिश्चियाना के स्नेह से मुझे बल मिला है, उसे मैंने सदा उसके चरित्र की उदारता और धार्मिक भाव माना, लेकिन वह सारी बात को इस अर्थ में ले सकती है, इसका अनुमान मैं पहले कर भी नहीं सका—'

और नरेश भइया इन सारी बातों को एक साथ रखने पर कुछ साफ़ कह सकना सरल नहीं है। मुझे डाक्टर की बात पर अविश्वास करने का कारण नहीं लगता...मुझे उनका युद्ध से केवल एक पत्र प्राप्त हुआ...लिखा था—'मुझे दुःख है कि तुमने अपना इलाज प्रोफ़ेसर के अन्दर नहीं चलाया और अब मुझे यह भी लगता है कि जैसे तुम्हारे इलाज को अधूरा छोड़ देने का अपराधी भी मैं हूँ...प्रोफ़ेसर पर मुझे बहुत आस्था रही है और कॉलेज न जाकर तुमने अच्छा नहीं किया...'

...नरेश भइया, तुम पूछते हो...सचमुच मेरे मन में स्वयं यह प्रश्न कई बार आया कि...पर न जाने किस संकोच से बात टाल गई, टल गई। आज मैं अपनी उस जिज्ञासा को रोक न सकी...तुम्हारे मन जैसी ही स्थिति मेरी भी रही है...कहना कठिन है कि मन में किसके प्रति उस प्रकार का भाव जागा हो, लेकिन वह भाव ऐसा तो सदा नहीं होता कि साफ़ प्रत्यक्ष जान ही लिया जाय। मैं तो इन सब से प्रारम्भ से ही खिंचती रही हूँ, पर तुम तो मानोगे कि यह सब स्पष्ट प्रत्यक्ष ही नहीं घटित होता...मुझे लगता है कह नहीं सकूँगी, इसलिए नहीं कि कहना चाहूँगी नहीं।...पर हाँ यदि केवल प्रभाव की बात है, मैं समझती हूँ तुम्हारा भाव ऐसा ही है...जब पापा जी दिल्ली में थे, वहाँ मुझे पढ़ाने के लिए मास्टर जी आते थे। नहीं, नहीं, मैं कुछ और ही कहना चाहती हूँ...उनकी आयु तीस से कम न होगी और उनके जैसे सीधे-साधे मोटिया की धोती-कुरता पहननेवाले व्यक्ति की ओर उस प्रकार से आकर्षित होने जैसी बात उठती नहीं...पर उनके स्वभाव की विचित्रता, उनके मन के किसी आवेश से मैं प्रभावित हुई और बेहद प्रभावित हुई। पर वह प्रभाव आदर्श का ही था...हमारे पापा के अतिरिक्त सब लोग उनके प्रति जितनी उपेक्षा और उपहास का भाव रखते थे, उतना ही मैं उनको मानती जाती थी...श्याम और आरती ने झेंप के कारण उनसे एक प्रकार से पढ़ना ही छोड़ दिया था। पर पापा और मैं दोनों ही मास्टर के त्याग और देश-सेवा के प्रति अत्यन्त आदर भाव रखते थे... और मास्टर ने मेरे जीवन को एक दिशा दी, उन्होंने मुझे पढ़ाया ही नहीं, वरन् वास्तविक अर्थ में सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शिक्षा दी है। नरेश भइया, मुझे सदा लगता रहा है कि मेरे जीवन की सारी दिशा ही उन्होंने बदल दी थी, मेरे सारे सोचने-समझने को उन्होंने एक गति प्रदान की थी। और वे मुझ से बहुत बड़े थे, पापा से आठ-दस वर्ष ही उनकी उम्र कम रही होगी, मेरे लिए उनके मन का भाव शिष्य के समान ही ममत्वपूर्ण रहा है...।

...पर नरेश भइया, यह मैं आज भी अनुभव करती हूँ कि मास्टर के व्यक्तित्व में ऐसा कुछ था जो मुझे अभिभूत कर रहा था, उनके विद्रोही स्वभाव में...उनको उसी कारण एक बड़े कॉलेज की प्रिंस्पली छोड़नी पड़ी थी, असहयोग आंदोलन में। उन दिनों उनको किसी प्रकार का काम देना ख़तरे से खाली नहीं माना जाता था, पर हमारे पापा भी अपने ढंग के ही व्यक्ति रहे हैं, जो सब भय के कारण नहीं कर पाते, वह वे केवल निर्भीकता के लिए कर सकते थे।...और मास्टर मेरे लिए, मेरी सारी आदर्श भावना के लिए प्रतीक बनते गये। शायद वे बिल्कुल अकेले थे, उन्होंने जीवन देश को समर्पित कर दिया था। उनके प्रति मेरे मन में न जाने कितनी ममता जागती, मेरा आदर उनके प्रति उनकी एकाकी स्थिति के कारण स्नेह में परिवर्तित हो जाता।...मैंने मास्टर जी से ही जीवन की प्रारम्भिक प्रेरणाएँ ग्रहण की थीं...इतना निश्चित है कि उनके सामने मैं अपने को भूल जाती थी, उनके सामने मैं केवल उनकी और उन आदर्शों की बात सोच पाती थी जिनके लिए वे स्टैंड करते थे...

पापा का ट्रान्सफ़र लाहौर हो गया और उस बीच हम लोगों को कुछ दिनों के लिए दिल्ली में अकेले रहना पड़ा, उन दो-तीन महीनों में मास्टर को हमारे घर पर ही रहना पड़ा, और तब उनका कार्यक्रम देख कर मेरा मन श्रद्धा मिश्रित आतंक से भर गया।...रात-दिन एक ही चिंता, रात-दिन एक ही क्रम—देश, देशवासी, ग़रीब जनता, मज़दूर...भीड़भाड़, मीटिंगस...मेरे जैसे स्वभाव के व्यक्ति के लिए मास्टर केवल आदर और श्रद्धा के पात्र हो सकते थे, यह तब और मैं समझ सकी। लेकिन यह सब होते हुए भी मेरे मन में उनके लिए ममता थी, स्नेह था।...उन तीन महीनों में मैंने उनकी सब प्रकार की चिन्ता की...उनके मना करने पर, कभी हल्की डाँट लगाने पर भी मैं उनके लिए, देर तक खाने के समय तक माँ के साथ जागती रहती, उनकी प्रत्येक सुविधा का ध्यान रखने का प्रयत्न करती, यद्यपि उनके लिए सुविधा का कोई अर्थ नहीं था, ऐसा लगता है...।

...नरेश भइया, तुम कहोगे मैंने मास्टर का प्रसंग छेड़ कर तुम्हारी बात टाल दी...पर ऐसा नहीं है, जब अपने को खोल कर रखने की बात हो, अपने ही को स्वीकार करने जैसी बात हो, तब उस सबको कहना ही होगा जो किसी न किसी रूप में अपना रहा है, उसमें विभेद करना, कर पाना सहज नहीं है।...मास्टर जी ने मेरे व्यक्तित्व को जिस स्थल पर स्पर्श किया है, वह स्थल ऐसा रहा है जिसने मुझे कभी नहीं छोड़ा, ऐसी स्थिति में कैसे कहा जाय कि उनका मेरे जीवन में संवेदना के क्षेत्र में कम महत्त्व है...भइया, मैं प्रेम के सम्बन्ध में, सदा ऐसा ही समझती रही हूँ...प्रेम व्यक्ति के जीवन की गहन संवेदनाओं की स्थिति का नाम है....

...'नहीं नीरा, मेरा यह कहना नहीं है कि इस प्रकार की संवेदना का महत्त्व कम है, क्या इसको प्रेम की संज्ञा दी नहीं जाती! पर मेरा भाव है...नारी-पुरुष का सहज सम्बन्ध, उनका ऐसा आकर्षण जो मानसिक होते हुए भी किसी स्तर पर सम्पूर्ण व्यक्तित्व की माँग, सारे शरीर की माँग भी हो सकती है...यह अन्तर तो मानोगी ही...मास्टर के प्रति तुम्हारा सारा मनोभाव उस श्रेणी में नहीं आ सकता...वह श्रद्धा और प्रेम के अनेक स्तर को छूते हुए भी...'

...'मौलिक अन्तर नहीं है नरेश भइया। मुझे तब यही लगता था कि मास्टर के सम्मुख मैं अपने को भुला देती हूँ और यह क्या समर्पण का वही भाव नहीं कहा जा सकता...मैं छोटी थी, मेरा मन केवल आदर्शों से प्रभावित था, अतएव वह भाव भिन्न था, यह कैसे मान लिया जाय।...लेकिन हाँ, डाक्टर के प्रति मेरे भाव को तुम जानते रहे हो, उनके प्रभाव की चर्चा मैंने बहुत की है, उनके विषय में प्रायः मैं कहती रही हूँ...पर भइया यह भी सत्य है कि सारे क्लेश और पीड़ा को झेलने के बीच में मुझे अपने मास्टर जी की ही सुधि आई है... उन्होंने ही जैसे मुस्कराते हुए सान्त्वना दी है, झेलने की शक्ति दी है.... जैसे वे ही मेरे सामने खड़े होकर मुझको संघर्ष के लिए बल दे रहे हैं।

और डाक्टर तो केवल एक मधुर स्मृति के अतिरिक्त मेरे लिए... लेकिन मैं मानती हूँ मधुर स्मृतियाँ जीवन में अनेक बार बहुत महत्त्व रखती हैं...आज मैं यह भी मानती हूँ मेडिकल कॉलेज के वे दिन मेरे लिए जैसे बीमारी के दिन न रहे हों।...डाक्टर ने जिस भ्रम का सृजन किया था वह मेरे लिए सत्य से अधिक हो गया था। देखो, आज यह कहना व्यर्थ है, तुम यह क्यों सिद्ध करना चाहते हो कि उन दिनों मेरी तबियत निश्चय ही ठीक हो रही थी और मैंने मेडिकल कॉलेज न जा कर बहुत भूल की...सब कह सकते हैं पर मैं नहीं मान सकती। इस बीच में तुम एक व्यक्ति को भूल जाते हो...क्रिश्चियाना भी उस तुम सबके अभिनय की पात्री रही है और तुम सब उसको भूल जाते हो...उसने तुम्हारे उस बार के मेडिकल कालेज जाने के बाद ही मुझे बताया था कि मैं धीरे-धीरे पेरेलेटिक हो रही हूँ और यह सत्य मुझसे छिपाया जा रहा है...मैंने उससे किसी से उसका नाम न लेने की शपथ खाई थी, पर आज इतने दिनों बाद उसे क्या ?

वह चौंक पड़ता है...उसके मन में जैसे किसी रहस्य का उद्‌घाटन हुआ, और उससे वह चौंक पड़ा है। वह देख रहा है कम्पार्टमेंट में वह बैठा है, सारा कम्पार्टमेंट जैसे रुक गया है, रुका हुआ है, एकदम थम गया है...सब कुछ रुक गया है...ट्रेन अपनी गति से भाग रही है, पर उसके लिए सारी गति ने अपना अर्थ खो दिया है। खिड़की के बाहर की सारी रेतीली भूमि खिसकते-खिसकते जैसे रुक गई है...सीमान्त पर उभरता हुआ डूँगर संकुचित हो गया है...इधर-उधर फैले हुए खेंचर, बबूल और छिउल के वृक्ष भागते-भागते जैसे रुक गये हैं! कम्पार्टमेंट एकदम स्पन्दनहीन हो गया है...प्रत्येक वस्तु थम गई है, रुक गई है! उसके मन में चलता हुआ प्रवाह रुक गया है, साथ ही उसके अस्तित्व का सारा प्रसार एक क्षण के लिए थम गया। उसकी चेतना स्तब्ध रह गई, एक विचार, एक भावना ने उसके सारे चेतना प्रवाह को

क्षण भर के लिए रोक दिया और...पर यह क्षण उसके लिए अपने बोझ और दबाव के कारण बहुत भारी तथा लम्बा हो गया। फिर धीरे-धीरे ट्रेन में गति आने लगी, कम्पार्टमेंट में चेष्टा आती गई, रेतीली भूमि का विस्तार नाचता हुआ पीछे खिसकता-सा जान पड़ा, बिखरे हुए पेड़ों में गति आने लगी...सीमान्त के डूँगर जैसे उभर कर ऊपर उठने लगे। और फिर सब ज्यों का त्यों हो गया...ट्रेन अपनी गति से भाग रही है, कम्पार्टमेंट किंचित् हिल रहा है, पृथ्वी पीछे भाग रही है, भागती ही चली जा रही है...छिउल और खेंचर के पेड़ बेतहासा भागते चले जा रहे हैं, जैसे एक दूसरे के पीछे दौड़ रहे हैं, पकड़ना चाहते हैं।

...क्रिश्चियाना, उसने नीरा को क्यों बताया? और क्या बताया होगा...क्रिश्चियाना की दृष्टि उसके सामने उभर आती है...वह डाक्टर की ओर देख रही है, वह अपनी ड्यूटी पर है, उसे अनेक मरीज़ों को अटैन्ड करना है, और डाक्टर नीरा से बात करने में देर लगा रहे हैं, वह कह नहीं पा रही है, पर उसके मन का आक्रोश व्यक्त हो रहा है...पर यह आक्रोश?...आज लग रहा है...शायद उसकी दृष्टि में...उसने नीरा को यह ऐसा क्यों बता दिया। पर क्या उसने इतना ही बताया होगा? क्या उसने ईर्ष्या के कारण यह भी बताया होगा कि डाक्टर का मनोभाव उसके प्रति केवल भ्रम और छल है?...पर उसने यह क्या सत्य बताया?

डाक्टर...डाक्टर ने नीरा के साथ केवल अभिनय नहीं किया, उसे ऐसा नहीं लगा कि डाक्टर नीरा के प्रति किसी प्रकार की ममता रखता नहीं।...उसके मन में...उसने जब अपने प्रोफ़ेसर की बात उससे कही थी, तब भी उसने नरेश से अपने को बचाने जैसे भाव से कहा था... ऐसा नहीं लगा कि वह छल कर सकता है।...उस दिन चाँदनी की छाया में नीरा से उसने कहा—'नीरा ऐसा नहीं...ऐसा नहीं कि क्रिश्चियाना ने जो भी कहा हो वह उसने शुद्ध भाव से ही कहा हो, और अब तो उसके पत्रों से, डाक्टर विपिन के प्रति उसके आरोपों से और भी स्पष्ट हो

जाता है ! डाक्टर ने उसको विवाह का वचन दे दिया है...केवल सेना में उनका जाना आवश्यक था अन्यथा...और क्रिश्चियाना उन पर विश्वास नहीं कर पाती...फिर उसके कहने पर, उसकी भी बातों पर विश्वास कैसे किया जा सकता है,...।...'नरेश भइया, ऐसा नहीं कि मैंने सारी बातों को समझा न हो...क्रिश्चियाना की बात मैं उस दिन भी समझ सकी थी, और मेरे लिए आज भी बहुत कठिन नहीं है...पर मैं इतना तो विश्वास कर सकी कि उसकी पेरेलेसिसवाली बात असत्य नहीं हो सकती...और मैं, नरेश भइया इतना भी न समझ सकूँ कि कोई किसी पेरेलेटिक से...जिसके खाट से उठने की कभी आशा ही न हो, जो कभी जीवन में भाग न ले सके; जिसके जीवन के सारे स्वप्न कारा की कठोर दीवार से अधिक कठिन बन्धन में घिर गये हैं...नरेश भइया कौन जान बूझ कर...न भइया, मैं ऐसी अनजान नहीं हूँ। तुमने मुझे इतने दिनों से जाना है, समझा है...जीवन के प्रति मेरा अपरोक्ष सीधा स्पष्ट ही रहा है। मैंने मन में भ्रम नही पाले, और फिर यथार्थ से आँख मूँदना मेरे लिए सम्भव नहीं था...वह सब मेरे लिए असह्य था, मैंने इस कठोर निर्मम जीवन की यातना झेल ली, मैंने यह सब पीड़ा, अवसाद, और सबसे अधिक तो यह मृत्यु की लम्बी प्रतीक्षा...तुमसे अधिक कौन साक्षी है...यह सब सहन कर सकी हूँ, पर यह...भ्रम, यह छलना ! यहाँ डाक्टर की ही बात नहीं है...मन की कमज़ोरी की बात है...हाँ भइया, कमज़ोर व्यक्ति के लिए कोई भी जीवन का स्वास्थ्यकर भाव कमज़ोरी की ही बात हो सकती है। तुम न जाने क्यों यह मानते रहे हो कि मैं विवाह सम्बन्ध के विरुद्ध हूँ, यह ऐसा नहीं रहा है...हमारी आपस की बहस में जो कुछ भी रहा हो, पर यह निश्चित है कि हम दोनों का स्टैंड समान रहा है...कम से कम कि...'

...नीरा जीजी को यह उस दिन क्या हो गया। वह क्या कहती चली जा रही थीं...न जाने क्यों उसका मन बेहद उदास है, न जाने क्यों उसका मन कुछ भी बोलने का नहीं हो रहा है, वह केवल सुनना

चाहता है...और नीरा कहती जा रही है। उसके मन पर चाँदनी का सघन अवसाद फैल रहा है...चाँदनी में जैसे कोई वेदना है जो चारों ओर फैली हुई है, उमड़ती हुई फैली हुई है। लग रहा है सारे संसार को डुबो देना चाहती है और उसका सारा अस्तित्व, उसकी सारी चेतना उसके साथ एकरस हो गई है।...नीरा औंधी लेटी है, एक बड़ी तकिया का उसने सहारा ले रखा है...वह केवल चाँदनी का अनुभव मात्र कर पा रही है, पर जान पड़ रहा है कि उसकी बातें चाँदनी में घुल कर मिल जाती हैं।...यह क्या है नीरा के जीवन में ?

नीरा मेडिकल कॉलेज सभी के आग्रह आक्रोश को सह कर भी नहीं गई...किसी के लिए समझना कठिन था कि वह ऐसा क्यों कर रही है। उस दिन उसने भी ठीक नहीं समझा था, केवल स्थिति का उसे आभास मिल रहा था...यह उस चाँदनी रात में, उसके उमड़ते प्रवाह में उसको लग रहा है कि नीरा मेडिकल कॉलेज नहीं जा सकी। उसके लिए जा सकना सम्भव भी नहीं था...जहाँ उसने महीनों अपने जीवन के प्रथम स्वप्न बनाए थे, जहाँ उसमें प्रथम बार जीवन...उस संवेदना की अनुभूति जागी थी जो कभी अनन्य जान पड़ती है...और जब वही सब स्वप्न के समान विलीन हो गया, तब वह वहाँ जाकर...जाना उसके लिए सम्भव नहीं रह गया...और पापा के बाद उसको उसके ढंग से समझाने वाला ही कौन था।...उसके जीवन का वह आधार भी टूट गया जिस पर वह उगी थी, जिस पर उसकी जड़ें थीं और वह फैलने का आकाश भी विलीन हो गया...।

...आज चाँदनी के विस्तार के नीचे उसे लग रहा है कि नीरा की व्यथा, उसकी पीड़ा कितने गहरे स्तर पर है, उसकी वेदना की कितनी अन्तर्वर्तिनी धारा प्रवाहित हुई है। पर उसका कहना है कि उसने क्रिश्चियाना से जान कर उस दिन निर्ममतापूर्वक जिसे त्याग दिया, उस भावना, उस प्रकार की भावना ने फिर उसके मन का कभी आन्दोलन नहीं किया...नीरा ने कभी वैसे पत्र नहीं लिखे, वह भावावेश

उसके जीवन में फिर कभी नहीं आ सका, इसमें सन्देह नहीं।...'नरेश भइया, यह जीवन कितना संवेदनशील हो सकता, इसका मुझे एहसास नहीं हुआ...यह क्या है जो मुझे इस प्रकार जीवन के प्रति आकर्षित कर रहा है...आज कल मैं केवल अपने जीवन की उन बातों को सोचा करती हूँ।...हम लोग, तुम्हें याद होगा, बैराठ गये थे, और फिर वहाँ से भर्तृहरि की समाधि देखने गये थे...और वहाँ तुमने एकाएक किसी भावावेग में कहा था—नीरा मुझे लगता है क्यों न जीवन यहीं चुपचाप बिला दिया जाय—उस सारे वातावरण का आकर्षण शांति में डूबा हुआ था।...पर न जाने क्यों तुम्हारे उस भाव को मैं आज उस सारी परिस्थिति के साथ बार-बार अनुभूत करती हूँ।...तुमको रणथम्भौरगढ़ के उस पद्मला सरोवर की याद भी होगी...मैंने तुमको खोजते खोजते पा ही लिया था...। तुम बहुत भावुक हो भइया, संवेदनशील...पद्मला की उन तरंगों में खो जाने की इच्छा भी न जाने क्यों मुझे आज यहाँ इस हास्पिटल में घेर रही है...'

...उन दिनों उसके पत्रों में सचमुच स्पन्दन, संवेदन, आकांक्षा, न जाने कितने भाव सागर की हिलोरों के समान आलोड़ित रहते थे...और सबके साथ कृतज्ञता का यह भाव भी कि यह सब डाक्टर के प्रयत्न का, सेवा का फल है। डाक्टर में ममता है, डाक्टर में कर्तव्य की अडिग भावना है...न जाने कितने जाने-अनजाने प्रसंगों को वह याद करती जिनकी उसको बहुत धुँधली सुधि रह गई है।...पर मेडिकल कॉलेज के बाद फिर वह भावावेश उसमें, उसके पत्रों में कभी नहीं मिला, जैसे जादू से सब कुछ फिर पहले जैसा हो गया। वरन् उसकी, उस स्वप्न की याद मन को शायद अधिक अवसाद से अभिभूत कर देती है। मेडिकल कॉलेज के पूर्व अनजाने जीवन का कौतूहल उसके मन में बना हुआ था और उसकी सारी विवशता और लाचारी में भी ऐसी उदासी, ऐसी घने अवसाद की भावना नहीं परिलक्षित हुई थी...पर इन छः सात महीनों के स्वप्न ने उसके मन को जितना ही उद्वेलित, उल्लसित

किया था, उतना ही अब उसे लगने लगता है, जैसे उसके मन की सारी शक्ति ही नष्ट हो गई है।...यह उसने स्पष्ट नहीं कहा, व्यक्त भी नहीं होने दिया कि वह ऐसा नहीं चाहता जो जीवन की सहज स्थिति से संबद्ध न हो, फिर भी कुछ है जो उसे इस बात की याद दिलाता है कि वह अब जीवन के भविष्य स्वप्न के योग्य नहीं है, उसके लिए अब जीवन के स्वप्न पालना उचित नहीं...

ट्रेन की दौड़ में सूरज पच्छिम की ओर बढ़ता जा रहा है और धीरे-धीरे वह ट्रेन के पीछे की ओर झुकता जा रहा है...युवक ने थके भाव से सूरज की ओर देखा और फिर अपनी कलाई में बँधी हुई घड़ी की ओर देखा...चार बजने में केवल कुछ मिनट शेष रह गये हैं। अभी लगभग दो घण्टे की यात्रा शेष है, एक्सप्रेस के दो स्टॉपेज़ और हैं। दौसा... सांगानेर, फिर जैपुर आयेगा...पौने छः बजे के पहले क्या पहुँच सकेगा। शाम हो जायगी, अँधेरा हो गया होगा...सूरजपोल होकर दोनों ओर की बिजली के जलते हुए ग्लोब्स के बीच से वह गुज़रेगा... कितनी बार वह इसी ट्रेन से वहाँ गया है, कितनी बार इसी प्रकार वह रात में पहुँचा है, हर बार पहले वह अपनी बुआ के घर चौड़े रास्ते पर रुका है। पर इस बार उसे सीधे नीरा के घर जाना है, वह सीधे ही जाना चाहता है...पता नहीं नीरा की तबियत कैसी है, यह ठीक है उसने घबराने की बात नहीं लिखी है। पर उसके मन में न जाने कैसी भावना घर कर गई है कि अब नीरा का अन्तिम समय आ गया है.. इसका उसे दुःख हो, या वेदना हो अथवा पीड़ा हो ऐसा स्पष्ट साफ़ नहीं जान पड़ता। न जाने कितने समय से मन के कोने में यह भाव पल रहा है, मन में इस संभावना ने स्थान बना रखा है कि नीरा का जीवन मृत्यु की छाया में ही फैला है, और उसकी घनी होती छाया से कब मिलकर एकमेव हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।...फिर उस ध्रुव इनएविटेबिल के आ उपस्थित हो जाने से वह किसी गहरी पीड़ा का

अनुभव नहीं कर रहा है, पीड़ा का अनुभव उसे नहीं हो रहा है...। पर उसे इस बात की चेतना ने एक दम विभोर कर दिया, उसे लग रहा है, जीवन का कुछ था जो उसके मन के सारे सूत्रों को न जाने कब से सँभाले था, वही अब नहीं रहा है और सारा का सारा जीवन बिखरा जा रहा है। ...उपाय ही क्या है...न कहीं पीड़ा और न कहीं वेदना, जीवन में एक अवसाद घेरता आ रहा है।...ट्रेन ने किसी स्टेशन को अभी पार किया है...ट्रेन की खटखटखटखटाखट की अनुगूँज से उसकी चेतना झकझोर उठी...उसे लगा वह इस निष्क्रिय अवसाद से मुक्त होने के लिए बेचैन हो उठा हो। मन की शिथिलता उसके लिए अत्यधिक बोझिल हो गई, होती गई...वह अपने मन में पीड़ा का एहसास करना चाहता है, वह वेदना के आलोड़न को महसूस करना चाहता है। वह इस स्थिति को उसकी समस्त भयानकता और निर्ममता के साथ संवेदित कर लेना चाहता है...

नीरा नहीं रहेगी...नीरा का जीवन, उसकी चेतना, उसका अस्तित्व अपने प्रवाह से न जाने कहाँ विलीन होने जा रहा है। वह है...वह जीवन का भार वहन कर रही है...अस्तित्व के प्रसार में बहती जा रही है, इस बात का आभास युवक के लिए सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष हो सके, इसका वह भरसक प्रयत्न कर रहा है। आज वह जीवन के छूटते हुए कसाव को महसूस करना चाहता है...आज ही लग रहा है कि वह जिस बंधन से मुक्त हो गया है, उसी को पुनः अनुभव करने के लिए विकल है। न जाने कितने समय से वह नीरा के क्लेश का, उसकी पीड़ा का अनुभव करता आया है...उसने उसकी वेदना को अपनी जैसी समझ कर मार्मिक पीड़ा का अनुभव किया है।...पर आज के बिखराव में वे सारी अनुभूतियाँ, वे सारी पीड़ाएँ ही न जाने कहाँ विलीन हो गई हैं कि उनको पाना ही असंभव जान पड़ता है। आज वह उनको पाने के लिए ही सबसे अधिक उत्सुक है, व्याकुल है। उनके बिना कैसा जान पड़ता है, उसका अपना ही अस्तित्व मिटा जा रहा है, उसका अपनापन ही खोया जा रहा है...वह बिखर-बिखर कर खोया जा रहा है, सागर की

अनेक तरंगें बन-बन कर विलीन हो रही हैं...

...वह हज़रतगंज की जगरमगर करती हुई सड़क पर चला जा रहा है...उसके मन में सारा तनाव ढीला पड़ चुका है, कुछ ही देर पहले उसके मन में तेज़ आँधी तूफ़ान आ चुका है और उसने उसके मन को ही नहीं सारे अस्तित्व को जड़ मूल से हिलाया है।...उसने एक ऐसे भावावेग का अनुभव किया है, जिसने कुछ क्षणों में ही उसको उसके सारे संवेदक तंतुओं के साथ झनझना दिया है।...और उस तूफ़ान के बीत जाने के बाद अब उसके मन में अजब तरह का हल्कापन है, जो उसको उसकी समस्त संवेदनाओं से अलग कर रहा है। अब उसे इस बात का एहसास भी नहीं रह गया है कि कुछ ही क्षणों पूर्व उसके मन में ऐसी भावावेग की स्थिति भी गुज़र चुकी है जिसने उसके समस्त स्नायुओं को एक बार बहुत बलपूर्वक खींचकर छोड़ दिया है...और उस तनाव तथा खिंचाव के बाद अब उसके सारे शरीर में एक ढीलापन है जो उसको बिखेरे दे रहा है। उसकी रग-रग जैसे टूट गई है, उसका स्नायु-स्नायु स्थिर पड़ता जा रहा है...और उसके साथ ही उसके मन में, उसके अस्तित्व में वही बिखराव, वही ढीलापन है।...वह खोया-खोया सा हज़रतगंज की सड़क पर आगे बढ़ता जा रहा है, उसके सामने चमकती हुई सजी दूकानें, जगरमगर करते हुए रेस्तराँ, सड़क की बिजली की रोशनी सब कुछ फैले हैं, पर सब केवल फैले हैं...उनमें कहीं कोई पकड़ नहीं; जैसे दृष्टि से टकरा कर वे सब वापस लौट जाते हैं, अन्दर दृश्य-रूप में उनका प्रवेश होता नहीं, मन में वे पैठते ही नहीं, मन उनको ग्रहण नहीं करता...उन सबके बीच से वह आगे चलता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है...

...कुछ समय पहले वह अमीनाबाद से लौट रहा था...और तब उसके मन में न जाने कितना उत्साह था, कितनी उमंग थी...वह नीरा के साथ वापस आ रहा था। दोनों बिल्कुल पास-पास चल रहे हैं, कैसर-

बाग आ गया है, कैसरबाग की क्रासिंग पर नीरा अपनी वाच देखती है, अभी केवल साढ़े नौ बजे हैं। ऐसी क्या जल्दी है, दस के पहले ही वे पहुँच जायेंगे...और फिर उन्होंने इस प्रकार की चिन्ता की ही कब है।...कैसरबाग के आगे धीरे-धीरे रास्ते में भीड़ कम होती जा रही है, उन्होंने पैदल ही घर तक जाने का विचार कर लिया है। चाँदनी रात में, दिसम्बर के माह में पैदल चलने में एक अलग आनन्द है...सड़क की बिजली की रोशनी चाँदनी में कुछ धुँधली पड़ गई है और वे दोनों एक दूसरे से बात करते हुए चले जा रहे हैं, उनको समय का भान नहीं है, उनको स्थान का भी भान नहीं है...दोनों में कोई प्रसंग चल पड़ा है और उसी में उलझ रहे हैं—कोई किसी के समीप क्यों इतना आता है, क्या है जो दो बिल्कुल अपरिचित व्यक्तियों को इतने समीप ला खड़ा कर देता है और फिर ऐसा लगने लगता है कि जैसे वे सदा से अभिन्न हैं, वे एक दूसरे के साथ ही रहे हैं, और बिना एक के दूसरा रह नहीं सकता...यह सब क्या है? इसका क्या समाधान हो सकता है? क्या कहीं कोई तत्त्व है जिसे आत्मा या ऐसा ही कुछ कहा जा सकता है... और यह अपने पूर्व संस्कारों के कारण अपने परिचित को, अपने पूर्व-परिचित को जान लेती है, पहिचान लेती है। यह युग-युग का परिचय एक दूसरे को इतना समीप ला देता है कि हम बिना जाने आश्चर्य में पड़ जाते हैं, और वे अभिन्न हो जाते हैं—दोनों इसी प्रकार बातचीत के प्रवाह में बढ़ते जा रहे हैं...

अब पार्क के पास का घुमाव आ गया है, वे लम्बा रास्ता पार कर चुके हैं। वे निरपेक्ष भाव से सड़क पर चले जा रहे हैं...दोनों के हाथ में सामान है जो उन्होंने घर के सभी लोगों के लिये अलग-अलग खरीदा है। नीरा परीक्षा के बाद घर लौटेगी, उसे आरती के लिए, संध्या के लिए और राजे के लिए भी कुछ न कुछ ले ही चलना है...परीक्षा के बाद उसकी तबियत बहुत अच्छी नहीं है, पर वह सब के लिए कुछ न कुछ ले अवश्य जायगी। श्याम को अपने आप से ही छुट्टी कहाँ मिलती

है । नरेश को मार्केटिंग के लिए नीरा के साथ आना पड़ा है...वह परीक्षा देने लखनऊ आई है और उसे प्रयाग से उसकी सहायता के लिए आना पड़ा है...नीरा जीजी की ज़िद के आगे किसी की क्या चल सकती है। यह रत्न भी ऐसी क्या परीक्षा है जो बी० ए० पास लड़की के लिए आवश्यक हो, पर हिन्दी की स्वतंत्र परीक्षा देना नीरा के लिए देश प्रेम से भिन्न नहीं है...

...अब वे जनरल पोस्टआफ़िस के पास पहुँच चुके हैं, और बातें उसी प्रकार चल रही हैं—यह ऐसा क्या है जो आदमी को इतना अपनापन का भान होने लगता है...यह ऐसा क्या सचमुच होता है कि किसी के बिना कोई रह नहीं पाता, कोई किसी के बिना व्याकुल हो उठता है। यह कौन सा सूत्र है। कौन सा तन्तु है, जो दो प्राणियों को इस प्रकार अभिन्न बना देता है...जीवन क्या इस तन्तु से ही बना हुआ है,...और ये तन्तु हैं कि जीवन को कस कर बाँधे हुए हैं। लगता है कि जिस दिन ये तन्तु ढीले पड़े, या इन का ताना बाना ढीला पड़ा उसी दिन सारा जीवन बिखर जायगा, फैल जायगा...निश्चय ही आदमी के जीवन में कोई अपनेपन का तन्तु रहता ही है जो उसके जीवन को रस देता है, अर्थ देता है—बातचीत के प्रवाह में उन्हें मार्ग का भान नहीं हो रहा है, उनको अपने-अपने सामान का बोझ भी नहीं महसूस हो रहा है।...वह जैसे किसी अनुभूति में तिर रहा है, कोई बहुत सुखद, बहुत कोमल अनुभूति उसे आत्मविस्मृत किये हुए है। वह उसी अनुभूति के विस्तार में जैसे बहुत सहज भाव से तिर रहा है, तैरता जा रहा है, उसे किसी अन्य बात का आभास नहीं रह गया है...उसे लग रहा कि कोई कोमल स्पर्श उसे आच्छादित कर रहा है, वह किसी अत्यन्त स्निग्ध वस्तु से आलिंगित है...नीरा बहुत डूबी-डूबी उसके साथ चली जा रही है।...वे अनजान ही बनारसी बाग की सड़क से नीर के चाचा जी के घर की ओर बढ़ रहे हैं...

...ड्राइंगरूम के बगल के कमरे में वह नीरा के चाचा के सामने खड़ा

हुआ है, श्याम एक कोने में आतंकित सा खड़ा है और नीरा बीच की मेज़ पर बैठी हुई है, उसके मुख पर आकस्मिक विस्मय का भाव है और वह स्वयं सारी परिस्थिति समझ नहीं पा रहा है...यह सारे वातावरण में ऐसा तनाव क्यों हे? यह ऐसा अनुचित या अन्यथा क्या हो गया है? सामने क्षुब्ध पुलिस आफ़िसर अहंकार में तना हुआ खड़ा है, उसने नीरा के चाचा को पहले भली प्रकार देखा भी नहीं है...उसके लिए उनकी भृकुटियों, उनकी क्रोध की मुद्रा का अर्थ अस्पष्ट ही है। एकाएक प्रश्न होता है—कै बजा है?...नीरा की ओर देखकर वह अनायास उत्तर दे देता है—'दस के लगभग, नीरा जी की घड़ी में कैसरबाग़ के पास साढ़े नौ बजे थे।'—'और आपकी घड़ी में तो अभी नौ ही बजे होंगे...जनाब मैं तो केस पुलिस में लेनेवाला था, कहिए भाग अच्छा था।' वह कुछ समझ नहीं पा रहा है, यह सब क्या है। उसने सम्भ्रम की स्थिति में नीरा की ओर देखा, उसके मुख पर आक्रोश का भाव उदय हो रहा था। फिर कहा जा रहा है—'जनाब ग्यारह बज चुके हैं और आप इतने भोलेपन से कह रहे हैं। मैं जानता हूँ, समझता हूँ।' वह स्तब्ध है, मौन है। एकाएक उसे जैसे कुछ अनुमान हुआ—'आप मुझे क्या समझते हैं।' उसके स्वर में आक्रोश था, विद्रोह की भावना अनुगुंजित थी। और उसी का उत्तर उधर से मिला भी—'मैं, मैं तुम्हारे जैसे लोगों को लोफ़र समझता हूँ, समझे।' उसके सारे शरीर में जैसे बिजली कौंध गई, उसे लगा उसके सपाइनल से कोई वस्तु झनझनाती हुई रेंग गई है और उसके सारे शरीर में वही झनझनाहट स्नायुओं में होती हुई व्याप गई है...फिर उसके मन का तनाव बढ़ा और उसने आवेश में आँखें उठा कर कप्तान साहब की ओर देखा, उसे लगा कि एक क्षण में वह उन पर झपट कर अपने पंजों में कस लेगा।...पर उसके सामने ही मेज़ पर नीरा बैठी है, उसके मुख पर से जैसे सारा रक्त विलीन हो गया है और वह किसी लज्जा तथा अपमान से एकदम सफ़ेद होती जा रही है। उसका सारा आवेश उसे देखते ही उतरता जा रहा है, उतरता जा रहा...वह फिर

लज्जित सा संकुचित सा खड़ा रह जाता है। वह खड़ा सुनता रहा... आफ़िसरी स्वर कहता जा रहा है—'ऐसे लफ़ंगों को मैं खूब पहचानता हूँ...भाई साहब, उनको क्या कहूँ...मुझे उनका ही ख़याल है, नहीं आज तुमको पता चल जाता...अच्छा जी अब चलते बनें, नमस्ते।' उसका सारा शरीर जैसे जड़ हो गया हो, उसके सारे प्राण जैसे किसी ने खींच लिए हों...उसकी चेतना मूर्च्छित होती जा रही है, पर वह अपने को किसी प्रकार सँभाले खड़ा रहा, उसे लग रहा है कि उसका अस्तित्व पिघल-पिघल कर बहता जा रहा है...उसने नमस्ते सुना, उसके व्यंग को महसूस किया, दृष्टि ऊपर की, वह जैसे पुनः आक्रोशपूर्ण प्रोटेस्ट करना चाहता हो। पर सामने उसने देखा नीरा का मुख बिल्कुल सफ़ेद हो गया है, जैसे उसका सारा शरीर मृत हो...उसका मन फिर स्नायुओं की झनझनाहट के माध्यम से उसी संवेदन का अनुभव करता है...वह यंत्र के समान ही वहाँ से चल देता है, और बरामदे की सीढ़ियों से नीचे उतरते समय उसे लगा जैसे कोई वस्तु नीचे गिर गई है, पर अधिक वह कुछ भी समझ सकने में असमर्थ है...वह उसी प्रकार आत्मविस्मृत सा आगे बढ़ता जा रहा है...

...वह अब हज़रतगंज पार कर चुका है, उसकी जगरमगर करती हुई दूकानें पीछे छूट चुकी हैं और अब वह गोमती ब्रिज की ओर मुड़ गया है...लेकिन अभी तक उसको होश नहीं है, उसकी चेतना वापस नहीं आ सकी है। उसके मन का वह आतंक और भय की संसनाहट वाली स्थिति बीत चुकी है, उसके स्नायुओं का सारा तनाव और फिर उसके बाद की झनझनाहट बहुत पहले बीत चुकी है...अब तो केवल अजब तरह का रिक्त उसे घेर रहा है, उसे लग रहा कि उसके जीवन की सारी सार्थकता ही नष्ट हो गई है। अब उसका जीवन मात्र निरर्थक है, सारहीन है, उसमें जीने के लिए कोई तन्तु का सहारा शेष नहीं रहा है...पर यह सब वह सोच नहीं रहा है, क्योंकि उसके मन की सोचने जैसी स्थिति ही कहाँ है? यह सब तो उसे ऐसा लग भर रहा है,

जिसका कारण भी उसे ज्ञात नहीं। उसके लिए इस प्रकार का यह एक दम नया अनुभव है, उसे ऐसा लग रहा है जैसे उसे अब किसी को मुख भी नहीं दिखाना चाहिए? उसका भरी सभा में अपमान किया गया है, जिससे उसे अब कभी मुक्ति नहीं मिल सकती...सारा संसार जान गया है कि वह लोफ़र है, आवारा है। वह सबके सामने कैसे जा सकेगा।

...वह गोमती ब्रिज के एक गुम्बज पर खड़ा है, उसे लग रहा है कि वह अत्यधिक थक गया है, उससे चला नहीं जा रहा है, आगे बढ़ना निरर्थक भी हो जैसे, वह कहाँ जायगा? अपने प्रिय मित्र मनहर के पास...उसको वह अपना मुख कैसे दिखायेगा, वह संसार को किस प्रकार फ़ेस कर सकेगा?...आज उसे लग रहा है...ऐसा क्या हो गया है जिसके लिए उसको इतनी विरक्ति हो रही है...वह इतना चेतना-शून्य हो गया है...पर उस दिन वह सब कुछ भूल चुका था, उसके मन में केवल एक भावना रह गई है...उसका बहुत बड़ा अपमान हुआ है, उसकी भावना को बहुत बड़ी ठेस पहुँची और अब वह अपनों के सामने किस प्रकार जा सकेगा...वह लोफ़र है, गुण्डा है। उसने इसकी कभी कल्पना भी नहीं की थी कि उसको कोई इस प्रकार भी कह सकता है।...नीचे नदी का पानी प्रवाहित हो रहा है, बहुत नीचे पानी की सतह चमक रही है, चाँदनी के प्रकाश में पानी चमक रहा है, उसमें प्रकाश की धारा-सी चली गई है, चाँद की दिशा में...और उसके मन में बहुत तीव्र भावना उठ रही है कि वह जल की इस धारा में मिल कर एक हो जाय...इस शीतल धारा से शरीर का ताप शांत हो जायगा। वह इस इच्छा से आक्रांत हो रहा है, धीरे-धीरे उसकी यह इच्छा तीव्र होती जा रही है...फिर उसे एकाएक इस बात का अनुभव होता है... उसका मन हवा के शीतल झोंके से कुछ शांत होता है और वह वस्तु-स्थिति को कुछ समझता है, अपनी उस भावना को भी समझता है... उससे आतंकित होकर वह आगे बढ़ जाता है...

...वह मनहर के सामने बैठा है, उसने सारी बात मनहर को बता दी है। मनहर एकाएक उत्तेजित हो जाता है—'इसका एक मात्र उत्तर था एक घूसा, आई नेवर थॉट दैट यू आर सच ये कॉवर्ड...तुमको एक घूसा कस कर देना चाहिए था...यू मस्ट हैव गिवेन ए लेसन...इस प्रकार चुप रह कर तो तुमने अपराध स्वीकार कर लिया है। नीरा जी क्या कहतीं, एक स्त्री इस प्रकार की असभ्य और नंगी बातों का क्या जवाब दे ही सकती है...इसका तो एक यही उत्तर होता !'—यह कहते हुए, आक्रोश में भी मनहर स्टोव पर ठंढे हुए खाना को गरम कर रहा था, उसने उसकी इस सम्बन्ध में एक बात भी नहीं सुनी कि खाना वह नहीं खा सकेगा...

दोनों अपने बिस्तरों में जा चुके हैं...दोनों अनुभव कर रहे हैं कि अभी कोई सो नहीं सका है...दोनों जैसे कुछ कहना चाहते हैं, पर वातावरण की नीरव शांति को भंग करने का साहस नहीं हो रहा है...पर आकस्मिक रूप से ही मनहर ने कहा—'नरेश, एक बात मैं पूछना चाहता हूँ...' वह उत्तर नहीं देता, लेकिन उसके मौन में स्वीकृति है—'हम लोग जैपुर में साथ-साथ दो वर्ष पढ़ते रहे, हमारी अभिन्नता प्रसिद्ध रही है...पर मेरे लिए भी यह स्पष्ट नहीं रहा कि नीरा और तुममें वास्तविक भाव किस प्रकार का रहा है...प्लीज़ डोंट मिसअंडरस्टैंड मी...मैं अपनी ओर से कुछ भी आरोप नहीं करता, पर...नरेश कहीं अस्पष्ट-सा ज़रूर मुझे सदा लगा...मैं कहता हूँ नीरा जी का तुम्हारे प्रति अत्यंत स्नेह और ममत्व रहा है और तुम भी उनको अत्यधिक मानते रहे हो...।' वह क्या कहे, कहने जैसा क्या है...मनहर की वाणी में कहीं कोई आरोप नहीं है, कहीं कोई आग्रह नहीं...उसके इस सहज प्रश्न का वह क्या उत्तर दे...पर चुप कैसे रहे—'भाई मनहर...क्या तुम्हारे विचार से भी सहज स्नेह की कोई स्थिति नहीं ?'...फिर कुछ देर कमरे के अँधेरे में मौन छाया रहता है...जान पड़ता है उसी के माध्यम से उनका वार्तालाप चल रहा हो...फिर मनहर बहुत स्नेह के साथ कोमल भाव से कहता है—'ऐसा

नहीं, तुम मुझे ग़लत समझने की भूल न करना...मैं केवल सम्भावना की बात कर रहा हूँ, केवल अपनी भावना की बात कर रहा हूँ...'

...चारों ओर कमरे में घुप अँधेरा है, शायद मनहर सो चुका है, पर उसे नींद नहीं आ रही है। उसके मन से पहले वाला सारा बोझ उतर चुका है...उसे लग रहा है जैसे वह एक बहुत भयानक स्वप्न देख कर उठा है और उसकी स्मृति धीरे-धीरे विलीन होती जा रही है...अब केवल उसकी धुँधली याद भर शेष रह गई है। उसके मन में अन्य कल्पना जन्म ले रही है...'जवान लड़की के साथ इतनी रात को घूमने का क्या अर्थ हो सकता है...' हाँ...नीरा जवान है, उसने क्या कभी सोचा होगा ? उसको क्या कभी इस बात का अनुभव हुआ है ? वे दोनों न जाने कितनी बार कितनी रात तक अकेले रहे हैं, घूमे हैं...पर उसने कभी सोचा नहीं कि नीरा जवान है और वह भी जवान है।...इस दृष्टि-कोण से उसने इस प्रसंग में आज तक विचारा क्यों नहीं...हाँ...एक बार शांता ने इस ओर संकेत अवश्य किया था, पर उस ओर फूफा जी ने ही ध्यान नहीं जाने दिया। आज उसे एकाएक इस घटना से इस बात को सोचनेकी प्रेरणा मिली है, उसे उस समय की याद आ रही है जब वे कुछ देर पहले अमीनाबाद से वापस लौट रहे थे।...नीरा उससे बिल्कुल सट कर चल रही है और दोनों एकदम आत्म-विस्मृत हैं...ऐसी ही घटनाएँ उसके मस्तिष्क में घूम रही हैं। रात कमरे में घनी हो गई, वह लिहाफ़ के अन्दर गरमी का अनुभव कर रहा है।...वह सब कुछ भूल जाता है, उसे केवल स्मरण है...उसे अनुभव हो रहा है जैसे उसके समीप यौवन है, मांसल शरीर का कोमल स्पर्श है, उसके सारे अस्तित्व को वह स्पर्श रोमांचित कर रहा है...वह उस अनुभूति से अभिभूत होता जाता है...

सड़सट...एक रेलवे क्रासिंग पार हो गई...उसका ध्यान उसकी ओर एकाएक आकर्षित हो गया...उसे लगा अब दौसा स्टेशन समीप है। दौसा स्टेशन से उसका विशेष परिचय है, यहीं से उसे मोटर-यात्रा में

माधोपुर के लिए मुड़ना पड़ा था, फूफा जी के साथ दौरे पर उधर वह कई बार गया है। इसी यात्रा में उसने सबसे पहले बिना पानी की बहुत विस्तृत नदी देखी थी...उसे याद आ रहा है...मोटर दौड़ती हुई एक लम्बे-चौड़े नदी के पेटे को पार कर रही है और कई फलाँग दौड़ने के बाद ज्ञात हुआ कि यह केवल बरसात में अनन्त विस्तार के साथ बहने वाली नदी है...यही मार्ग है जिससे उसने रणथम्भौर की यात्रा की थी और उस यात्रा में नीरा भी उसके साथ थी। उसके निकट साहचर्य का वह पहला मौक़ा था...ट्रेन कैंचियाँ पार कर रही है, सटसट, खट-खटखट...

नीरा की दृष्टि के सामने पहाड़ी श्रेणी घूमी हुई है, उसके बाईं ओर के शृंग पर अब धूप छाई हुई है और सारी शृङ्खला छाया में है। बहुत समय से वह उसी दृश्य को एकरस भाव से देख रही, ऐसा जान पड़ता है...प्रकृति के इस विस्तार में वह अपने खोयेपन को विस्मृत कर देना चाहती हो जैसे! दक्षिण में होता हुआ सूर्य पश्चिम की ओर मुड़ चुका है, इस प्रकार पूरी श्रेणी के पीछे से होता हुआ वह पूर्व की ओर की चोटी पर इस समय चमक रहा है! पर सारी शृङ्खला की छाया ने वातावरण को सूने और निराश भाव से भर दिया है...और यह उदासी उभरती आती है, फैलती जा रही है...नीरा के मन में ऐसी ही एक श्रेणी उदास भाव से फैली है, बाहर की श्रेणी पर जो निराशा की छाया है, वह उसके मन के वातावरण में खोकर मात्र उदासी में बदल जाती है। यह उदासी भी उमड़ती हुई कहीं बहुत दूर तक गहराई में फैले हुए मार्ग में व्याप कर खो जाती है...और, और फिर एक मात्र शून्य से सारा मार्ग भर जाता है...उसने मनोयोग से देखना चाहा, उसने दृष्टि को बरबस बाहर की ओर फैला देना चाहा, सामने की श्रेणी पर उसको जैसे कुछ आधार मिल रहा है...पूर्व ओर की ऊँची चोटी पर धूप ऊपर उठती जा रही है और सम्पूर्ण शृङ्खला पर बहुत धीरे-धीरे प्रकाश हल्का पड़ा जा रहा है...उसको लगा यह क्या है, यह क्या है?...

...बाँईं ओर के शिखर पर धूप चढ़ती जा रही है, उसे लगने लगता है यह धूप बहुत तेज़ी से ऊपर उठती जा रही है, एक प्रकार से भाग रही है!... और पूरी श्रेणी, सारी घाटी अनजान ही एक छाया से आक्रान्त

होती जा रही, प्रकाश कम होता जा रहा है, हल्का होता जा रहा है और...यह एक छाया है जो इस प्रकार इस सारी श्रेणी और घाटी को प्रसती जा रही है, चुपचाप। और न कहीं घाटी है, न श्रेणी ही... केवल उसकी अपनी ज़िन्दगी की एक घाटी है, जिसके दोनों ओर तिरछी पहाड़ी शृङ्खलाएँ चली गई हैं जो दूर से प्रत्येक देखने वाले को मिली-जुली एक ही दिखाई देती हैं...। उसकी ज़िन्दगी के पीछे से चुपचाप उसकी ज़िन्दगी का सूरज निकल गया है, उसको उसका अधिक उष्ण अनुभव भी नहीं हो सका। पर इस समय सूरज की हल्की कोमल धूप उसके जीवन के पूर्वी शिखर पर चमक रही है...चमक वह ज़रूर रही है, पर इतनी ऊँचाई पर है कि उसका एहसास मात्र वह कर पा रही है...और यह एहसास भी क्या, जब उसके जीवन की सारी घाटी-श्रेणी में प्रकाश हल्का होता जा रहा है, धूमिल होता जा रहा है...यह क्या है जो इस प्रकार चुपचाप उसके जीवन में इतने धीरे-धीरे, इतने चुपचाप प्रवेश करता जा रहा है...एक शिथिलता उसकी उदासी को अतिक्रांत करती जा रही है और शायद फिर ऐसा भी हो कि उदासी, शिथिलता, निष्क्रियता भी धुँधले हल्के होते प्रकाश के समान ही मिटती जाय, मिट कर छाते हुए धूमिल अन्धकार के रूप में डूबती जाय...और फिर यही अन्धकार है जो अनन्त शून्य में उसके सारे जीवन को निमग्न कर रहा है...

...इस भावना से वह अभिभूत होती गई, फिर एकाएक विकल होकर उसने उसको प्रयत्न के साथ झटका देकर अलग करना चाहा, पर यह ऐसा भी नहीं हो पाता! उस घिरते हुए अन्धकार, जो वास्तव में अन्धकार से कहीं भारी है, ऐसे शून्य से उसे मुक्ति नहीं मिल पा रही है।...वह केवल समर्पण करके ही उससे अपने को बचा पाती है...उसके दृष्टिपथ पर लोगों का एक समूह आ जाता है, वे तिरछी घाटी में होकर श्रेणी को पार करते हुए उसके दृष्टिपथ में आ जाते हैं...वे नगर की ओर आ रहे हैं...शायद संख्या में अधिक नहीं हैं, छः

या आठ, आगे-पीछे उलझ कर चल रहे हैं, इसलिए निश्चित संख्या कह सकना सरल नहीं है। साफ़ों के बीच लुगड़ों की झलक आ जाती है, स्त्री-पुरुष दोनों हैं...नगर आ रहे हैं, क्यों ? बाज़ार-हाट करने...शायद। कोई और प्रयोजन भी हो सकता है...सन्ध्या हो रही है, जाड़े में सन्ध्या कितनी जल्दी आ उपस्थित होती है। इनको यदि वापस जाना हुआ ? गल्ता घाटी के आगे के किसी गाँव के ही लोग हो सकते हैं...पर नगर के लोग भी तो हो सकते हैं जो गोट के लिए गल्ता गये हों और अब वापस आ रहे हों ! घाटी के मोड़ पर वे लोग ओझल हो जाते हैं। वह देख रही है उसी दिशा, लगभग उसी स्थल पर...उसे लग रहा है जैसे लोग अब भी पार कर रहे हों...वह सोच रही है...

...ऐसा ही होता है ..जब सन्ध्या का समय निकट आता है, तब उस वेला में प्रत्येक बाहर रहने वाला पथिक घर की ओर मुड़ता, वापस लौटने के लिए उत्सुक होता है...नगर का नगर की ओर, गाँव का गाँव की ओर जाने के लिए। हल्के होते प्रकाश से, धीमे होते प्रकाश से सबको सूचना मिल जाती है कि अब धीरे-धीरे अँधेरा आने वाला है, वह है कि सबको छा लेगा, ग्रस लेगा ; वह है कि सबको अपने व्यापी प्रसार में डुबो लेगा, और...और यह हमारी सारी चेतना को पी लेगा, हमारे सारे अस्तित्व को न जाने कैसे शून्य से भर देगा। प्राणी आकुल व्याकुल हो कर अपने नीड़ की ओर वापस लौट पड़ता है कि इस अनिवार्य के पहले सुरक्षित हो सके...पर कितने हैं जो इसके सर्वग्रासी प्रसार से बच पाते हैं...लेकिन वह स्वयं इस इनएविटेबिल को फ़ेस करने के लिए सदा तैयार रही है...

...पर आज उसने अनुभव किया है कि यह इतना सरल नहीं है, अनिवार्य को सह पाना इतना आसान नहीं है !...यह कौन सा आकर्षण उसके अन्तर्मन में जन्म ले रहा है जिसमें शक्ति नहीं, आवेग नहीं, गति नहीं...केवल पिछली स्मृतियों का मोहक भ्रमजाल है...पर उससे अपने को छुड़ा पाना सरल नहीं है ! यह है कि इसमें बिना किसी शक्ति

के सघनता है, संवेदन है, और यह ऐसा संवेदन कि जिसको उसने जीवन से पहले जाना ही नहीं, पहिचाना ही नहीं...जीवन का यह कौन सा प्रकाश है जो छाती हुई अन्धकार की छाया में झलक रहा है, दूर बहुत दूर उस शिखर पर फैले हुये आतप के सामने ही। उसके मन में उसी धूप का प्रसार जैसे फैला हुआ है और वह उसी के मध्यम से अपने गत जीवन को आज एक बार देख लेना चाहती है। उसे लग रहा है जैसे उसके गत जीवन में कुछ ऐसा घटित होता रहा, जिसकी ओर उसने देखकर भी नहीं देखा, जान कर भी नहीं जाना! वही अज्ञात, अनुभूत आज उभरता आ रहा है। उसके आज इस प्रकार एकाएक सामने आ उपस्थित हो जाने से वह चकित हो, विभ्रम में हो, ऐसा भी नहीं जान पड़ता! शायद इस घिरते हुए शून्य के वातावरण में यह ऐसा सम्भव भी नहीं...पर वह अत्यन्त सहज स्वाभाविक ही लग रहा है...

...डाक्टर, हाँ...डाक्टर ने उसे अपनी ममता दी, यह वह आज भी मानती है, पर उस दिन नरेश भइया जिस प्रश्न की ओर संकेत कर रहे थे...वह ऐसा भी हो सकता है। वह स्वयं ठीक उस दिन उत्तर नहीं दे सकी है...लेकिन कुछ था जिसने उसके जीवन को मेडिकल कॉलेज के दिनों में एक दम बदल दिया था और उसमें डाक्टर विपिन का हाथ था, उसने उसको जीवन में एक बार वह आशा दी जिसको वह सदा के लिए भूल चुकी थी...वह जी सकेगी, वह इंस्टाइनल टी० बी० से बच सकेगी, इसका वह क्या भरोसा कर सकती थी! पर डाक्टर के अनुसार उनके प्रोफ़ेसर ने उसको मुक्त कर लिया है, उसे मृत्यु के मुख से निकाल लिया है...और उसी समय से उसके जीवन का वह स्वप्न प्रारम्भ होता है जो उसके जीवन का उस प्रकार का सबसे पहला और अन्तिम स्वप्न था...न जाने कितनी रंगीन कल्पनाएँ आकर चारों ओर से उसे घेर लेती हैं, न जाने कितनी अभिलाषाएँ मन को कितने कोनों से आकर उसको गुद-गुदाने लगती हैं। आज उसे याद आ रहा है...उसके मन में एक चित्र

उभर रहा है जिसे उस रूप में उसने कभी नहीं देखा, अनुभव नहीं किया था, आज वह एकदम नये रंग-रूप में उभर रहा है...

...वह अमीनाबाद से वापस आ रही है, वह परीक्षा दे चुकी है, वह घर लौटनेवाली है। नरेश भइया अपनी परीक्षा से हारे थके हैं, उनका मन इस प्रकार की परीक्षाओं में बैठने का कभी नहीं रहता है, फिर भी उन्हें सबके दबाव से बैठना पड़ा है...वे उसके आग्रह से लखनऊ आये हैं।...उनका मन बहुत प्रसन्न नहीं है और यह जान कर भी वह उन्हें मार्केटिंग के लिए घसीट लाई है...पर वापसी में वे प्रसन्न होकर ही लौट रहे हैं...दोनों बातों में भूल गये हैं...उसे लग रहा है, वह अपने हृदय में बहुत निकट, बहुत समीप किसी प्रिय वस्तु का अनुभव कर पा रही है। नरेश भइया, उनकी बातों में उसे न जाने कैसा आकर्षण का अनुभव होने लगता है, ऐसा नहीं कि उसने उनकी सब बातें सदा मान ली हों, ऐसा नहीं कि उन दोनों में कभी कोई मतभेद ही न हो...पर उसे भइया की बात ने सदा प्रेरित किया है...उसे काल-स्थान का कोई भान न हो सका।

...और...और उन्हीं भइया को उसके ही सामने चाचा जी ने इस प्रकार अपमानित किया...वह मेज़ पर बैठ गई थी, वह आनन्द में उल्लसित सी अपनी ख़रीद की चीज़ें सब को दिखाने के लिये उत्सुक थी कि उसी समय चाचा ने भइया से प्रश्न किया—'तुम कहाँ पढ़ते हो।' भइया ने सहज भाव से उत्तर दिया—'इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम० ए० फ़ाइनल इन हिस्ट्री,' उसे उसी समय लगा कि चाचा के स्वर में तीखा व्यंग है, और भइया ने भोले भाव से उत्तर दे दिया है। चाचा ने जैसे उन्हें पहला चाटा मारा हो—'तुमको यही पढ़ाया जाता होगा'—उनके स्वर में कर्कशता है; भइया हतप्रभ होते हैं, वे मौन हैं, और चाचा कह रहे हैं—'मैं केस पुलिस को देनेवाला था, ग्यारह बज चुके हैं और आप घूम रहे थे अमीनाबाद...क्या हक़ है तुमको इस प्रकार किसी के

घर की लड़की के साथ अकेले घूमने का'...वह समझ नहीं पा रही है कि इसमें दोष भइया का कहाँ है, यदि चाचा को कुछ कहना है तो उससे ही कहना चाहिए। वे उसे डाँट सकते थे, मार भी सकते थे...पर इस प्रकार बिना समझे भइया को अपमानित करने में उनका क्या उद्देश्य हो सकता है। भइया को एक बार आक्रोश आया भी, पर वे मेरी ओर देख कर ही शायद रुक गये और चाचा उनको अपमानित करते जा रहे हैं। वह सुन रही है...एक बार उसने संकल्प भी किया कि वह स्वयं उनकी रक्षा करेगी, पर वह लज्जा से गड़ी जा रही है, यह क्या कहा जा रहा है—'जवान लड़की के साथ...क्या मतलब हो सकता है, मैं खूब समझता रहा हूँ...मैं तुमको लोफ़र समझता हूँ, गुण्डा, लफंगा, समझे।' नीरा के लिये सुन सकना कठिन से असम्भव होता गया, वह जड़ होती गई, फिर उसे जैसे कुछ दिखाई नहीं दिया, सुनाई भी नहीं दिया। उसे पता नहीं चला भइया कब वहाँ से चुपचाप सारा अपमान पीकर चले गये। वह समझती है, भइया का इस प्रकार क्या किसी प्रकार का अपमान कभी नहीं हुआ...वह अपने व्यवहार और संस्कारों में कितने शालीन हैं...वह स्वयं ही जीवन की निश्चित व्यवस्था पर विश्वास करके चलते रहे हैं। और सबसे अधिक लज्जा की बात है...वह आज भी उस बात की कल्पना से रोमांचित हो जाती है...नरेश भइया के साथ इस प्रकार कोई कह सकता है...उसकी उसे कल्पना भी नहीं रही। पापा ने जिस प्रकार उनको रखा है, उस वातावरण में इस प्रकार की बात के उठने का कुछ अर्थ ही नहीं था...वह जवान लड़की है, उसे किसी जवान लड़के के साथ इतने रात बीते नहीं घूमना चाहिए। यह उस दिन बिल्कुल नया भाव उसके मन पर उभरा था, जो इतना आकस्मिक, इतना अपमानजनक था कि उसका सँभाल सकना भी उसके लिये संभव नहीं हो सका...ऐसा क्या किसी ने भी उससे कभी कहा है?...बींदनी ने अपने सारे आक्रोश, और ईर्ष्या में भी ऐसा कुछ नहीं कहा...

...वह बेहोशी की सी हालत में रात भर बिताती है...सुबह

की झाँसी एक्सप्रेस से वह चलती है, उसे इस बात का ध्यान नहीं है कि वह इस बीच में किस प्रकार व्यवहार करती रही। पर वह प्रायः चुप रही, कोई अशोभन बात उसने अपनी ओर से नहीं की, नरेश भइया की बात के अतिरिक्त कोई अन्य बात उसके मन के ऊपर नहीं आ सकी... कई स्टेशनों के बाद उसे कुछ होश आ सका। श्याम ने जीजी की भावना को समझ लिया था, वह उसका ध्यान बटाता रहा। अन्त में उसने अपने आप को प्रकृतिस्थ कर लिया है, ट्रेन के शीतल झोंकों से उसका मन उस सघन बोझे से मुक्त हुआ है...अब वह सोच रही है कि नरेश भइया स्टेशन नहीं आ सके। वे इस शॉक से किस प्रकार उबर सके, वह यह जानने के लिए विकल हो उठी...श्याम ने अपनी ओर से जैसे उसका भाव पकड़ लिया हो—'जीजी, नरेश भइया से हम मिल सकते तो अच्छा होता। उनका हम लोगों ने बहुत बड़ा अपमान किया है, उनको चाचा जी से क्या मतलब था, हमारे कारण ही...पापा जी, ज़रूर इनकी ख़बर लेंगे, और वे तो पहले ही उनके यहाँ रुकने के पक्ष में नहीं थे,...नीरा को याद आ रहा है कि यह उसका ही आग्रह था कि जब शहर में अपने सगे सम्बन्धी हों तो इस प्रकार अन्यत्र रुकना ठीक नहीं लगता।...और अब वह स्वयं ही नरेश भइया के अपमान का कारण बनी है...उसने ही आग्रहपूर्वक उसे बुलाया था, नहीं उनका तो कहना था कि वह स्वयं कुछ दिन के लिये इलाहाबाद आ जाय...

...आगरा अहमदाबाद फास्ट पैसेंजर अछनेरा से आगे बढ़ चुकी है...अपनी-अपनी बर्थ पर वह और श्याम लेटे हैं, कम्पार्ट की एक बर्थ ख़ाली है...श्याम सो चुका है शायद, कम से कम वह काफ़ी देर से बोल नहीं रहा है। पर नीरा को नींद नहीं आ रही है...कल इसी समय की घटनाएँ उसके मन में घूम रही हैं। उसने दिन भर प्रसन्न रहने का प्रयत्न किया है, और वह सफल भी हुई है। उसे विश्वास है पापा उनके अपमान का प्रतिकार ज़रूर कर सकेंगे, कम से कम वे नरेश भइया को अपने स्नेह से प्रसन्न कर लेंगे...उसने कई बार देखा है, नरेश भइया के

लिये पापा के मन में बहुत स्नेह है और वे इस अवसर पर नीरा की रक्षा कर लेंगे, उसकी लज्जा से उसे मुक्त कर लेंगे...पापा ऐसे समय ज़रूर सहायता करते हैं। इस भाव ने उसे बहुत बड़ा अवलम्ब दिया... कम्पार्टमेंट की रोशनी बुझा दी गई है, केवल बाथ की लाइट शीशे से छन कर आ रही है।...

नीरा को नींद नहीं आ रही है। उसके मन में एक घुमड़न है जो उसे चैन नहीं लेने दे रही है...वह आँखें खोल कर कम्पार्टमेंट को देख लेती है, हल्का-हल्का प्रकाश छाया हुआ है, ट्रेन अपनी गति से झक-झक, खट-खट आगे बढ़ रही है। उसे लग रहा है कि सर्दी अधिक है, वह लिहाफ़ अपने ऊपर खींच लेती है, केवल उसका किंचित् मुख बाहर रह जाता है। श्याम ने सिर से पैर तक तान रखा है, ऐसी आदत है इसकी, इस प्रकार सोना अनहाइज़िनिक है।...पर उसके मन की बेचैनी कम नहीं हो रही है, उसे लग रहा है कि गाड़ी की घड़-घड़ उसे सोने नहीं दे रही है।...वह अपने मन को घेर कर सो जाना चाहती है...घिरते हुए मन में और ही कल्पनाएँ जाग रही हैं, उमड़ रही हैं...उस दिन उन कल्पनाओं में आतंक और आवेश का मिला रूप था और आज इतने दिनों बाद उसके मन में उनके लिए ही आकर्षण है...जैसे वह युवती है, ...उसे उस दिन ही क्यों लगा कि वह युवती है...न जाने कैसे मन किसी मांसल भाव से भर जाता है...उसके मन में उसका अपना शरीर ही जैसे अधिक व्यक्त हो जाता है।...उसे लगता है शरीर का, अपने शरीर का, इससे पहले उसने इस प्रकार अनुभव नहीं किया था...एक नया एकदम विचित्र अनुभव था।...

उसके अवयव अधिक व्यक्त अधिक मांसल हैं...उसे अपने वक्ष में किसी तनाव का अनुभव हो रहा है। उसके शरीर के स्नायुओं में उत्तेजनापूर्ण तनाव का अनुभव हो रहा है...उसका शरीर जैसे धीरे-धीरे उष्ण हो रहा है...उसे लगता है कि गर्मी बढ़ रही है, शायद कम्पार्टमेंट बिल्कुल बंद है। उसे जान पड़ता है कि उसके शरीर का तनाव किसी चीज़

को कस कर जकड़ लेना चाहता है और उसको इस सीमा तक कसता रहेगा जब तक सारा तनाव टूट कर बिखर न जाय।...धीरे-धीरे यह तनाव उसके शरीर की रग-रग में फैल कर सारी चेतना को झनझनाहट से उत्तेजित कर रहा है। उसे लगता है जैसे कोई अत्यन्त कठोर वस्तु उसे आलिंगनपाश में बाँधे हैं...नहीं, उसके तने हुए उष्ण आलिंगनपाश में कोई कठोर वस्तु है...एकाएक उसे लगता है 'वह उसे नहीं छोड़ सकती, उसके सारे अस्तित्व को उसी की आवश्यकता है, उसी को वह इतने समय से चाह रही है। वह भूल गई है कि वह यात्रा कर रही है, वह लखनऊ से एक विशेष मानसिक परिस्थिति में आ रही है...कुछ क्षणों के लिए उसे केवल उस कठोर वस्तु और उसके तनाव का अनुभव भर जान पड़ा। वह अपने सारे बल से उसे कसती जा रही है, कसती जा रही है...कसाव के साथ-साथ उसके सारे शरीर का तनाव भी खिंच-कर केवल वक्ष में केन्द्रित होता जा रहा है और उसने आकुल होकर अपने दोनों हाथों से अपने वक्ष को दाब लिया है...

एकाएक वह कठोर वस्तु जैसे विलीन हो गई है और उसके शरीर का बन्धन उसी स्थिति में रुका रह जाता है, उसका आलिंगन पूर्ण कसाव के बिना ही खुल गया है और उसके शरीर का तनाव उस वक्ष के केन्द्र से पुनः सारे स्नायुओं में वापस लौट जाता है। उसके मन की उमड़न महसूस करती है, यह तनाव टूटने की सीमा तक पहुँचे बिना उसको शान्ति नहीं मिल सकेगी, लेकिन उसके आलिंगनपाश से वह वस्तु ही छूट गई जिसे वह कसती जा रही थी...सारे शरीर में अजब-सी बेचैनी व्याप गई है और उसके लिए इस स्थिति के भावावेश में सो सकना असम्भव हो गया है...

...उस दिन वह सो नहीं सकी, ट्रेन की खट खटर-खटर धड़-धड़ के बीच वह तन्द्रा में डूबी रही, गाड़ी के हिलकोरे उसे इधर-उधर झुलाते रहे...आज उसे याद आ रहा है, क्योंकि उनकी सार्थकता का आभास जैसे मिल रहा है...वह आकाश में पंख पसारे उड़ रही है, वह किसी की

खोज में है, इस खोज में उसके मन में व्याकुलता स्पष्ट है...एक दूसरा पक्षी टाऊँ-टाऊँ करता उसकी ओर आ रहा है...पर वह पक्षी नहीं है और टाऊँ-टाऊँ ! वह एक शिखर पर बैठी है, उसके पास कोई युवक है...वह उसकी ओर देख रही है। नीचे का विस्तार उसके सामने फैला है...उतार पर ऊँचे-ऊँचे पेड़ों के बीच झाड़ियों पर अनन्त फूल खिले हुए हैं और उन पर अनेक रंग-रूपों की तितलियाँ उड़ रही हैं। उसके मन में धीरे-धीरे सामने का विस्तार समिट कर तितलियों पर खिंच आता है और अन्त में...उसके मन में कोई आवेग उठता है, वह उत्तेजित हो जाती है...उत्तेजित होकर वह उस युवक की ओर मुड़ती है... और युवक वहाँ से विलीन हो गया है।...वह अकेली एक हरी-भरी घाटी मे जा रही है, अभी घाटी का चढ़ाव है...जैसे घाटी है कि चढ़ती जा रही है, उसके दोनों ओर की पहाड़ी श्रेणियाँ पास ही पास चली जा रही हैं। वह मुड़कर देखती है, पीछे दूर पर बहुत दूर पर सर्पाकार पहाड़ी एकदम अकेली खड़ी है, उसे लगता है यह पहाड़ी सर्प उसके पीछे चल पड़ा है, वह आगे तेज़ी से बढ़ने लगती है। पहाड़ी के दोनों ओर के ढालों पर शाल और साखू के छोटे-बड़े पेड़ छाये हुए हैं...घाटी में नीरव उदासी फैली है। वह अकेलेपन से आतंकित हो रही है...वह घाटी के उस सिरे पर पहुँच जाती है जहाँ से उतार प्रारम्भ होता है, इस ओर घाटी नीचे की ओर उतरती चली गई है...वह भय और आतंक से अभिभूत हो चुकी है। चारों ओर का वातावरण उसे आक्रांत कर रहा है...उसे लगने लगा है कि वह पहाड़ी सर्प उसके बिल्कुल पास आ गया है...उसकी छाया उस पर पड़ने लगती है।...पर उसी समय बाईं पहाड़ी के बीच के शिखर से जैसे कोई उसकी ओर उतरता आ रहा हो...कौन है यह ? कोई अपरिचित...। यह युवक तो परिचित ही जान पड़ता है, पर यह किस प्रकार इस पहाड़ी बीहड़ रास्ते पर उतरता आ रहा है जैसे यह उसके लिए राजमार्ग ही हो...इस आतंकित करने-वाले वातावरण में उसे सहारा मिलता है। वह समीप आ गया है,

बिल्कुल समीप ही पहुँच रहा है, पर ऐसा लग रहा है कि उसका ध्यान उसकी ओर नहीं है, वह अपने आप में लीन है।...इस स्थिति से उसके मन का उच्छ्वास अधिक बढ़ जाता है, उसके वक्ष का स्पन्दन तीव्र हो जाता है। वह समीप आ गया है, उसकी दृष्टि अब भी उस पर नहीं पड़ी है, वह आवेश से उद्वेलित हो उठती है; उसके शरीर में रोमांच उभर आता है...वह अनुभव कर रही है कि उसके सारे शरीर में एक विचित्र प्रकार का तनाव है, एकाएक वह अपनी बाँहें उसकी ओर अनजान ही बढ़ा देती है...

नीरा ने देखा अब बाईं ओर की पहाड़ी की चोटी पर धूप अटकी भर रह गई है और सारी श्रृङ्खला छायामग्न होती जा रही है। ऐसा लग रहा है कि उस प्रवाह में सारी श्रेणी डूबती गई है और केवल उसका उस ओर वाला सिरा रह गया है, शेष सब निमग्न हो चुका है। पार जाने वाली घाटी और उसके ऊपर चक्कर काटती तारकोल की सड़क का आभास धूमिल पड़ चुका है...इस छाया के ऊँचे-नीचे विस्तार से नीरा का मन कुछ देर उलझा रहा, उसकी श्रृङ्खलाओं पर, उसकी ऊँची-नीची चोटियों पर, उसके असम उतार-चढ़ाव पर, उसकी तिरछी आभासित घाटी में... दृष्टि के सहारे उसका मन घूमता रहता है, भावहीन निरुद्देश्य ? वह जैसे किसी ऐसे भाव को पकड़ने के लिए उत्सुक हो जिसका ठीक अनुमान लगा पाना उसके लिए भी सम्भव नहीं है! वह किसी उद्देश्य के लिए भटक रहा है, और स्वयं नहीं जान पाता कि वह क्या है ?

शायद वह सारे जीवन इसी प्रकार भटकी है, उसे ज्ञात नहीं रहा कि उसका मूल भाव क्या है। उसका गन्तव्य किधर है ? फिर भी उसने कभी हार नहीं मानी, कभी इस बात का अनुभव होने नहीं दिया कि उसके सामने उसका उद्देश्य निश्चित नहीं है। आदमी जीता है, उसके सामने चलने का, जीने का लक्ष्य रहता है, आगे स्वप्न होते हैं,

जिनके सहारे वह आगे बढ़ता जाता है और रास्ते के सारे कष्ट, सारी पीड़ाएँ, बाधाएँ झेल जाता है।...पर, पर उसके जीवन में क्या रहा है जिसने उसे आगे बढ़ने का उत्साह प्रदान किया हो!...पापा नहीं रहे, वह मेडिकल कॉलेज फिर लौट नहीं सकी। सबने सोचा था कि नीरा ज़िद कर रही है, उसने भारी ग़लती की है, उसने किसी का कहना नहीं माना और किसी से अपने व्यवहार की सफ़ाई भी नहीं दी, माँ को भी नहीं, नरेश भइया को भी नहीं। उसका उत्तर था कि वह मेडिकल कॉलेज नहीं जायेगी, उसे लाभ ही क्या हुआ है...डाक्टर विपिन लड़ाई में चले गये हैं और प्रोफ़ेसर का कुछ ठीक नहीं, वे पूरे झक्की ठहरे। पर वह क्यों नहीं गई वहाँ? उसके सामने यह कभी रहस्य नहीं रहा है, उसने बहुत दिनों बाद नरेश को बताया है...वह अपने को धोखा नहीं दे सकती, किसी भी स्थिति में अपने को भ्रम में डाले रखना उसके लिए सह्य नहीं है...

...जैपुर में अच्छा अस्पताल है, विदेशी डाक्टर सदा रहते आये हैं, वह यहीं वह सब भ्रमजाल चला सकती है, अनेक प्रकार के परीक्षण, अनेक प्रकार के इंजेक्शन, अनेक प्रकार की टॉनिकें...इनकी यहाँ क्या कमी रही है। बीमारी से युद्ध करते रहने का अब भ्रम ही रखना है तो वह कहीं भी रखा जा सकता है। प्रारम्भ में नरेश भइया ने आग्रह किया, बहुत झुँझलाए, चाची को अन्त समय तक इस बात का दुःख रहा कि नीरा ने जान-बूझ कर अपनी दवा नहीं की।...चाची बहुत स्नेह-शील थीं और सबसे अधिक याद आने की बात है कि वे कितनी हँसमुख थीं, उनका मज़ाक़ हम सब लड़के लड़कियों से भी चलता था। माँ कभी कुछ कहतीं तो वे सहज ही उत्तर देतीं—'जीजी, आप सब के बीच है ही कौन जिससे फिर मज़ाक़ किया जाय।' नरेश भइया के स्वभाव की मृदुता चाची जी के स्वभाव से कितनी मिलती है, पर वे उनके प्रतिकूल कितने गम्भीर हो गये हैं। चाची का कहना था कि नरेश की गम्भीरता का कारण स्पष्ट है, उसको बहुत बचपन से दूसरों के पास रहना पड़ा

है, भइया-भाभी दोनों ने उसे एक-एक कर छोड़ दिया...चाची उसे सदा ज़िद्दी कहती रही थीं, और कहतीं दादा जी ने उसे बिगाड़ा है...। पर माँ ठीक कहती थीं कि क्या बहू तुम नहीं हो जिसके लाड़ प्यार से ये सारे लड़के बिगड़ते हैं, और नीरा की बात तुम ही ऊपर रखती हो।... चाची, हाँ, उन्होंने उसकी किसी बात को कभी मना नहीं किया, उन्हें शायद लगता कि नीरा ग़लत बात कभी नहीं कह सकती... चाची उसके लिए सखी के समान रही है।

उसने चाची से अपने मन की बात सदा निस्संकोच कहदी है...चाची पूछती हैं—'नीरा बताओ न क्या तुम किसी विशेष आदर्श का पालन करना चाहती हो...विवाह ऐसे न भी करो, ठीक है। क्या रखा है इस विवाह ही में जिसके लिए इतनी हाय-हाय की जाय!...मेरी रानी, पर यह निश्चय कर लेना कि संसार में लम्बा रास्ता पार करना है और तुम जानो यह रास्ता बड़ा बीहड़ है...सबसे विचित्र यहाँ के हैं लोग जिन्हें बिना दूसरों की चिन्ता किये कभी चैन नहीं पड़ती।...कहो भाई, हम अपना रास्ता आप चल लेंगे तुम अपना रास्ता नापो। तो उन्हें चैन कहाँ...नीरा रानी, इन मान न मान मेहमान लोगों से बच पाना बड़ा मुश्किल होता है।...हाँ, यह ठीक है, हमारा ज़माना और था, अब कुछ औरत भी कहने का साहस करने लगी है...पर न जाने क्यों मुझे अधिक भरोसा होता नहीं। संस्कार की बात ठीक है, मेरे संस्कार पिछले युग के हैं और मेरे लिए अधिक सोच पाना सम्भव नहीं है, पर नीरा, मेरी भी एक बात तुम मान लो, स्त्री अपने सहस्त्रों वर्ष के युगयुगीन संस्कार को एकदम नहीं छोड़ पायेगी!...और एक बात है, यदि कुछ बात हो जिसे कहने में तुम्हें संकोच हो, तुम कहो, मैं ज़िम्मा लेती हूँ...।' वह चाची को सदा से समझती रही है, उन पर उसका विश्वास है, इसमें कहने की क्या बात!—'अरे चाची, तुम भी मज़ाक़ करना नहीं छोड़ सकतीं, फिर कोई कैसी ही स्थिति में क्यों न हो...मैं सच कहती हूँ मेरे मन में इस विषय में कभी कोई भाव नहीं आया।'

...और उन्हीं चाची ने अपनी बीमारी की स्थिति में, अन्तिम समय में उसे लिखा था—'नीरा बेटी, तुम दुःख व्यर्थ करती हो, सचमुच उस बात से तुमको कष्ट मिला होगा, पर नयी चाची वाली बात मज़ाक़ न समझो।...यह ठीक है कि मैं नहीं मिलूँगी तो इसका तुम्हारे लिए बहुत अर्थ है। मैं तो अनुभव करती हूँ कि स्वयं मेरे बच्चे राजेश और संध्या से अधिक तुमको और आरती को यह बात कष्ट देगी! तुम्हारे पत्र से मुझे दुःख हुआ कि तुमने मेरी हँसी की बात को इस प्रकार लिया! तुम सच मानों तुम्हारी चाची इस बात को लेकर भी हँस सकती हैं, इसमें मेरे हृदय का कोई क्लेश नहीं, वेदना नहीं...मैं इस बात को लेकर आज दुखी-सुखी क्यों होऊँ कि जब मैं नहीं रहूँगी तब...। बच्चों की बात होती है, पर दोनों काफ़ी बड़े हो चुके हैं! अब तो पढ़ाई-लिखाई के कारण वैसे भी मुझसे अलग ही रहते हैं।...नीरा मैं तुमसे नाराज़ हूँ, मुझे भरोसा था कि मेडिकल कॉलेज में तुम ठीक हो सकोगी, और तुमने ज़िद पकड़ ली कि मैं जाऊँगी ही नहीं...तुम नहीं जानती कि हम सबको इसका कितना बड़ा क्लेश है। ठीक है, नहीं ही अच्छी हो पातीं पर मन का भ्रम तो मिट जाता...तुम स्वयं जानती हो मैंने जीने का सब पा लिया है, वैसे कभी आदमी की तमा नहीं मिटती और तुम यह भी समझती हो, जिसके आधार पर आदमी को अधिकाधिक जीने की आकांक्षा हो सकती है, वह भी मेरे लिए नष्ट ही हो चुका है, पर मैं हूँ कि कलकत्ता तक दवा कराने आ गई हूँ...कुछ नहीं जीने का अपना कर्तव्य है ही...तुम्हारे चच्चा अपना फ़र्ज़ कर रहे हैं और मैं अपना।...एक बात और पूछना चाहती हूँ, अपनी चाची को बताने में क्या—नीरा...सचमुच क्या तुमने किसी को निकट पाया है, तुम अब २४, २५ वर्ष की हो रही हो, फिर निरन्तर की बीमारी ने बहुत कष्ट दिया है तुम्हें... न जाने क्यों मुझे यह लगता रहा है कि तुमको जीवन में कहीं कोई ऐसी वेदना भी रही है जिसके विषय में हम सब कुछ भी नहीं जानते... बहुत सम्भव है यह मेरा भ्रम ही हो...। तुम मेरा हाल जानना चाहोगी,

पर मेरा हाल ही क्या है, वैसा ही चल रहा है...गले की नली का कष्ट धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है, यहाँ आने पर एक बार तो ऐसा अवश्य लगा था कि बहुत लाभ हो रहा है। पर एक मास के बाद ही वह सब लाभ विलीन हो गया और उसी तरह फिर रोग बढ़ता जा रहा है। मैं सोचती हूँ कि अब घर ही वापस चली जाऊँ...तुम्हारी ही चाची।...

और माँ...माँ ने उससे कहा नहीं। माँ जानतीं, नीरा मानेगी नहीं। एक बार निश्चय करके बात मान लेने का स्वभाव न बाप का कभी था और न बेटी का कभी रहा है।...वे चच्चा से कह चुकी हैं, उससे वे कहेंगी नहीं...वह माँ का भाव ठीक समझती है। उनके अनुसार उसने अपनी ज़िद से ही विवाह नहीं किया, और अब अपनी ज़िद से बीमार भी है। यदि वह सबकी बात मान कर इलाज करे तो क्या बात है कि वह अच्छी न हो।...माँ के मन को उसने तभी से समझ पाया है, जबसे वह मेडिकल कॉलेज नहीं जा सकी और पापा भी नहीं रहे...उनके अनुसार वह जिनका कहना मान सकती थी वे भी नहीं रहे, और अब कौन है जिसकी बात वह मानेगी। लेकिन वह किस प्रकार समझा सकती है कि माँ यह दवा दारू सब मन बहलाने के भ्रम हैं...जहाँ महीनों से मात्र अटकल के आधार पर सब कुछ चल रहा हो, वहाँ कोई निश्चित बात सोच पाना सम्भव नहीं है। और इस प्रकार का धोखा खाना ही है तो यहाँ क्या डाक्टरों की कमी है या दवा के प्रपंच की कमी है। यहाँ भी देशी विदेशी सभी प्रकार के, सभी कोटियों के डाक्टर हैं, और सभी रूपरंगों की दवा और टॉनिकें हैं, यहाँ के डाक्टर भी इंजेक्शन पर उतना ही विश्वास करते हैं जिस प्रकार माँ को अपने भगवान पर।...सब कुछ वैसे का वैसा ही तो है, डाक्टरों की प्रसिद्धि भी कम नहीं है। लेकिन माँ को समझाने का अवसर ही कहाँ है, वे खुल कर कभी कुछ कहेंगी नहीं, किसी का प्रतिवाद करेंगी नहीं, फिर दूसरे को कैसे अवसर मिले कि वह अपना दृष्टिकोण माँ के सामने रख सके। कहा

हो जाय तो माँ इस भाव से सुन लेंगी कि यह वे पहले ही जानती हैं और उनका विरोध ही कहाँ है, जैसी इच्छा हो करो।...नीरा को माँ का यह स्वभाव सदा दुर्लंघ्य लगा है। उनका मौन अडिग आग्रह, उस पर मौन भाव से सहते रहना उसको बहुत खलता रहा है। माँ चुपचाप सेवा करती रहेंगी, सिर पर हाथ रखकर स्नेह देती रहेंगी पर मन ही मन असंतुष्ट भी रह लेंगी। यह माँ कैसे कर पाती हैं ?...

...ताराभाथ, डाक्टर अंकिल ने उसे उसके निर्णय के लिये कभी गलत नहीं माना। उनका कहना था कि इतने लम्बे ट्रायल के बाद भी यदि मरीज़ को ट्रीटमेंट पर विश्वास नहीं जमा, तब आगे सब बेकार ही है। उन्होंने वास्तविक मन से रोग से लड़ने में कभी आगा-पीछा नहीं किया...उन्होंने यहाँ के बड़े से बड़े डाक्टर को कंसल्ट किया, उनसे बहस की, उनको केस समझाने का प्रयत्न किया या स्वयं समझने का प्रयत्न किया।... माँ का अंकिल पर बड़ा भरोसा रहा है, उन पर उनका विश्वास रहा है...इसलिये नहीं कि बहुत बड़े फ़िज़ीशियन हैं, वरन् इस लिये कि वे स्नेहशील व्यक्ति हैं, इसलिये कि मनुष्य पहले हैं डाक्टर बाद में।...फिर माँ ने उनकी बात पर इस विषय में क्यों विशेष आस्था प्रकट नहीं की, उसे याद आ रहा है...माँ के मन में कोई भाव है और उससे साफ़ प्रकट होता है कि माँ को यह मान्य नहीं है कि मेडिकल कॉलेज में लाभ नहीं था...और उन्हें नीरा के इतने साधारण कारण पर शायद विश्वास नहीं था, वे अपने अन्तर्मन में इसके लिये अन्य कारण खोजती थीं। कौन कारण माँ ने समझा होगा ?...उसे उन दिनों माँ के मनोभाव का हल्का आभास था, पर वह यह कैसे उसे बता पाती कि माँ वहाँ उसके खिलाफ़ दुरभिसन्धि थी और वहाँ उसका अच्छा होना मात्र उसी प्रवंचना का एक अंग था।...माँ इस बात को मान ही कहाँ पातीं, उसकी वेदना और पीड़ाओं के साथ यह भी रहा है। माँ की मानसिक पीड़ा को उसने सदा समझा है और उसके लिये उसे क्लेश भी कम नहीं हुआ। पर माँ का भाव इतना गहरा इतना गम्भीर रहा है कि उसको

किसी प्रकार हल्का नहीं किया जा सका, इसके लिये कोई अवसर जो नहीं मिल सका।...पर उसकी बीमारी के अधिक से अधिक क्रिटिकल मोमेंट में, पीड़ा और आन्तरिक क्लेश क्षणों में...

...उसे याद आ रहा है...वह प्राइवेटवार्ड के एकान्त कमरे में लेटी है। उसे लग रहा है जैसे वह मूर्च्छा से अभी जगी हो और उसको पुनः पेट के भीषण दर्द का अनुभव होने लगा है। उसको जो इंजेकशन लगा था, उसका असर उतर चुका है।...उसे दर्द की तीव्रता उतनी नहो जितनी उसकी तीव्रता की स्मृति का एहसास हो रहा है। लेकिन उसे याद आता है कि यह दर्द अभी आध घण्टे के भीतर ही पुनः उसी प्रकार तीव्रतम हो जायगा...पेट की आँतों में जैसे कोई निर्ममता के साथ छूरियाँ भोक रहा हो और धीरे-धीरे उसकी गहराई अधिकाधिक बढ़ा रहा हो।... याद आते ही कि दर्द बढ़ रहा है और वह असह्य हो जाने की सीमा की ओर अग्रसर हो रहा है, वह व्याकुल हो जाती है।...माँ उसके सिरहाने बैठी हैं, वे उसकी ओर देख रही हैं, वे उसकी आँखों से उसकी पीड़ा, उसकी वेदना को सहज ही जैसे पढ़ रही हों।...आँख खोलने के साथ ही उसने देखा था, माँ का हाथ उसके मस्तक पर आ गया है और तब से वह वहीं स्थित है...धीरे-धीरे माँ ने उसके माथे को सहलाना शुरू किया...वे कुछ बोल नहीं पाती हैं, पर उनकी आँखें ही कह रही हैं— नीरा बेटी, मेरी बेटी बहुत कष्ट है...मेरी रानी बेटी को बहुत सहना पड़ रहा है...न घबराओ, मेरी अच्छी बेटी घबराओ नहीं।

पर माँ की स्नेहमयी वाणी पापा के बाद धीरे-धीरे मौन होती गई है, ऐसा नहीं कि स्नेह कम हुआ हो, वह तो बढ़ा ही है, जैसे पापा का स्थान भी उन्होंने भरने का प्रयत्न किया हो। जीवन का कठोर चक्र, नियति का भीषण आक्रमण है कि उसने माँ को मौन रहने के लिये विवश कर दिया है, ऐसा नहीं कि उन्होंने पराजय स्वीकार की हो, उन्होंने हार मान ली हो...यह तो उसी को सह लेने का एक उपक्रम है, इस प्रकार वे शायद अपना सारा बल बटोर कर नियति से लड़ती रही

हैं।...माँ की आँखों में अनन्त करुणा, सहवेदना है, जैसे वे उत्सुक हों कि नीरा की सारी पीड़ा उनकी हो सके। पर माँ विवश हैं, ऐसा नहीं हो पाता; माँ भी अपने बच्चे की पीड़ा को अपना लेने की शक्ति नहीं रखती। उनके नेत्रों से लगता है कि यह कितनी बड़ी विवशता है, कितनी बड़ी माँ की पराजय है और इस पराजय में वे खुल कर आँसू भी नहीं बहा सकतीं! वह अपनी वेदना के अन्तराल में भी समझ पा रही है कि माँ को बहुत आत्म-नियंत्रण करना पड़ रहा है।...उसे इधर माँ का यह आत्मनियंत्रण बहुत बोझिल लगता रहा है, माँ कुछ कहतीं, कुछ व्यक्त करतीं, अपनी वेदना चिन्ता को कह-सुन कर कुछ हल्का कर लेतीं, आँसू जो उनकी अमूल्य निधि हैं, उनके माध्यम से अपने हृदय को कुछ हल्का कर पातीं, तो नीरा को अधिक संतोष मिलता। पर, पर माँ ने पापा की अनुपस्थिति को अत्यधिक गम्भीरतापूर्वक स्वीकार कर लिया है...वे सब कुछ सह लेना चाहती हैं, सब कुछ झेल जाना चाहती हैं, पापा की तरह ही...और पहले माँ थीं कि वे जरा सी बात में घबरा जातीं, आँसू बहाने लगतीं, अपने प्रभु के सम्मुख अवनत होकर प्रार्थना करतीं...पापा की प्रकृति को अपनाना माँ के लिए कितना भारी है, यह उसने कितनी बार सोचा है।...अब माँ अपने प्रभु का ध्यान भी बहुत मौन, चुपचाप करती हैं!...हाँ, यह उनके अपने प्रभु का विश्वास ही ज्यों का त्यों बना हुआ है जिसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं हुआ, केवल वह अधिकाधिक अन्तर्मुखी होता गया है...और यह प्रभु के प्रति उनका अडिग विश्वास ही है जो उनको इस सब के बीच थामे हुए है...

...माँ उसकी ओर एकटक देख रही हैं, उनकी दृष्टि में न जाने कितने प्रश्न उठते डूबते रहे, और वह अपनी पीड़ा के उठते हुए ज्वार में माँ को समझ रही है, उनके प्रत्येक प्रश्न को समझ रही है।...पर वह क्या उत्तर दे, वह चाहती है अपने भाव से माँ को समझा सके—माँ मुझे कष्ट नहीं है, कष्ट कम हो रहा है...पर कहाँ सम्भव है, पीड़ा की

उठती हुई लहरों में सब कुछ डूबता जाता है, सारी चेतना उसी से आक्रान्त हो रही है, उसमें सोचने-समझने की उस क्षण शक्ति ही कहाँ रह जाती है। वह माँ के सामने अपने को कैसे छिपा सकती है...माँ से कहाँ क्या छिपा है? माँ...हाय माँ...वह अपने स्वर को रोक लेती है, वह अपने आप को किसी प्रकार रोके हुए है, इसलिये नहीं कि माँ से छिपाना है, वरन् इसलिए कि पूरे वार्ड की उसे लज्जा है। पर माँ सब समझ रही हैं, उनसे छिपा ही क्या है! माँ आँखों से अपने आप को व्यक्त कर सकती है तो अपनी बेटी, अपने अंश के अन्तर को आँखों से समझ भी सकती हैं...वे मौन भाव से उसे आश्वासन दे रही हैं, लेकिन माँ को ज्ञात है उसके लिए इस समय आश्वासन का क्या मूल्य है!...वह विकल होती जाती है, माँ अन्दर ही अन्दर अधिक उद्विग्न होती जा रही हैं...अन्त में नीरा दर्द से ऐंठने लगती है, वह धीरे से कहती है—'माँ, ओ माँ!'

माँ समझ रही हैं कि उसे असह्य कष्ट हो रहा है, वह अन्त में दातादीन को पुकारती हैं—'दातादीन, डाक्टर से इंजेक्शन के लिए कहो।' दातादीन समझदार जो है, वह खड़ा है चुपचाप, उसकी मुद्रा से अत्यन्त गहरी चिन्ता व्यक्त हो रही है—माँ कहती हैं—'दातादीन, और क्या किया जाय, बार-बार इंजेक्शन ठीक नहीं है, पर तुम देखते हो, नीरा बाई के लिए पीड़ा सह पाना असह्य हो उठा है, कैसे देखा जाय।' और फिर दातादीन बिना एक क्षण का विलम्ब किये चला जाता है...डाक्टर के आने में देर हो रही है।... डा० हार्टले की आज्ञा है कि यह इंजेक्शन यथासम्भव कम दिया जाय, क्योंकि बीमारी में रेज़िस्ट करने की ताक़त कम होती जा रही है। शायद डाक्टर इसीलिए विलम्ब कर रहा है।...किस प्रकार वह अपनी पीड़ा सह पा रही है, उसके पेड़ू में सैकड़ों बिच्छू जैसे डंक मार रहे हों, जैसे उसके पेट में कोई पीड़ा का आड़ोलन हो रहा हो...और उठती दर्द की तरंगों से जैसे धीरे-धीरे मूर्छा आ रही हो! वह बीच-बीच में माँ की ओर करुण दृष्टि से देख लेती है,

और माँ उसकी उस दृष्टि से एकाएक विकल हो जाती है...पर क्या चारा है, क्या उपाय है, उनकी भंगिमा से व्यक्त हो रहा है...वह अपनी पीड़ा में, उठते हुए दर्द के ज्वार में भी माँ के इस भाव से आकुल हो रही है। उसको माँ की व्यथा आज अपनी उस दिन की व्यथा से कहीं अधिक लगती है...माँ की आँखों की उमड़ती हुई करुणा में उसकी व्यथा जैसे डूबती जाती है, डूबती जाती है...उसके बाद उसे लगता है... वह माँ की कोमल गोद में वह आराम से सो रही है और उसे नींद आ रही है, उसे नींद आ चुकी है...

...वह केवल दर्द पर विजय पा सकी है...महाराजा हास्पिटल की सारी परिचर्या और डाक्टर हार्टले, अपने स्वदेश वापस जाने के पहले केवल उसके दर्द के उस आवेग को दूर कर सके। पर...पर उसके एवज़ में उसे क्या देना पड़ा...इसकी याद आने से ही उसके मन में जैसे वह खोई वेदना हरी होने वाली हो। वह क्या कर सकती थी, उपाय ही क्या था? पेट का दर्द उसके स्पाइनल में उतरता गया। फिर उस दर्द के साथ लड़ने में मरीज़ और डाक्टर दोनों ने शायद धीरे-धीरे महसूस किया कि उसके एवज़ में क्रमशः अंगों में अजीब सी शिथिलता आती-जाती है, और साथ ही धीरे-धीरे बायाँ कान बेकार हो गया...फिर बायें हाथ में शक्ति कम होती गई, उसी ओर का पैर भी कुछ कमज़ोर हो गया और लगने लगा कि वह भी धीरे-धीरे ही एकदम मौन हो जानेवाला है।...उसके सारे बाँयें शरीर में एक प्रकार की जड़ता आती गई, जैसे अंग सुन्न होते जा रहे हैं।...वह शायद समझ रही है—मेडिकल कॉलेज की डायगनोसिस के अनुसार उसकी यह परिणिति स्वाभाविक है...

डाक्टरों का कहना है कि उसका केस पेरेलेसिस का नहीं है...यह केवल नर्वस का शिथिल होकर स्थानीय रूप में बेकार हो जाना है और पर्याप्त स्वास्थ्य सुधार के साथ इनकी क्रिया पुनः वापस आ सकती है...पर नीरा के लिये यह सब भ्रमजाल ही है। यह नहीं है, यह हैया

यह नहीं है...उसको इन सब के बीच केवल यही जान पड़ रहा है कि उसका दर्द, उसकी असह्य पीड़ा सह्य होती गई है और उसके बजाय बायाँ अंग धीरे-धीरे उसके अपने नहीं रह गये हैं...इससे अधिक जानने की उसे रुचि भी नहीं रह गई और न उसे कोई आशा का सूत्र ही दिखाई दे सका...

डेढ़ वर्ष के निरन्तर वास के बाद वह ज़िद करके हास्पिटल से घर पर आ गई है...उसे अपने घर आकर अधिक आराम मिला है। यह परिवर्तन के रूप में भी सम्भव है, पर उसे उन दिनों ऐसा ही लगा था...घर पर सब शांत हैं, कोई बार-बार यह याद दिलाने नहीं आता कि तुम बीमार हो, नाप-जोख तोल, परीक्षण, हाल-चाल, एक के बाद एक डाक्टरों का आना-जाना सब नहीं रहा और यह उसकी मुक्ति ही है। बीमारी से नहीं, बीमारी के वातावरण से उसे मुक्ति अवश्य मिल सकी। इस प्रकार...माँ और आरती...चिंतित दातादीन और कभी-कभी श्याम अपने मित्रों और खेल-कूद से छुट्टी पाकर आ जाता है। अधिक से अधिक डाक्टर अंकिल संध्या समय हाल-चाल ले जाते हैं, पास बैठकर उसके मन को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त सब कुछ शांत चल रहा है...उसका दर्द है, उसमें कभी-कभी तेज़ी भी आ जाती है...स्पाइनल का दर्द उठता है...असह्य स्थिति में पहुँचने के पहले ही डाक्टर अंकिल कोई इंजेक्शन विवश भाव से दे देते हैं और वह चुपचाप एक अजब-सी तंद्रा की स्थिति में उसे विस्मृत कर देती है। पर इस प्रकार के दौरे के साथ उसे लग रहा है कि उसका बायाँ अंग अधिकाधिक शिथिल होता जा रहा है, निष्क्रिय होता जा रहा है।...वह अपनी इस विवशता के प्रति एडजेस्ट करती जाती है लेकिन उसके मन का संघर्ष इस बीच न जाने कितने बार उग्र रूप में सामने आया है...आज न जाने क्यों वह सारा मानसिक संघर्ष उसके मन के स्तर पर उभरता आ रहा है, जब उसका कुछ महत्व नहीं और कोई प्रयोजन शेष नहीं है...पर...पर

धीमी पदचाप उभरती है और एक क्षण में कोई वस्तु उसके समीप

जैसे खट से रखी गई...ध्यान-केन्द्र पर आकस्मिक हल्का आघात लगा और उसने देखा, सामने दातादीन बहुत चुपचाप, जैसे वह सारे वातावरण को बिल्कुल स्पर्श किये बिना ही अपना काम कर रहा हो, खड़ा है। उसने चाय के लिए मेज़ लगा दी। उसकी दृष्टि एकाएक घड़ी की ओर गई...साढ़े चार बजने में केवल छः मिनट रह गये हैं और यह चाय का समय है। उसने अनुभव किया घड़ी का पेंडुलम रुका हुआ नहीं है, उसकी चाल खट-खट करती हुई गतिशील है। अभी तक उसके लिए वह रुकी हुई थी...उसे घड़ी का यह हिलता हुआ भाव न जाने कितने दिनों से असह्य हो गया है। एक बार उसने प्रस्ताव भी किया कि यह घड़ी उसके कमरे से हटा दी जाय, पर उसने ही रोक दिया था। पापा ने इसी स्थान पर उसे लगाया है, फिर यह अच्छा नहीं लगा उसे कि पापा की अनुपस्थिति में उनकी आज्ञा, उनकी इच्छा का उलंघन किया जाय। और साथ ही उसे यह अपनी पराजय जैसी भी लगी...घड़ी का पेंडुलम यथावत् हिल रहा है...और दातादीन ने अपना कार्य समाप्त कर लिया है; वह अपने को बिल्कुल खींचे हुए खड़ा है। उसकी इस स्थिति पर नीरा को दया आ जाती है—'दातादीन!' बाई की इस आवाज़ से वह जैसे प्रकृतस्थ हुआ, उसका यह भाव विलीन हो गया कि वह उसे बाधा तो नहीं पहुँचा रहा है। वह उत्सुक होकर कहता है—'बाई जी, चाय तैयार है, आरती बाई अभी आ रही हैं।'...दातादीन साथ ही किसी बात के याद आते ही अन्दर चला जाता है...

नीरा का ध्यान फिर उसी पेंडुलम की ओर चला जाता है...उसे लग रहा है कि आज बहुत दिनों बाद घड़ी आगे की ओर बढ़ रही है, पेंडुलम उसकी गति की सूचना दे रहा है।...नहीं, न जाने कितने दिनों से उसे लग रहा है कि यह पेंडुलम उसके समय के प्रवाह पर जम कर बैठ गया है और वह केवल उसके ऊपर चक्कर लगाता है, आगे नहीं बढ़ता, न समय को बढ़ने देता है।...समय के प्रवाह के रुक जाने के

साथ ही जैसे उसकी चेतना का क्रम रुक गया है और पेंडुलम उसके अस्तित्व पर भारी होता जा रहा है।...पर आज उसका प्रवाह मुक्त हो गया है, आज घड़ी इतने दिनों के बाद चलने लगी है, पेंडुलम गति की सूचना देने लगा है...क्यों कि उसकी चेतना में कोई नया प्रवाह आ गया है, उसके अस्तित्व का बाँध कहीं से खुल गया है।...पर यह कौन-सा क्षण है जिसमें उसे जीवन का एक नया दृश्य-रूप गोचर होने लगा है जो आज तक उसके सामने से ओझल रहा था...वह कौन-सी नीरा है जिसने जीवन को नये वेग से भरना प्रारम्भ कर लिया है...आज कैसी नई संवेदनाओं से वह गुजर रही है...

...'जीजी!' और उसका ध्यान बटा, उसने देखा सामने आरती खड़ी है। उसने अनुभव किया उसकी दृष्टि में आग्रह है, स्नेह है, ममता है जो पता नहीं कब करुणा में बदल सकती है।...उसने देखा सामने की मेज़ पर चाय का सामान सजा है, खाने के सामान में मूँग और साबूदाना के पापड़ हैं और फलों का सलाद है...सब कुछ सामने आने का विधान है। माँ ने ऐसा क्रम चला रखा है जिससे यह न जान पड़े कि बीमार का पथ्य है, बीमार की परिचर्या है...लगता है कि यथाक्रम सब चल रहा है। माँ के इस प्रबन्ध में उनकी ममता की झलक है, उनके मन का भ्रम भी है; और नीरा को यह भी चलाना पड़ता है, इसको इस रूप में स्वीकार कर लेने से उसे भी सन्तोष है। वह भूल पाती है, चाहे क्षण दो क्षण के लिए ही क्यों न हो कि वह बीमार है। वह सामान्य रूप से खाना और जलपान आदि के कार्यक्रमों मे भाग लेती है...इस प्रकार चाय आदि पर रहने से उसे लगता है कि वह सामान्य जीवन में भाग ले पा रही है।...आरती सहारा देकर बड़ी तकिया के सहारे उसे बैठा देती है, कभी ऐसा भी होता है कि उसे उठने में कष्ट होता है, तब केवल लेटे-लेटे वह उस परिवार की चाय में भाग ले पाती है।...पर आज उसे लग रहा है, क्यों नहीं वह कुर्सी पर बैठ कर चाय पिये, कितने दिन बीत गये हैं, वह इस प्रकार सबका साथ नहीं दे सकी है।

उसे अपने मन के इस उत्साह से स्वयं भी लज्जा का अनुभव होता है, क्यों ऐसा हुआ ? नहीं कह सकती...

उसका प्याला उसके दाहिने हाथ में दे दिया गया है, बीच-बीच में थोड़ा-बहुत, थोड़ा कुछ लेने के लिए उसे आरती की सहायता अपेक्षित होती है, पर इसके लिए आरती स्वयं सतर्क है; उसे विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। माँ भी आ गई हैं और दूसरे ओर की कुर्सी पर बैठ गई हैं। वे खाली चाय लेती हैं, दो समय से अधिक अन्न ग्रहण नहीं करतीं, यद्यपि सप्ताह में कई दिन उनके व्रतों में निकल जाते हैं। हाँ वे फल में से कुछ कहने भर को ले लेंगी। माँ के मुख पर कोई भाव है जिसको समझ पाना सरल नहीं है। वे आज अधिक संयत दिखाई दे रही हैं, शायद उनको किसी बात की चिन्ता है...और आरती खाली-खाली मौन है। इन सब के बीच सारी उदासी का अनुभव करते हुए दातादीन निरुपाय होकर प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार उस वातावरण को उबार सके...। वह आग्रहपूर्वक खिलाने का प्रयत्न कर रहा है, पर उनमें कौन है जो उसके आग्रह से कुछ भी अधिक खाने की रुचि रखता हो। नीरा ने इसका अनुभव किया और उसने दातादीन का आग्रह यथाशक्ति माना भी और दातादीन इससे कृतकृत्य हो गया...

नीरा को आरती और माँ का यह मौन स्वयं बोझिल जान पड़ने लगा, उसने चाहा कि माँ से कुछ कह सके, आरती को कुछ चिढ़ा सके !...'माँ' तुम्हारा बनाया हुआ पापड़ अलग होता है, उसके स्वाद को बाज़ार का क्या पा सकता है...आरती, तुमने क्या स्ट्रेट इज़ दि गेट... समाप्त किया, कैसा लगा ? माँ, तुम इतना चुप क्यों हो, मुझे जाने कैसे-कैसे लगता है।... आज तो वैसे मेरी तबियत कुछ ठीक है...न हो माँ तुम कुछ दिनों के लिए चच्चा के पास रह आओ।...माँ, यदि तुम अब श्याम को माफ़ कर दो, मुझे बहुत संतोष हो और तुम उसके पास कुछ दिनों के लिए रह भी आओ, इससे उसकी पत्नी को संतोष होगा !... माँ, यह क्या, तुम मुझे लेकर ही रहोगी, यह तो, तुम्हारा पक्षपात है...

तुम्हारे लिए हम सब बराबर हैं'... वह कहती जा रही है, माँ, केवल हाँ हूँ से अधिक अब भी नहीं बोल रही हैं। आरती भी कुछ अधिक कह नहीं सकी...उसने केवल इतना ज़रूर कहा कि भइया आ रहे हैं, अब उनके यहाँ पहुँचने में देर नहीं है, ट्रेन अब दौसा पहुँच रही होगी !

उसे लगा आरती ने उसके प्रश्न का उत्तर न देकर भी, उसका वास्तविक उत्तर दे दिया है, जैसे उसने कह दिया हो कि आज की प्रमुख बात क्या होनी चाहिए !...पर यह ऐसा ही नहीं है, इसका अर्थ कैसा कुछ हो, पर इसकी इस समय की व्यंजना कहीं अधिक गहरी जाती है। आज उसके मन में कहीं अप्रत्याशित उत्साह है, उसके मन में न जाने कौन सा तार बज उठा है, पर यह ऐसा क्यों है ? वह स्वयं समझ नहीं पा रही है ! यह ठीक है, आज उसके शारीरिक कष्ट एवं पीड़ा का आकस्मिक अन्त हो गया है, आज उसे उनसे मुक्ति मिल सकी है...पर यह ऐसा कदापि नहीं है, उसके मन में उन कष्टों से मुक्ति से तो एक रिक्त ही भर रही है, उसने तो उसके मन में शून्य का सृजन किया है।...फिर आज उसके मन में अनायास ही जो कल्पनाएँ जाग रही हैं, जो भावावेश का रंगीन कुहासा छा रहा है, हल्का-हल्का सा संवेदन जाग रहा है... वह कहाँ से, किस स्रोत से प्रवाहित हो रहा है ?...

...आज भइया आ रहे हैं, नरेश भइया आ रहे हैं...और उनकी प्रतीक्षा हमें करनी चाहिए, एक प्रकार से आरती की बात में यही ध्वनि हो सकती है। भइया के आने की प्रतीक्षा वह आज प्रातः से ही कर रही है, मन ही मन उनकी प्रतीक्षा वह कर रही है ! शायद माँ और आरती दोनों भइया की प्रतीक्षा दिन में करती रही हैं, उनकी इस प्रकार प्रतीक्षा अनेक बार की गई है !... उस बार भी... उस बार जब उसके बायें हाथ में जड़ता आने लगी थी, उसे लगने लगा था कि यह हाथ अब बेकार होनेवाला है, उसकी सूचना पाकर भी भइया आये थे !... कितनी उनकी प्रतीक्षा की थी उसने...चाची नहीं रही थीं और यह

उनका उसके बाद का पहला आना था, नीरा के मन में भइया के लिए बहुत क्लेश उमड़ रहा था, उसे लग रहा था यहाँ आकर भइया के मन की वेदना उमड़ेगी, शायद इसीलिए उन्होंने इतने दिनों तक यहाँ आने का साहस नहीं किया। ऐसा कभी नहीं हुआ कि भइया वर्ष में एक बार भी इधर न आयें ! इस बार दो वर्ष हो चुके हैं और चाची के स्थान पर नई चाची आ गई हैं...अब भइया को यहाँ कैसा लगेगा ?... पर उनको नीरा की चिन्ता होगी, वे कितने उद्विग्न होंगे ! साथ ही उनको बुआ की याद आ रही होगी...भइया आये, बुआ की स्मृति पर वे संयम कर सके हैं। उन्होंने नवीन परिस्थिति से समझौता कर लिया है...नई चाची के वे पक्ष में हैं। राजेश के विरोध के साथ वे कभी सहानुभूति नहीं रख सके, यहाँ आ कर उन्होंने उस परिवार में स्नेह और आत्मीयता का वातावरण बनाया...

पर उनके मन में केवल एक भाव प्रधान है, वह है उसकी अपंगता। वह जितने उसकी बीमारी से उद्विग्न नहीं थे, उससे कहीं अधिक उसकी इस क्रमिक विकसित होती अपंगता से चिन्तिता हैं।... वह जब नीरा के सामने आते हैं, उनके मन में सबसे पहली प्रतिक्रिया है कि नीरा तुम किस तरह अनुभव कर रही हो, कितनी बड़ी विवशता में तुम घिरती जा रही हो, कितनी बड़ी क्रूरता में हम सब तुमको असहाय छोड़ रहे हैं ? क्या होगा नीरा ? यह क्या ऐसा प्रश्न हो सकता है जो उससे, एक निरुपाय व्यक्ति से पूछा जाय, वह उसका क्या उत्तर देती... पर उसने अपने भइया की उद्विग्नता को समझा, उसे लगा भइया इस बात को सँभाल नहीं पाये हैं...उन्हें लगा कि जैसे इनएविटेबिल सामने आ उपस्थित हुआ है और नीरा के लिए क्या हो सकता है, उनके मन में एक ही प्रश्न गूँज रहा था कि अब क्या होगा ? कैसे नीरा का जीवन चलेगा, उसका क्या अर्थ रह जायगा ?...लेकिन आज भी नीरा को याद है... उसे कोई घबराहट नहीं है...वह भइया को पाकर प्रसन्न हुई, उसे लगा है कि उनसे बल प्राप्त हो सकेगा। पर यह क्या ? भइया को यह क्या

हो गया है ! नीरा को लेकर वे इतने क्लान्त और शिथिल हो जायँ, यह उसके लिए क्लेश की बात है। वह अपने सारे दुःख और वेदना को दबा कर भी उनको निराशा के अवसाद से उबारेगी...उन्हें टूटने से बचायेगी, यह उसका कर्त्तव्य है, उसके लिए इतना तो करणीय है...। उसका क्या, वह उस स्थिति में क्या अन्तर मान कर चलती है। रही आशा ! उसमें उसने कभी अपना मन नहीं भरमाया...मेडिकल कॉलेज की बात फिर दुहराई नहीं गई...वह केवल एक बार ऐसा हो सका, नीरा को शायद उसकी भी लज्जा है।...पर यह भइया को क्या हो गया है ?...सामने बैठे हैं जैसे हारे थके हों !

...नहीं होगा, भइया ऐसा नहीं होगा, तुम क्या समझते हो, मेरा कष्ट बढ़ गया है, भइया कष्ट तो एक प्रकार से कम हो रहा है। अब तो मेरे लिए जीवन का नाम है कष्ट, पीड़ा, दर्द ; इसके विपरीत मृत्यु के अन्तर्गत ही आदमी को शान्ति मिलती है...और यह मेरी निष्क्रियता मात्र उसी की क्रमिक छाया है !...न भइया, इससे घबराने से नहीं चलेगा...मैंने तुमको कितनी ही बार लिखा है कि संसार में कोई शक्ति नहीं, कोई उसका क्रमिक रूप नहीं, उसमें कोई नैतिक नियम तो कम से कम है ही नहीं...तुम जानते हो कई दार्शिक चिन्तक हुए हैं जो इस प्रकार के किसी मॉरल गाड को स्वीकार नहीं करते...मैंने इस बात का अपने जीवन से अनुभव किया है ?...न जाने कितने विस्तार से मैंने समझाया था, कम से कम अपनी बात को रखने का प्रयत्न किया था कि संसार का कोई ईश्वर नहीं हो सकता।...हाँ भइया, मैंने तुम्हारे उत्तर, मनोयोग से पढ़े हैं, मेरे लिए उनका बड़ा सहारा रहा है...लेकिन तुमको आश्चर्य हो रहा है कि मैं क्या कहने जा रही हूँ...पर मैं कहती हूँ कि इस स्थिति के साथ मेरे मन में परिवर्तन हो रहा है।...मेरे मन में आशा निराशा से भिन्न मनःस्थिति उत्पन्न हो रही है...और इस स्थिति में अब अपने भविष्य को भली प्रकार सहने में समर्थ हूँ, ऐसा मुझे लग रहा है...

...भइया को उसकी बातों से आश्चर्य हुआ! वे समझ नहीं पा रहे हैं कि वह कह क्या रही है, उसका भाव क्या है?...पर धीरे-धीरे उनके मन की स्थिति कुछ बदल सकी, वे कुछ अधिक स्वस्थ रूप में बात चीत करते हैं...लगता है उन्होंने उस भाव को ग्रहण कर लिया है।...वे उसके सिरहाने बैठे हैं, उनको उसी दिन रात को वापस लौट जाना है, अपने रिसर्च के काम से उन्हें पश्चिमोत्तर के प्राचीन क्षेत्रों में दौरा करना है, वहाँ से सामग्री जुटानी है। सामग्री तो एकत्र कर ली है, पर एक बार अपने आप इन संग्रहालयों को और साइट्स को देख लेना चाहिए...थीसिस शीघ्र ही प्रस्तुत करनी है।...पर वे बहुत उदास हैं, कौन है उनका? माँ छोटपन से नहीं रही थीं, बुआ नहीं रहीं। फिर कौन है उनका? भाभी, भइया, उनसे उन्हें वह ममता कहाँ मिल सकती है...

आदमी अपनी ही बात कितनी मान कर चलता है, पर कौन नहीं है इस संसार में दुःखी, उदास, विपन्न; किसी न किसी रूप में।... भइया कह रहे हैं, उन्हें कहाँ-कहाँ जाना है...उन्हें इतिहास के पिछले जीवन को अतीत के अंधकार से निकालना है। पर वह पूछती है...'यह अतीत को पुनः सामने लाने की ऐसी क्या आवश्यकता है... आदमी को अपना दुःख-दर्द ही क्या कम है कि वह अतीत के इतिहास से भी वही सब ग्रहण करने के लिए आकुल है...उसके लिए पृथ्वी के नीचे गड़े हुए सहस्रों वर्ष के इतिहास को खोजता है, आख़िर उसे क्या मिलता है? सिवाय आदमी के अन्तर में दबे दुःख-दर्द के क्या मिलता है वहाँ।...तुम कहोगे बड़े-बड़े साम्राज्यों का उत्थान उनके नीचे दबा है, हमारी कला संस्कृति का न जाने कितना इतिहास छिपा है...पर मुझे तो यही लगता है, आदमी का सारा इतिहास इसी बात का साक्षी है, उसकी कला में, उसकी संस्कृति में यही तत्व छिपा है! क्यों आदमी अपने ही दुःख, वेदना से संतुष्ट न होकर अपने इतिहास में भी वही ढूँढ़ता है? मैं जानती हूँ, मेरा यह दृष्टिकोण एकांगी है, मेरी यह विव-

शता मानी जा सकती है। पर तुम क्या समझते हो नरेश भइया!'... नरेश भइया कुछ देर तक मौन रहते हैं, उनके लिए इस प्रश्न का यह नया पहलू ऐसा है जो एकाएक सामने उभारा गया है...ऐसा लगा वह सोच रहे हों कि इसका क्या उत्तर दिया जाय...

नरेश भइया कह रहे हैं...'नीरा, लेकिन तुम क्या नहीं मानतीं कि आदमी की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह दूसरे के दुःख-दर्द को समझ सकता है, सहानुभूति प्रकट कर सकता है, उससे संवेदना रख सकता है। यही तो उसका है, इसके बिना आदमी आदमी कैसे कहा जा सकता है। आदमी के जीवन का सारा विकास इसी आधार पर हो सका है। आदमी ने सुख से विकास नहीं किया, जितना उसने दुःख की अनुभूति की तीक्ष्णता का संवेदन प्राप्त करके सांस्कृतिक स्तर पर विकास किया है। नीरा तुमने दुःख को निकट से जाना है और तुमसे मैंने सीखा है कि आदमी दुःख की अनुभूति से ऊपर उठता है। जब मैं आया था, मेरे मन में न जाने कैसी निराशा, कैसी उदासी छायी थी, एक प्रकार से मेरे मन की सारी भावनाएँ पराजित हो चुकी थीं, पर उस दिन तुमने...मैं आश्चर्य चकित था कि नीरा कह क्या रही हो...पर तुमने वह सब ग्रहण कर लिया अनायास ही जिसे मैं सारी पढ़ाई-लिखाई, सिद्धांत-चर्चा के बाद भी ग्रहण नहीं कर सका। मैंने वास्तव में उसी दिन तुमसे किंचित सीखा है कि आदमी के जीवन की कौन दिशा है जो उसे हर हालत में सार्थक ही बना सकती है...और तुम आज फिर ऐसी बात क्यों कह रही हो...मैं तो समझता हूँ इस प्रश्न का उत्तर तुमको अपने से ही मिल गया है।'...नीरा महसूस करती है, उसने कुछ भइया से कहा है और उन्होंने उसको बहुत मान लिया है, वे उस पर सोचते रहे हैं...और वह स्वयं समझ रही है कि उसका अर्थ क्या है...?

चाय समाप्त हो गई है, दातादीन बर्तन उठा चुका है। आरती और माँ चुपचाप कुछ देर से बात कर रही हैं, उसने ध्यान नहीं दिया

था। माँ ने उसको भी सम्बोधित करने के भाव से कहा—'श्याम नहीं आया, अगर मैंने कुछ आग्रह प्रकट किया तो क्या उसका यह कर्तव्य नहीं था कि वह स्वयं आता। मैंने कभी कुछ कहा क्या ?'...आरती ने माँ की बात का समर्थन मौन रह कर भी गहरी हूँ से कर दिया हो। पर नीरा से नहीं रहा गया, उसे यह माँ का अन्याय लगता है कि वे श्याम के विषय में आग्रहशील हो गई हैं। माँ का कहना है कि श्याम को उसने विवाह के लिये मना नहीं किया, उसे कुछ कहा नहीं। अब यह उसका कर्तव्य था कि वह माँ की, परिवार की चिन्ता करता। इतना ही नहीं माँ ने कहा नहीं, पर माँ का यह भाव अवश्य रहा है कि श्याम ने यह इस प्रकार का भाव जान बूझ कर समझ लिया है, क्योंकि उसको यह सम्भव नहीं लगा कि उसकी स्त्री परिवार के झंझटों के साथ निभा सकती है।...नीरा को यह अविश्वास ही सबसे अधिक खलता रहा है, पर माँ इस बात को कभी ऊपर रखती नहीं हैं। उनके सहज तर्क का क्या उत्तर दिया जा सकता है, फिर भी नीरा ने लेटने का उपक्रम करते हुए कहा—"माँ, उसका ही दोष सही, पर तुमको माफ़ करना चाहिए। उसे बुला लो माँ...मेरा मन कहता है कि वह केवल मान के कारण नहीं आता है...लड़का अपनी माँ से मान नहीं करेगा तो किससे करेगा।" आरती उसको सहारा देने के लिये बढ़ी, पर नीरा ने अपने दाहिने हाथ से तकिया को हटाया, फिर उसी के बल वह बिस्तर पर लुढ़क गई, लेटते-लेटते आरती ने उसे सँभाल लिया।

...माँ ने कुछ देर बाद कहा, उनकी वाणी में आर्द्रता है—"नीरा मैं यह बात मान नहीं पाती। तुम्हारे पापा जब नहीं रहे, तब श्याम ही इस घर का मालिक है, हमारे संस्कार ऐसे ही रहे हैं। और अब उसे उसी रूप में व्यवहार करना चाहिए था...हम सब वास्तव में उस पर निर्भर है। पर उसने परिवार की, हम सब की कुछ भी चिंता किये बिना अपने सुख का रास्ता खोज लिया।...नीरा तुम कहती हो कि दोष मेरा है... हाँ नीरा तुम ठीक कहती हो। आख़िर माँ का अपराध ही

माना जायगा। माँ, उसको विधाता ने सहने के लिये ही बनाया है, अपराध स्वीकार करने के लिये बनाया है।...नीरा तुम ठीक कहती हो बेटी, सचमुच मैं ही तो अपराधी हूँ तुम्हारी, आरती और श्याम की।...न न, नीरा तुम यह मत समझना माँ आक्रोश में यह सब कह रही हैं...मैं अन्तःकरण से कह रही हूँ, अपने प्रभु को साक्षी मान कर कह रही हूँ।...मुझमें कुछ दोष पाप न होता तो फिर मेरी प्रार्थना प्रभु क्यों न सुनते।...वे तो केवल मुझे, मेरे पापों को धोने के लिये ही यह सब मुझ पर डालते रहे हैं। और मेरा दोष, मेरे अपराध के कारण मेरे बच्चों को सहना पड़ रहा है। मैं समझती हूँ, मैं मानती हूँ, मैं, और मेरे अपराध ही थे जिन्होंने सारे परिवार को आपत्ति-विपत्ति में डाले रखा है।...नीरा, श्याम मेरा अंश है, मैं तो समझती हूँ, वह मुझसे अलग रहे, पर वह सुखी रहे, स्वस्थ रहे। मेरी छाया उसके सुखी संतुष्ट जीवन पर न पड़े, यही अच्छा है"—माँ कुछ देर रुक कर फिर बोलीं—"नीरा, मेरा क्या मैं सह लूँगी, मेरा अभ्यास है, वैसे भी औरत स्वभाव से सह लेती है, लेकिन तुम्हारा श्याम जिस प्रकार का है, वह कुछ भी आपत्ति-विपत्ति नहीं सह सकता, मैंने इसलिए भी अपने साथ उसे यथा-सम्भव नहीं माना है...।"

...नीरा चुप है, उसके मन में माँ को लेकर परिवार को लेकर ऊहापोह चलता रहा है। उसे लग रहा है माँ की सोचने की पद्धति भी किस प्रकार की है। उसने तो समझा था कि माँ श्याम को केवल इस-लिए कुछ नहीं लिखना चाहतीं कि वे उससे रुष्ट हैं, यह इस प्रकार का भाव उनके मन में हो सकता है, इसका उसे आभास नहीं था। वह चुप है, उसके मन में माँ की बात घूम रही है, माँ का मन कितनी प्रणत भावना से समर्पित है। माँ किस प्रकार अनिवार्य को स्वीकार करके चलती है! वह समझती रही है, माँ के भाव को उसने सदा समझा है, उनकी समर्पण भावना भी उससे छिपी नहीं है...माँ की वही शक्ति है, वही अवलम्ब है। यह भी उसने सदा जाना है...पर माँ इतनी गहराई

से इस बात को मान कर चलती हैं, यह उसे आज अनुभव हुआ।... उन्होंने अनिवार्य के सामने अपने को समर्पित कर दिया है...पर यह उनकी असमर्थता नहीं है, यह उनकी विवशता नहीं है। उन्होंने जिस ध्रुव के सामने अपने को झुका लिया है, वह भाग्य जैसी आस्थाहीन वस्तु नहीं...उनका अनिवार्य है उनका प्रभु, जिसके सामने वे अपने आप को खींच लेती हैं, अपने आप को मिटा देना चाहती हैं!...और जब उन्होंने ही दिया है...वे कितनी ही बड़ी पीड़ा, वेदना, क्लेश को इसी भाव से सह लेंगी कि प्रभु ने दिया है, उन्हीं की इच्छा है। प्रभु की इच्छा के सामने माँ प्रणत हैं...और वे अपनी स्नेह ममता को भी प्रभु के सामने, उनकी इच्छा के सामने उत्सर्ग कर देंगी! श्याम उनके मन की ममता का विशिष्ट आधार रहा है, पर यदि उसकी रक्षा प्रभु इसी में चाहते हैं कि वह उनसे दूर रहे तो माँ उसके लिए भी तैयार हैं...माँ को वह जितना ही समझ पाने का प्रयत्न करती रही है, उतना ही कठिन हो गया है।

आरती अन्दर जा चुकी है, और माँ थाली में फैलाये कुछ बीन रही हैं, शायद मेवा है। वह समझ रही है, नरेश भइया आ रहे हैं और माँ उनके लिए मखाने की खीर बना रही हैं...अपनी सारी व्यस्तता और परेशानी के बीच में उन्हें याद रहता है कि किसको क्या अच्छा लगता है। माँ के लिए गृहस्थी ऐसा कर्तव्य है जिसको वे कभी नहीं भूल सकतीं, प्रत्येक घर के प्राणी की रुचि, इच्छा-अनिच्छा का ध्यान वे कभी नहीं भूलतीं...

माँ ने एकाएक सोचते हुए कहा—"नीरा मैं सोचती हूँ, श्याम को बुलाना ही चाहिए, तुम ठीक कहती हो...मैं कभी सोचती हूँ कि मुझे लिखना चाहिए, कम से कम मुझे बहू को लिख कर बुलाना चाहिए।" नीरा ने माँ की बात से उनका भाव ग्रहण करना चाहा...माँ के मन में तभी से क्या चल रहा है, क्या उसने माँ के मन को कहीं दुखा दिया है? क्या माँ ने अनुभव किया है? अभी वे कह रही

थीं कि अपने बच्चों के क्लेश का कारण स्वयं हैं और तब से शायद वे यही सोच रही हैं! उसे लगा माँ के साथ उसने अन्याय किया है—"नहीं, माँ, यह भी सच है कि श्याम को भी हम सब की चिन्ता करनी चाहिए थी, क्या हमारा ही सब कर्तव्य है। नहीं माँ, तुम्हारा मन नहीं होता, तुम न लिखो: उसको इतनी चिन्ता होनी ही चाहिए।"...माँ ने शांत भाव से धीरे-धीरे कहा—"नीरा, ऐसा नहीं कि मुझे इसमें कुछ अपमान की बात लगती रही है, बेटी! माँ के लिए अभिमान का प्रश्न नहीं उठता। मैंने अज्ञात भाव से प्रेरित होकर अब तक उसे कुछ नहीं लिखा। और अब मैं लिखूँगी, तुम्हारी बात ठीक है। मैं बहू को अलग से ही बुलाऊँगी। उसे तो मेरा भाव अपमानजनक लग सकता है।...लगभग दो वर्ष बीत रहे हैं और ये दोनों अकेले ही अपना दुःख-दर्द सहते रहे हैं। यह ठीक है, हम लोगों के पास अपने दुःख-दर्द इतने रहे हैं जिनके बीच उन्हें उलझन ही हो सकती थी...पर उनका ही अपना कौन है वहाँ!...फिर ऐसा भी हो सकता है नीरा कि मैं उनके दुःख की भागिनी बनती और उनको अपनी क्लेश पीड़ाओं से मुक्त रख सकती। मैं आज यह सोच रही हूँ, तुमने मेरा ध्यान इसी ओर आकर्षित किया है...अब तक मैंने अपने अहंकार को कहीं न कहीं स्थान ज़रूर दिया है।...और मैं सोचती हूँ कि मैंने इस बात को समझा क्यों नहीं...यदि श्याम को संकोच है, यदि श्याम को हमारे दुःख से ही उलझन हो...तब भी क्या मेरा यह कर्तव्य नहीं है कि मैं उसके संकोच को दूर करूँ। मैं उसको अपने दुःखों से, क्लेशों से अलग रख सकूँ, फिर भी उसको अपनाये रहूँ।...यही मेरे लिए उचित था, नीरा! मैंने अपराध किया है, अपने प्रभु की दृष्टि में मैंने अपराध किया है..."

नीरा को लगा माँ की वाणी में कहीं गहरी प्रणत भावना अनुगुंजित है...उनकी वाणी का यह भाव नेत्रों को आर्द्र कर देता है, माँ की आँखों में आँसू झलक जाते हैं...वे तिरछे होकर अपने पल्ले से धीरे से उन्हें

पोंछ लेती हैं। नीरा को लगा माँ को समझाना सरल नहीं है, कहा नहीं जा सकता क्या बात किस स्थल पर स्पर्श कर ले। उसने बात का प्रसंग बदलने का प्रयत्न किया।...वह जानती है माँ के भाव-केन्द्र में जो बात है, वह उनको अत्यन्त करुण बना रही है।... वह समझ रही है, माँ को सम्पूर्ण वातावरण में कहीं से अप्रत्याशित और अनिवार्य घटना का आभास मिल रहा है? वह स्वयं उसकी आहट बहुत स्पष्ट सुन रही है, उस वातावरण का सारा अर्थ उसके लिए जैसे अत्यन्त सरल हो! पर उसे आज एक ऐसा नया वातावरण का घेरा अपने चारों ओर आभासित हो रहा है जिसके सम्मोह में वह अनिवार्य इनएविटेबिल को विस्मृत कर सकी है—"अम्मा, आज नरेश भइया काफ़ी दिनों बाद आ रहे हैं।" उसने बात कहने के लिए ऐसे ही कुछ कह दिया है। माँ का ध्यान उस ओर गया। उनकी मुद्रा में परिवर्तन हुआ, पर नीरा यह भी जानती है कि माँ के मन का यह परिवर्तन उसकी बात मात्र से नहीं, वरन् इस भावना से हुआ है कि उन्होंने स्वयं अनुभव किया, वे वातावरण को बोझिल बना रही हैं और यह नीरा के लिए हितकर नहीं है।...नीरा को लगता है कि माँ आज भी, उसके लिये इतनी चिन्ता करती हैं, माँ कितनी अडिग हैं, उनमें कैसा साहस है, कितना गहरा संघर्ष वे कर रही हैं...अन्त तक वे हार नहीं मान सकतीं...भाग्य, नियति, विधान किसी से भयभीत वे नहीं हो सकतीं।...उनको आभास है कि नीरा की श्वासें कितनी यात्रा पार कर चुकी हैं, यहाँ क्या इस बात का महत्व है कि उसके सामने भावावेश का वातावरण कहीं न उभरता आये...

माँ ने जैसे किसी आन्तरिक उल्लास से कहा—"नरेश आ रहा है, वह ऐसा ही है। विवाह हुए अभी बीते ही कितने दिन हैं और वह चल पड़ा...वह ऐसा ही रहा है सदा से। क्या अन्तर मानता है? उसके लिए उसकी बुआ में और मुझ में कोई अन्तर कभी नहीं रहा। बहू ने बता दिया यह तुम्हारी बड़ी बुआ हैं और उस दिन से आज तक नरेश

ने उनसे मुझे अधिक ही माना होगा।...लड़के में मया-ममता है। तुम्हारे पापा नरेश पर अपने भाई-भतीजे ही नहीं श्याम से अधिक भरोसा सदा करते रहे।...लेकिन उसका इस प्रकार अपनी बहू को छोड़ कर एकाएक चल पड़ना घरवालों को बहुत अच्छा नहीं लगेगा! और पिछले पत्र में तो उसने शिमला स्नो फ़ाल देखने जाने के लिए लिखा था...।' नीरा ने माँ के मन के ऊहापोह को जान लिया है—"नहीं माँ, मैंने भइया को बुलाया नहीं...केवल बाद में बहू देखने की इच्छा ज़रूर प्रकट की थी। हाँ, यह भी लिख दिया था कि मेरी तबियत शिथिल होती जा रही है।" वह जैसे माँ को सफ़ाई दे रही हो कि भइया के इस आने में उसका दोष न माना जाय, बहू के सुख में वह किसी प्रकार बाधा नहीं है...यह तो भइया का अपना ऊल-जलूल स्वभाव है।

पर दूसरे क्षण उसके मन का भाव बदला, उसे लगा क्या उसका इतना भी अधिकार भइया पर नहीं रह गया कि वह अन्तिम समय उन्हें बुला सके...। यह स्पष्ट है, उसके मन में नहीं सम्पूर्ण वातावरण में यह आभासित हो चुका है कि अब उसके अधिक चलने की आशा नहीं की जा सकती, फिर वह क्यों नहीं लिख कर भी बुला सकती थी भइया को...उसका यह अधिकार क्या नहीं है, नहीं रहा है कि वह अपने नरेश भइया को जब उसके मन की बहुत इच्छा हो तब बुला सके!...उसे यह आघात-सा लगा, उसने ऐसा किया है, उसने कई बार बल देकर नरेश को बुलाया है। पर आज माँ के स्वर में चिन्ता जैसा क्या ध्वनित हो रहा है। उसका पहले का अधिकार कहाँ चला गया? बहू आ गई है, हाँ बहू आ गई है और वह बहुत उल्लसित है कि उसके भइया की भाभी आ गई, उसकी कितनी इच्छा थी! उसने भइया से कितना युद्ध किया होगा इसके लिए, कितनी बहस, आग्रह, कितना आक्रोश किया है उसने इस प्रसंग में। और आज उसे मालूम हो रहा है, उसका इतना सा अधिकार भी छिन गया है!...नहीं, नहीं ऐसा नहीं हो सकता।

भइया से मैं कुछ कहती और वे नहीं मानते, वह ऐसा क्यों सोच रही है। भइया उसके साधारण संकेत पर ही आ रहे हैं, उसने तो इच्छा नहीं प्रकट की थी, वरन् उसने एक प्रकार से मना किया था। लेकिन...लेकिन अधिकार मात्र मिल जाने की बात नहीं है...वे मनवा लेने की बात भी होते हैं, घोषित रूप में प्राप्त हो जाने की बात होते हैं। उस विषय में मात्र किसी की कृपा पर निर्भर रहने की स्थिति नहीं सही जा सकती...और अब शायद उसके लिए अधिकार केवल दूसरों की कृपा की बात रह गई है, ऐसा ही लग रहा है। माँ ही की बात क्यों, स्वयं उसके अपने व्यवहार से उसे ऐसा ही लग रहा है...उसने भइया को खुलकर नहीं लिखा, उसने माँ के सामने बात इस रूप में नहीं रखी...यह क्या हो गया है...कैसा अन्तर आ गया है !...

माँ जा चुकी हैं और आरती ने अपने बिनाई के साथ आराम कुर्सी ले ली है...आरती न जाने क्यों अपना मुख उसकी ओर से अलग रखना चाहती है। उसे अनुभव हो रहा है, आरती अपने मनोभाव से यथासम्भव उसको बचाना चाहती है। कहीं कुछ उसके मन में है, कहीं कोई मनो-भाव उसके अन्तर को उद्वेलित कर रहा है और वह नीरा से छिपाना चाहती है।...नीरा समझ सकी है, यह उसका अपना प्रसंग नहीं है, आरती ने अपनी स्थिति से एक प्रकार से समझौता कर लिया है। वह एक वर्ष से देखती आ रही है, आरती जब यहाँ आती है, उसके मनोभाव से लगता उसे आराम है, उसके मन को शांति मिल रही है, वह किसी अपार घुटन से निकल सकी है। इस बार डेढ़ मास से वह आई है। उसका कहना है, नीरा जीजी को इस स्थिति में छोड़ कर वह जाना नहीं चाहती, उसे नीरा जीजी की सेवा से कोई नहीं अलग कर सकता।... पर प्रारम्भ से वह देख रही है, इस बार आरती के मन में मुक्ति पाने जैसा उल्लास भी नहीं झलक सका है।...वह आते ही उल्लसित हो जाती थी, मुक्त सी लगती थी, उसका पुराना बचपन फिर झाँकने

लगता था ; यद्यपि उसके सारे भाव में कहीं कोई भय-आशंका छायी हो ऐसा भी लगता था।

...और एक दिन वे भी थे जब आरती विवाह के बाद यहाँ आकर मात्र खोई-खोई रहती थी, जैसे उसका मन कहीं अन्यत्र हो, उसे किसी अन्यत्र की चिन्ता व्यस्त कर रही हो !...यहाँ आकर उसे पति के साथ सिनेमा, मार्केट, नुमाइश आदि से कम छुट्टी मिल पाती थी। उसे उसका यह व्यवहार प्रायः अभद्र लगता...पर माँ कहतीं बच्ची है, दिन हैं ! यह सब ऐसा ही होता है और वह चुप हो जाती।...फिर समय बदला, जैसे कोई ज्वार उतार पर हो...आरती घर आने के लिए उत्सुक रहने लगी और यहाँ आकर मुक्ति का अनुभव करने लगी। उसने यह परिवर्तन लक्ष्य किया...उससे नहीं रहा गया, उसने माँ का ध्यान इस परिवर्तन की ओर आकर्षित किया...पर माँ ने सहज भाव से कहा—'नीरा यह ऐसा ही होता है, वह ज्वार उसी प्रकार नहीं चल सकता, उसमें उतार आना भी वैसे ही स्वाभाविक है।'

नीरा को याद आ रहा है, उस दिन माँ की यह बात, न जाने क्यों बहुत अच्छी नहीं लगी...वह सोचती माँ ने कहना चाहा है, वह यह सब नहीं जानती, यह उसकी अज्ञता है। उसे यह अवसर मिल नहीं सका, नारी के जीवन का यह सत्य है और उसने नारी होकर भी वह जाना नहीं, समझा नहीं।...उसे लगता यह उसके नारीत्व का अपमान है...पर माँ ने ऐसा नहीं कहना चाहा है, माँ अपनी बेटी के लिए ऐसा नहीं कह सकती।...पर माँ ने नहीं, माँ कहाँ ! यह तो उनके भीतर की नारी ने उसकी नारी से चुनौती के स्वर में कहा है—'यह ऐसा ही होता है और यह भी ऐसा ही होता है, तुम क्या जानो, तुम क्या समझो...!'

पर...पर आज, इस बार...आरती के मन में न कहीं मुक्ति है और न कहीं कोई उल्लास ही...वह संकुचित-सी, सहमी-सी, एक दम उदास...न जाने कहाँ की विरक्ति उसके मन में उमड़ रही है। और माँ !

क्या वे इस बार भी कह सकती हैं—यह ऐसा ही होता है ! पर माँ ने यह सब देखा ही कहाँ, उनके मन में केवल एक भाव है, एक विचार है—आरती माँ बननेवाली है, उसका अज्ञात शिशु माँ के लिए सबसे अधिक चिन्ता और रक्षा का विषय है...माँ की शंका का केवल यही एक कारण है कि इस हालत में वह यहाँ आ कैसे सकी है। वह आती भी, पर यतीन्द्र ने उसको आने कैसे दिया, फिर नीरा ने उसे लिखा माँ ने लिखाया...उसका यतीन्द्र ने कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया।...माँ को अधिक सन्तोष नहीं हो सका, फिर भी उन्होंने आरती की ओर गौर नहीं किया। उनके मन में शिशु, आरती का, उनकी बेटी का शिशु ही प्रत्यक्ष रह सका और आरती उसकी छाया में मुरझा रही है, सूख रही है, संकुचित होती जा रही है।...नीरा ने देखा, उसने अनुभव किया...उसने आरती से सीधा प्रश्न करने का साहस नहीं किया, पर प्रसंगों से उसे आभास मिल गया...ज्वार अब उतार पर ही नहीं है, वरन् अब सागर में एक गतिहीन शांति है, उसमें अजब जड़ता, अजब निष्क्रियता दिखलाई पड़ रही है...और आरती है कि उसमें कोई विक्षोभ, विद्रोह की तरंग भी नहीं उठ रही है...पर यह भी क्या ऐसा ही होता है, प्रेम की यही परिणति होती है और यह भी क्या नारी जीवन का सत्य है।...

उसे माँ की पिछली बातें याद आ रही हैं और यह भी याद आ रहा है, कि इस बार माँ ने बिना पूछे कहा था—'यह ऐसी स्थिति में ऐसा ही होता है।' नीरा के लिए यह उत्तर नहीं था, और नीरा ने इस बार ध्यान भी नहीं दिया, वह स्वयं इस भावना से प्रारम्भ में अविभूत थी कि आरती के साथ उसका शिशु भी है। उसके मन में एक विचित्र रोमांचक संवेदना जागी थी...पर आज उसे माँ की इस बार की बात याद आने लगी है...यह हर बार क्या है ? यह क्या है जो वह नहीं समझती, जो नारी जीवन के गहन सत्य के रूप में उससे कहा जाता है !...पर यह ऐसा ही सब होता है तो...तो उसे सोचना पड़ेगा,

विचारना होगा...यह क्या है ? यह ऐसा ही क्यों है ? स्त्री को यह सब क्यों झेलना पड़ेगा। आरती को देखकर, उसकी गहरी मार्मिक वेदना को देखकर वह यह नहीं मान सकती, कि यह सब जो नारी के जीवन में ऐसा ही होना बताया जाता है...वह सब उसकी अपनी इच्छा, उसकी अपनी स्वीकृति से होता है।...

नीरा के मन में अनुगुंज है, यह क्यों है कि स्त्री को बहुत कुछ अनिच्छा से लेना होगा, उसकी इस विवशता के पीछे कौन है ! एक पुरुष ! एक पति, एक प्रेमी !...फिर क्यों वह सहती है, इस प्रकार सहना कहाँ तक उचित माना जायगा। और...और अभी-अभी उसे लगा है कि वह अपने भइया पर अधिकार खो चुकी है, उसे स्वयं साहस नहीं रह गया है कि वह आग्रह पूर्वक उन्हें बुला ले। नहीं नहीं, केवल माँ की मनोवृत्ति कह देने से काम नहीं चल सकता...उसने जब पत्र लिखा था उस समय, और अभी माँ के प्रश्न करने पर जो उत्तर दिया, इस सबसे यही सिद्ध होता है...उसने अपने अधिकार को स्वयं ही छोड़ दिया है, अधिकार के स्थान पर दया की अधिकारिणी हो गई है। उसके मन में यह भाव उमड़न के साथ गूँज जाता है। वह महसूस करती है, उसके मन में युग-युग की व्यथा प्रतिध्वनित हो जाती है... नारी ने नारी को ही पदच्युत किया है सदा, उसने स्वयं ही दूसरे के लिए बन्धन का आयोजन किया है...युग-युग की मनोवृत्ति ने माँ के मन को एक दिशा दे दी है कि यह ऐसा ही होता है...यह ऐसा ही होता आया है, प्रत्येक नारी ने यही तो युग-युग से ग्रहण किया है।... आज फिर उसे याद आ रहा है, उसने आरती से पूछा था, उससे उसके मन की बात पूछने का अभिनय किया, हाँ सचमुच अभिनय से अधिक उस पूछने को क्या कहा जा सकता है !

नीरा का मन आरती के चारों ओर उमड़ रहा है...वह एक अज्ञात शिशु को अपने अन्दर पाल रही है...और यह ऐसा ही है, माँ का कहना है...नारी के जीवन का यह सुन्दर सत्य है, प्रत्येक नारी ! पर नीरा

सोचना चाहती है...आरती के मन में क्या है? क्या नारी अपने सुन्दर-तम सत्य को इसी उदास उत्साहहीन भाव से ग्रहण करती है? आरती के मन में तो जैसे केवल रात की सारी चाँदनी के बाद प्रातः होने के पहले कुहरा ही कुहरा जमता उमड़ता जा रहा है...सारी दिशाएँ उसी धुंध से घिरती जा रही हैं और धीरे-धीरे अपने आप को देख पाना ही कठिन होता जा रहा है! यह क्या है? आरती के जीवन में जमता हुआ सफ़ेद-सफ़ेद बर्फ़-सा हल्का क्या है? स्वयं आरती क्या समझ रही है, माँ को क्या इसका अनुभव है?...नीरा के लिए तो यह बिल्कुल साफ़-सुथरा है...वह समझ रही है, उसे अनुभव हो रहा है, आरती का सारा जीवन जमता जा रहा है, बर्फ़ की ये ही हल्की परतें, कोमल परतें, धीरे-धीरे जम कर सख़्त होती जायँगी और तब...तभी आरती को उसका भान होगा...शायद तभी वह समझ सकेगी कि वह कितने शीतल सख़्त बन्धन में बँध चुकी है, कितना भारी बोझ उसकी चेतना को जकड़े हुए है!...यह सामने बैठी हुई आरती...कौन कह सकता है कि आरती अपने अन्दर सृजन के बीज को पाल रही है, उसके अन्दर वह बढ़ कर वनस्पति की हरियाली में अंकुरित हो रहा है, पल्लवित हो रहा है और उसकी आकांक्षा है कि वह आरती के जीवन तत्व को लेकर संसार की जलवायु में हराभरा हो उठे!...पर यह भी कौन कह सकता है कि वह सृजन का छोटा कोमल अंकुर जिस धरा से प्रस्फुटित हो रहा है, वह धरा कुहासे में अदृश्य है, उसके ऊपर बर्फ़ की तहें जमती जा रही हैं! नीरा विकल हो उठती है...इस अंकुर का क्या होगा?...आरती ऐसी-ऐसी क्यों है?

...यह आरती विद्रोह क्यों नहीं करती? पति से उसे अपमान मिला है, वह यदि उससे लांछित हुई है, तो उसका प्रतिकार हो सकता है।...लेकिन उसके शरीर में जो शिशु पल रहा है, वह उसको जो पाल रही है! और यह शिशु उस व्यक्ति का है जिसके प्रति विद्रोह करने की बात वह सोच रही है...शायद स्त्री के सामने यह एक विवशता हो।

सब कुछ उसके मन में उलझ जाता है, और उलझता जाता है, इस उलझन से निकल पाना कठिन है !.. फिर भी...फिर भी अपने शिशु के लिए, जो उसका अपना है, हाँ पति...पति से, पर इससे क्या ? शिशु आरती के अस्तित्व का, उसकी चेतना का अविभाज्य अंश है, उसके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है, उसका विकास उसके ही शरीर, उसके ही तत्त्वों से हो रहा है।...उदास होने का, इतना निरुपाय हो जाने का कारण क्या है ? है, ऐसा होता है, आदमी का विश्वास टूटता है, उसकी आशाएँ भंग होती हैं, तब वह स्वयं टूट जाता है, वह अपने को सँभाल पाने में प्रायः असमर्थ सिद्ध होता है। लेकिन क्यों नहीं... यह ऐसा भी हो सकता है, होना चाहिए...यह पलायन क्या ठीक है, इससे आदमी का अर्थ झूठा पड़ता है।...हाँ, यह क्यों नहीं हो सकता कि व्यक्ति नये स्वप्नों का सृजन कर सके, आरती...उसके सामने उसका स्वप्न उसी के अस्तित्व में पल रहा है, क्यों नहीं वह अपने इस नये स्वप्न की ओर देखती ? क्यों नहीं वह आगत के प्रति अपने भावों को फैला सकती, क्यों नहीं वह उसके भविष्य के स्वप्न को वह अपने जीवन का सम्बल बना सकती ? लेकिन, पर वह...

...आरती बैठी है...उसके हाथों की तीलियाँ एक निश्चित क्रम से उठती-गिरती हुई चल रही हैं, अनवरत भाव से। आरती उनकी ओर ध्यान नहीं दे रही है, वह नीरा की ओर भी नहीं देख रही है। कभी-कभी अन्तराल से वह एक दृष्टि उसकी ओर डाल देती है, इस भाव से शायद कि जीजी को किसी बात की आवश्यकता हो सकती है, अथवा जीजी यह न महसूस करें कि वह उनकी ओर ध्यान नहीं दे रही है। और फिर सिर झुका लेती है जैसे अपने इस स्वेटर को बहुत मनोयोग से बिन रही है, वह इसे बहुत जल्दी पूरा कर लेना चाहती है। नीरा देखती रहती है उसकी अँगुलियों की गतिविधि। उसकी प्रत्येक क्रिया से नीरा इस प्रकार की तन्मयता का अनुभव करने लगती है जैसे

वह बचपन में आकाश में पतंग उड़ती देख रही हो, और उसकी प्रत्येक संचलन क्रिया उसे मन ही मन अविभूत कर रही हो।...आरती को इस बात का आभास मिल जाता है कि जीजी उसकी ओर तन्मय होकर देख रही हैं, उसे लगता उसके मन का भाव दूसरे के द्वारा पढ़ लिया गया हो ! वह कुछ विचलित होती है, उसकी उद्विग्नता का अनुभव नीरा को भी होता है...वह अनायास ही उस ओर से अपना ध्यान हटा लेती है। पर आरती को अनुभव होता है जैसे उसने जीजी को अपने आप को पढ़ने से मना कर दिया है, वह विह्वल हो कर कह उठती है—"जीजी ! जीजी कुछ चाहिए तुमको।"

नीरा की हटती हुई दृष्टि और दूसरी ओर प्रवाहित होता हुआ ध्यान आरती की ओर मुड़ता है, उसकी दृष्टि में आरती के हल्के उद्वेग की मुद्रा खिंच जाती है।..."आरती, आज भइया आ रहे हैं।"—"हाँ, जीजी।" और इस प्रकार जैसे दोनों ने अपने भावों को संयत किया हो...आरती कह रही है—"जीजी, मुझसे भइया की भेंट कई वर्ष बाद होगी, उस बार जब वे आये थे, मैं नहीं थी।" नीरा इसी प्रकार बात बढ़ाने के भाव से कह रही है—"इस बार वे एकदम नये रूप में हम लोगों से मिलेंगे...वे भाभी को साथ लाते तो कितना अच्छा रहता...यहाँ से कोई भी नहीं जा सका, भइया को यह अच्छा नहीं लगा होगा। वे अम्मा से बराबर कहते रहे हैं कि बुआ, बिना तुम्हारे क्या हो सकेगा, तुम निश्चिन्त रहना, तुम नहीं होगी तो विवाह होनेवाला होगा तो भी रुक जायगा।...लेकिन आरती, आदमी के मन की बात कहाँ होती है...।" आरती सुनने के भाव से बैठी रही, फिर कुछ क्षण रुक कर उसने जैसे सोचते हुए पूछा—"जीजी, भइया ने एकाएक विवाह स्वीकार कर लिया, यह सब कैसे घटित हो गया ? तुमको क्या आश्चर्य नहीं हुआ ? ऐसा नहीं कह सकते कि भइया ने हम लोगों को सूचित ही एकाएक किया हो, ऐसा नहीं हो सकता...फिर इस सबमें क्या है ? न जाने क्यों यह सहज स्वाभाविक नहीं लगा। हो सकता है मेरे मन का

अपना भाव ही प्रधान हो।" नीरा क्या उत्तर दे, वह सोच रही है, क्या वह ऐसा ही नहीं अनुभव करती रही है। पर वह आरती से यह स्वीकार नहीं करना चाहती—"आरती, एक मनःस्थिति में यह स्वाभाविक हो सकता है...विशेष आयु प्राप्त कर लेने पर विवाह आदि के विषय में शायद वह भावावेश व्यक्ति नहीं महसूस कर पाता, जो कैशोर्य में, नवयौवन में...हो सकता है,सम्भव है।" आरती जीजी के तर्क से सन्तुष्ट हुई हो ऐसा नहीं लगता...फिर शान्ति व्याप जाती है। आरती अपनी बिनाई में मनोयोग से लग गई है, पर स्पष्ट है यह केवल अपने को उस वातावरण से खींच लेने के लिए किया जा रहा है।...और नीरा खाली-खाली उस कमरे में मड़रा रही है, जैसे कोई आधार चाहती हो, उसके लिए कोई वस्तु मिल नहीं रही है...सारा कमरा खाली है, बिल्कुल खाली होता जा रहा है, उसकी हवा भी खींची जा रही हो, खिचती चली जा रही हो...कमरा शून्य से भर गया है...और इस शून्य से बचने के लिए वह अपनी दृष्टि बाहर की ओर कर लेती है, वह कमरे से बाहर होना चाहती है, उसका दम घुटने लगा हो जैसे...

...सामने की घाटी में प्रसार है, यद्यपि यह प्रसार दो ओर से सीमित कर दिया गया है, फैलते-फैलते जैसे दो ओर से घिर गया है... फिर भी उसको साँस लेने का अवसर मिलता है। वह घाटी की घनी होती छाया पर घूम रही है, ऊँची-नीची...उठती-गिरती श्रृङ्खलाओं पर वह निर्द्वंद्व भाव से विचरती रही, उसके लिए कहीं कोई रोक नहीं, कहीं कोई बाधा नहीं। वह अपने मन को, अपनी चेतना को मुक्त कर लेना चाहती है। सारी मन की घिरती हुई भावनाएँ, विचार, कल्पनाएँ उसको बोझिल लगने लगी हैं। उसे लग रहा है...श्रेणियों के उतार चढ़ाव पर घूमते हुए, श्रृङ्खलाओं की चोटियों पर चढ़ते हुए और उन पर बैठ कर, उसे न जाने कैसी शान्ति, सुख का अनुभव हो रहा है। दाहिनी ओर

की चोटी पर बैठ कर उसे साँझ के समय सूरज की झुकती हुई साया दिखाई दे रही है, सूरज पश्चिम में तेज़ी से नीचे की ओर जा रहा है। उसका सारा तेज हल्का पड़ रहा है, और वह बैठी है उस शिखर पर, उसके सामने बालू के विस्तार के बीच कहीं रेत के टीले हैं और उनसे सटा हुआ एक गाँव है...कहीं बीच-बीच में हरियाली झलक रही है, नहीं कह सकती खेत में क्या बोया गया है।

...'मैं बैठा हूँ...मेरे सामने नीचे की ओर घाटी का विस्तार फैला हुआ है जिसके अन्तराल में न जाने कितनी छोटी बड़ी पहाड़ी श्रेणियाँ उभर कर फैली हुई हैं...और सामने एक हिमाच्छादित विशालकाय शिखर है, जो लगता बिल्कुल पास ही खड़ा है, पर बहुत दूर है।... उस विशाल पर्वत राज को देखकर मन अविभूत हो रहा है...बाईं ओर एक सशक्त पहाड़ अपनी नंगी चट्टानों में दृढ़ता के साथ जमा हुआ है, जैसे देश का प्रहरी है जो युग युगों से इसी प्रकार खड़ा है। मैं सीमान्त पर हूँ, देश यहाँ समाप्त होता है...पर नीरा, जैसे देश में बादल मड़रा रहे हैं और जिसकी छाया, जिसका आभास मिल रहा है...पता नहीं क्या स्थिति होगी। देश की इस इतने दिनों की सीमा का क्या होगा?...नीरा तुम नहीं जानतीं धर्म पर राजनीति के बढ़िंग का क्या प्रभाव पड़ा है।...यहाँ के विशालकाय पठान देखने में ही भयावह लगते थे, वैसे उनकी दृष्टि में सदा आमंत्रण का भाव तुम देख सकती थीं, सदा ममता की अभिव्यक्ति उसकी दृष्टि में पकड़ी जा सकती थी...पर अब बहुत कुछ बदल गया है। उनकी भावना बदल चुकी हैं, उनकी दृष्टियों में अन्तर आ चुका है...उनकी अनभ्यस्त आँखों में सन्देह और अविश्वास की छाया है, उनमें हिन्दू मुसलमान को पहिचानने की प्रवृत्ति जागी है!...क्या हो गया हमको, अहिंसा और सत्याग्रह से आगे बढ़नेवाला युद्ध, घोर अहिंसा के गृहयुद्ध में जैसे बदल रहा हो।...और यह इस प्रकार का दंगा क्या गृहयुद्ध भी कहा जा

सकता है...नीरा, लग रहा है देश के स्वतंत्र होने के पहले ही, देश के विभाजन के साथ ही हमारा सारा राष्ट्रीय जीवन कलुषित हो चुकेगा।...और गांधी जी, बापू! मैं निरन्तर सोचता रहा हूँ, उनकी क्या मनःस्थिति होगी?...मैं तुम्हारी बात नहीं मान सका हूँ और आज भी मान नहीं सकूँगा...गांधी का सिद्धान्त ठीक भी हो सकता है, परन्तु उनकी नीति से मुझे शिकायत है और रहेगी!...यह कहना अशोभन लगता है, पर यह कटु सत्य है, यह देश के विभाजन की माँग और उससे भी भयानक यह लज्जाजनक तनाव की स्थिति गांधी जी के सिद्धान्त और उनकी नीति का परिणाम है...सीधा नहीं, क्योंकि अहिंसा और सत्याग्रह बहुत ऊँचे सिद्धान्त अपने आप में हैं, ऐसा मैं भी मानता हूँ। पर...पर क्या यह ऐसा नहीं है कि देश को जिस मानसिक स्तर पर रख कर गांधी जी ने उसको यह सिद्धान्त दिया है, वह उसके बिल्कुल अनुपयुक्त रहा है।...जिस धर्म की मध्ययुगीन मनोवृत्ति से देश नहीं निकल सका है, जिन संस्कारों में देश अभी ग्रस्त है, उनमें इस आत्मशक्ति के प्रखर सिद्धान्त से किसी प्रकार देश का भला नहीं हो सकता। गांधी ने राजनीतिक क्षेत्र के कारण निगेट कुछ भी नहीं किया, केवल सब को स्वीकार करके ही इतने बड़े सत्य को दे देना चाहा है और यह उनकी पहली और अन्तिम भूल थी...यही नहीं इस प्रकार देश के मार्ग में आगे के लिये भी गतिरोध ही उपस्थित किया है। किसी भी बड़े सत्य की स्थापना के लिये यह अनिवार्य होता है, उसके सामने के सारे जाल को निगेट किया जाय, अस्वीकार किया जाय।...सचमुच सत्य सबसे बड़ा आग्रह है, पर मैं पूछता हूँ कि क्या गांधी जी ने सत्य के आग्रह को निर्भीक होकर, निमर्म होकर धारण किया है...यह नहीं कि वे किसी से भय खाते थे, पर प्रत्येक संस्कार के सामने झुक कर चलनेवाले रहे हैं...हिन्दू या मुसलमान, देशी या विदेशी...

...'नीरा, मैं लौट रहा हूँ, यहाँ के वातावरण से आतंकित होकर

हमारे प्रोफ़ेसर ने तार द्वारा लौट आने को कहा है, और यही उचित भी है... १५ आगस्त के पहले लौट आना अच्छा होगा।...सामग्री की दृष्टि से रुकने की ज़रूरत रही भी नहीं, घूमने का मन अवश्य अभी था।... मैं कहता हूँ नीरा, तुमने जो झेला है, उसमें इस प्रकार के भावों का आना सहज है,...मैंने कई बार स्वयं ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं... तुमने उत्तर भी दिया है उनका...पर आज तुमने यदि वही सब लिखा तो मुझे खेद या आश्चर्य नहीं है।...तुम्हारे मन में आज अविश्वास जन्म ले रहा है, अश्रद्धा उत्पन्न हो रही है, विद्रोह जन्म ले रहा है!... और मैं समझ रहा हूँ, यह सहज है, स्वाभाविक है।...मैं सदा सोचता रहा हूँ, नीरा के मन में विद्रोह क्यों नहीं जन्मता, नीरा में अविश्वास जन्म क्यों नहीं लेता!...आज मैं प्रसन्न हूँ,...लेकिन तुम कहोगी, तुमने संकेत किया भी है कि...फिर सहने की शक्ति कहाँ से प्राप्त होगी, इस पीड़ा, इस वेदना को किस विश्वास के सहारे सहा जा सकेगा!...हाँ, ऐसा है,...पर आदमी के कमज़ोर विश्वास से, श्रद्धा से विद्रोह जो शक्ति देता कहीं सच्चा और समर्थ होता है। हाँ, सच्चा विद्रोह होना चाहिए!...मैं समझ रहा हूँ, यह मन का विद्रोह अनन्त संघर्ष से, अनन्त पीड़ा और वेदना से उत्पन्न हुआ है,...यह तपा हुआ आत्मविद्रोह असंख्य अन्धश्रद्धाओं से, अन्धविश्वासों से गरिमामय है। तुमने लिखा है, कहीं कोई प्रभु है, कहीं कोई है जो प्रभु कहला सकता है, इसमें तुम्हें अविश्वास होने लगा है...यह सारा जिसकी प्रतिकृति है, जिसकी प्रतिछाया है, आदमी जिसकी प्रतिमूर्त्ति है...वह कैसा प्रभु होगा!... उसकी करुणा, उसकी दया में तुमको अविश्वास हो रहा है...तुम पूछती हो, यह तुम्हारी पराजय के चिह्न तो नहीं है!...यह ऐसा मैं नहीं मानता नीरा, इसमें तुम्हारी पराजय नहीं, विजय ही परिलक्षित हो रही है... अब तुम सत्य का साक्षात् करने के लिये अकवच प्रस्तुत होने जा रही हो, और यही वह स्थिति है जिसमें शायद जीवन का सच्चा अर्थ आदमी ग्रहण करने में समर्थ हो पाता है। नीरा आरोपित सत्य, सत्य का

आभास मात्र है, सत्य नहीं। वह कोई मार्ग नहीं और न यह उस मार्ग पर चलना ही कहा जायगा कि दूसरे ने बतलाया है, दूसरे ने पार किया है।...तुम्हारी पीड़ा ने तुमको विद्रोही बनाया है, और यह पीड़ा ही, दुःख ही तुमको जीवन का अर्थ दे सकेगा, जीवन को सम्पूर्णतः ग्रहण करने की शक्ति दे सकेगा।...तुम जानती हो मैं ऐसे किसी प्रभु को स्वयं नहीं मानता जो दूसरे के द्वारा प्राप्त हुआ हो...मेरा प्रभु मुझे स्वयं मिलेगा, मैं उसकी खोज स्वयं करूँगा...या यह कहूँ कि वह स्वयं मेरी खोज करेगा। कष्ट, पीड़ा, वेदना आदमी की पराजय नहीं, यद्यपि लगता यही है, यद्यपि आदमी उससे आक्रान्त होकर अस्त्र डाल देता है,...पर इनसे आदमी विद्रोही भी बनता है, इनसे आदमी अविश्वासी भी बना है...और यह रास्ता है आगे बढ़ने का! नीरा तुम सच मानो, मैं स्वयं नहीं जानता, क्या परिणति होगी तुम्हारी इस मनःस्थिति की...प्रत्यक्ष मुझे भी यह लगा था, जब पत्र पढ़ा था, और मैं चिन्तित भी कम नहीं हुआ...पर आज अभी यह लग रहा है...तुम्हारे जीवन का अर्थ, सार्थकता का मार्ग यही है...इतने लम्बे वर्ष तुमने जिस विश्वास के आधार पर काटे हैं, वह अब शायद तुम्हारे लिये निरर्थक हो चुका है और...'

...वह...उसका मन पच्छिमी शिखर से न जाने कब का उतर चुका है...वह अब काली तारकोल की सड़क की हल्की छाया में ऊपर चढ़ रहा है...पता नहीं सड़क इतनी सूनसान क्यों अभी से हो गई है। अभी दिन डूबने में तो डेढ़ घंटे की देर है, और इस घाटी में आज छाया अभी से गहरी क्यों होती जा रही है...घाटी की इस सड़क पर धूप कहाँ दिख सकती है? पर उसकी दृष्टि में कहीं से धूप का एक टुकड़ा आ गया है...

...'मैं नहीं जानती, समझना मेरे लिए सरल भी नहीं है।...पर

मन का विश्वास आज ओझल हो रहा है, और न जाने कैसा विद्रोह जन्म ले रहा है। मैं प्रसन्न नहीं हूँ, मैं चाहती भी नहीं हूँ, मेरे आस्तिक संस्कार मेरे चाहते हुए भी मुझे छोड़ रहे हैं...यह क्या है, कहाँ से आ रहा है? मैं स्वयं विकल हूँ, उलझन में हूँ...मैं सोचती हूँ कि यह सारा पीड़ा अवसाद का जीवन किस प्रकार काट सकूँगी...अब तक मैं सह सकी हूँ, किसी न किसी प्रकार अपनी स्थिति से समझौता कर सकी हूँ... पर अब...यह जो जन्म ले रहा है, क्या मेरे सारे संतोष का अपहरण नहीं कर लेगा।...नरेश भइया, तुम कहते हो कि विद्रोह जन्म ले रहा है और यह मुझे शक्ति देगा, मुझे संघर्ष की नई प्रेरणा देगा...पर मैं तो विकल हूँ कि क्या होगा, मेरा जो एक सम्बल था, वह भी हाथ से जा रहा है। तुम प्रयाग आ गये होगे, ऐसी आशा करती हूँ।...भइया यह क्या हो रहा है, मैं तो केवल समाचार-पत्रों और रेडियो द्वारा ही संसार से सम्बद्ध हूँ। पर जो सुनती हूँ, पढ़ती हूँ...मेरे मन में न जाने क्यों बापू का ध्यान ही अधिक आ रहा है। मुझे लगता है, उनको यह सब कितना वेदना देता होगा...वे यहाँ से वहाँ, कहाँ-कहाँ जा सकेंगे... और इन बर्बर भावावेगों के बीच कर ही क्या पायेंगे...तुमने जो लिखा है...मैं समझती हूँ बापू के लिए सत्य नहीं है।...इन्होंने एक सत्य दिया है, वे राजनीति तथा जीवन में कोई विरोध नहीं मानते...तुम अपने मत पर पुनः विचार करो।...नरेश भइया, मैं सोचती हूँ, यह मेरा जीवन क्यों? मैं नहीं कहती कि मुझे जीवन की कामना है, मैं उसके सुखभोग चाहती हूँ, नहीं, नहीं...मैं कुछ नहीं चाहती...मुझे इस जीवन से चिढ़ होती जा रही है, बहुत समय तक मैं अपने को सँभालने का प्रयत्न करती रही हूँ, पर अब यह असह्य होता जा रहा है...आख़िर इस जीवन का क्या उद्देश्य! क्या यह बोझा नहीं है, जिसको केवल ढोना ही मेरा भाग्य हो गया है!...कहाँ तक कोई सह सकता है, उसकी एक सीमा होती है, यह अनवरत सहना किस लिए! क्या अन्ततः इसका प्रयोजन है, क्या अर्थ है इस सबका? और वह भी जिसकी कोई

भी सीमा गोचर नहीं है।...आख़िर कब तक यह सब सहना होगा, कुछ भी ज्ञात हो, तो भी एक सहने की सीमा होगी...पर अनिश्चित सहन करना कब तक चलता रहेगा। मैं भयभीत नहीं हूँ, मैं मृत्यु का वरण हँसते-हँसते कर सकती हूँ, पर अब यह अनिश्चित असीम एक रस, स्वादहीन जीवन...कैसे करूँ भइया, तुम ही बताओ। मैं न जाने क्यों अत्यन्त विह्वल हूँ...क्या तुम कोई मार्ग बताओगे...भइया, तुम्हारा बहुत सहारा रहा है...

...वह धूप का अनायास आया हुआ टुकड़ा मन में धीरे-धीरे डूब गया, उसकी झलक न जाने कबकी सामने से ओझल हो चुकी है। केवल मन में एक आभास था, और अब वह भी विलीन हो चुका है।...केवल छाया, उसके विस्तार के साथ फैली हुई पहाड़ी श्रेणी...उसके मन में वह सारी छाया का प्रसार फैला हुआ है और मन को अवसाद, सूनेपन के मिश्रित भाव से भर गया है।...उसी समय एक ऊँट उसकी दृष्टि में उभरता है...सारी शृङ्खला में विस्तृत धुँआँ-धुँआँ सा फैला है, और उस अदृश्य सी पहाड़ी श्रेणी में केवल एक यह आगे बढ़ता हुआ ऊँट है, और वह आगे उसी की ओर आ रहा है, बढ़ा आ रहा है... फैले हुए दृष्टिपथ पर वह उतरता चला आ रहा है। घाटी की तारकोल वाली सड़क का कहीं कोई आभास नहीं, घाटी की शृङ्खला भी केवल आभासमय है। केवल एक छायापथ फैला है, यह पथ जैसे उसके दृष्टि विस्तार पर उतरता आ रहा है, और उसी पर यह ऊँट आगे बढ़ा आ रहा है...

...'यह ऐसा नहीं है, यहाँ की हरी-भरी घाटी ने मानों सारे क्लेश पर, सारी श्रांति पर हल्का सा अपना कोमल हाथ फेर दिया हो... थीसिस समाप्त करने के बाद मुझे जो अनन्त क्लान्ति घेरे हुए थी, वह अब उतर रही है।...नीरा यह सीतागढ़ की घाटी न जाने क्यों प्रति

दिन तुम्हारे लिए मुझे उत्सुक कर देती है, सुबह शाम जब मैं उसकी ओर टहलने जाता हूँ...सेंट एस्टेनिसलॉस की सेमीनरी से आगे सड़क पर बढ़ता जाता हूँ और वह सर्प शिखरवाला पर्वत बाईं ओर से और गजाकार पर्वत दाहिनी ओर से जैसे आगे बढ़ते हुए, पीछे की ओर निकलते आते हैं। सड़क घनी वनराजि के बीच से आगे बढ़ रही है, दोनों ओर ऊँचे आम, जामुन के वृक्ष लगे हुए हैं...सेंट एस्टेनिसलॉस की सीमा समाप्त हो चुकी है...और सर्पाधार तथा गजाकार पहाड़ियाँ अब भी पीछा करती हुई उभरती आ रही है...लेकिन वे पीछे छूटती जा रही हैं।...हल्का-हल्का प्रकाश भर अभी फैला है और सारा दृश्य साफ़ दिखाई दे रहा है। अब सामने हरी घाटी है, बाईं ओर पहाड़ का पार्श्व दूर तक घूमता हुआ अदृश्य हो जाता है और दाईं ओर की छोटी पहाड़ी श्रेणी उभरते-उभरते जैसे ढालू होकर समतल हो गई हो। उसका गहरा पेटा साखू, शाल के पेड़ों से भरा हुआ है। आगे बाईं ओर नंगी बंजर छोटी गृद्ध पहाड़ी को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ गया हूँ, अब सड़क ऊपर चढ़ रही है, पहाड़ी के दाहिने पार्श्व पर...जिसके दाहिनी ओर के जंगल कुछ दूर पर ढालू होते चले गये हैं...और जान पड़ता है एक विस्तार अपने हरे-भरे प्रसार में फैला हुआ है। आगे बढ़ता जा रहा हूँ...पहाड़ी का पहला शिखर घूमता हुआ साथ चल रहा है, वह आगे निकलता जा रहा है...

'न जाने क्यों मेरे मन में उसी समय तुम्हारी याद आ जाती है... मुझे लगता है, सारा सौंदर्य, उसका सारा आकर्षण बिखर रहा है। घिरा हुआ मेरा मन न जाने कैसे कम्पन से भरता जाता है, न जाने कैसी अज्ञात सिहरन मन को अभिभूत कर देती है...मुझे लगता है, तुम भी होतीं नीरा यहाँ...तुमको यह कितना आकर्षक लगता, कितना मोहक लगता।...विराट नगर की याद है न, और उससे भी अधिक भर्तृहरि की समाधि का वह अलवर का वन...कितनी स्मृतियाँ मन को आकुल कर जाती हैं...विशेष कर जब तुम...नीरा, तुम अधिक चल नहीं पातीं,

तुमको कैसी विवशता का अनुभव होता होगा। मैं कल्पना करके ही सिहर जाता हूँ; प्रकृति का यह मुक्त उल्लास, प्रसार, विस्तार...हहर-हहर कर प्रकृति अपनी ओर आमंत्रित कर रही है...दूर तक अनन्त विस्तार में फैला हुआ घाटी जैसा उतार, और लुकते-छिपते इन शिखरों का आगे बढ़ते जाना...एक दूसरे से ऊँचे उठने की इनकी होड़...कितना रहस्यमय लगता है। मन को न जाने कैसे अकर्षण और आतंक से यह सब भर रहा है...और बीच में तुम्हारी सुधि, तुम्हारे निष्क्रिय होते हुए जीवन की याद! मेरे मन में वही भावनाएँ उमड़ती हैं, मेरे मन में भी वही विद्रोह उठता है...यह सब कैसा है, यह सब क्यों है?...हमको तन कर खड़ा होना होगा इसके ख़िलाफ़...प्रभु ने दिया है, प्रभु मनुष्य को दुःख देता है, वेदना देता है...यह ऐसा क्यों है?...क्यों मानने की विवशता हो ऐसे प्रभु को?...प्रभु ने सुन्दर की सृष्टि की है, उसने स्वर्ग की सृष्टि की है...और मनुष्य को, अपनी प्रतिकृति को केवल पाप में जलने के लिए क्यों बनाया है? मन विद्रोह करता है, ठीक है, हम विवश हैं अपनी पीड़ा को, अपनी वेदना को सहने के लिए, यह ठीक है हम उससे मुक्त नहीं हो पाते...फिर भी क्या आवश्यकता है उस प्रभु को मानने की जो हमको इस पाप की ज्वाला से, इस दुःख, क्लेश से मुक्त नहीं कर सकता।...न जाने कौन सा वह जीवन होगा जिसकी आशा में, जिसके विश्वास में हमको यह सब सहना होगा, प्रभु हमारा उद्धार करेंगे, प्रभुपुत्र हमारी सहायता करेंगे...उसी के विश्वास में हम सारे जीवन पाप की स्मृति में बिता दें...हौं पतितन कौ टीको...कहते रहना होगा...नहीं, नहीं...ऐसा कहना, करना मनुष्य का अपमान है, ऐसे प्रभु से क्या जो मनुष्य के अपमानित होने में सार्थक हो...

...'नहीं, नीरा, हमको सचमुच विद्रोह करना होगा, संस्कार की इस भावना से, जड़ता से हमको मुक्त होना होगा...हमको तब भी सहना होगा और तब भी ये क्लेश, ये पीड़ाएँ होंगी...लेकिन तब हममें उनको सहने का अपना बल होगा, अपना साहस तो होगा, जिससे हमको

उन्हें झेलने में भी एक सुख मिल सकता है, एक चुनौती स्वीकार करने का सुख मिल सकेगा।...परन्तु यह तो नीरी विवशता है...मैं सोचता हूँ, तुम क्यों नहीं हो उल्लसित इस विद्रोह की भावना से...सचमुच तुमने एक लम्बे अरसे से जो कुछ झेला सहा है, वह आदमी को विचलित न कर दे, यह आश्चर्य की बात होगी।...मुझे अब भी लगता है तुममें आस्था का, विश्वास का भाव शेष है और यह तुम्हारी सहनशीलता की अपनी सीमा है...जो किंचित् विद्रोह तुम्हारे मन में उभरा है, तुम उसको भी खिन्न भाव से देखती हो, शायद तुमको यही अपनी पराजय लगती है...पर मैं तो समझता हूँ नीरा, इस स्थिति में यह आस्था का आरोप व्यक्ति को अधिकाधिक कुंठित और निराश करता जायगा...तुम अबाध रूप से अपने अविश्वास को, अपनी अनास्था को विकसित होने दो...'

नीरा को आभास मिलता है, जैसे किसी ने कमरे में प्रवेश किया है, पदचाप से उसने अनुमान लगा लिया...माँ ने कमरे में प्रवेश किया है। उसे अनुभूत था कि आरती जा चुकी है...माँ कुर्सी पर बैठ गईं, और यह नीरा ने समझ लिया है। उन्होंने कहा—"नीरा, तुम्हारे डा० अंकिल को कहला दूँ, वैसे तो वे आ ही जाते हैं, पर इस प्रकार अनिश्चित रहता है।" नीरा की कल्पना में व्याघात हुआ, उसने माँ की ओर देखते हुए कहा—"माँ, आज तो ठीक ही लगती हूँ।" वह कह गई, पर बाद में उसे लगा, यह ऐसा है नहीं। उसके आज के इस अच्छे जैसे लगने को किसी ने साधारण भाव से नहीं लिया है...वह स्वयं अनुभव कर रही है, उसका यह अच्छा-सा लगना क्या अर्थ रखता है। उसने बात की रक्षा करने के लिए कहा—"नहीं, अच्छा ही है, अंकिल को बुला ही लो, वे अक्सर तो आते रहते हैं।" माँ ने जैसे सुना और समझ भी लिया। पर वे उठीं नहीं। वह समझ रही है, माँ ने आज्ञा कर दी होगी। माँ बहुत चुप हैं, उनके मन में क्या है ?

...पर माँ के मन में जब कुछ घुमड़ने लगता है, तब वे अपने प्रभु का स्मरण करती हैं, वह जानती है। सदा ऐसा ही करती हैं...वे निस्संकोच भाव से अपनी सारी चिन्ताएँ, सारी मोह ममता प्रभु के चरणों में समर्पित कर देती हैं...क्या उसने उनके इस भाव को कभी अन्ततः समझा था, यह सब समझ पाना सरल नहीं था।...यह था कि उसके मन में भी कहीं कोई आस्था का सूत्र रहा है, विश्वास का आधार रहा है, पर माँ की एकान्त भावना उसके लिए रहस्य की वस्तु सदा रही है। और उसके मन का एक ऐसा भी भाव रहा है जिसकी उपस्थिति में उसे लगने लगा था कि उसका आस्था का संस्कार, उसके विश्वास की आधार शिला भी हिल गयी है। उसके मन में न जाने कैसा विद्रोह लहराता, उमंगित होता बढ़ा आ रहा है, और वह उसको विवश सी देख रही है।...पापा जब तक थे; उनके चरित्र, उनके अविश्वास से उसने ग्रहण किया था, बहुत बार उनके व्यक्तित्व के आकर्षण से उसे लगा था कि उसके मन को मौलिक भाव, संस्कार पापा से ही अधिक मिलता है...पर माँ का निरपेक्ष, समर्पित भाव था कि उसके सामने ठहर पाना पापा के लिए भी सम्भव नहीं रहा, वे उनके सामने आस्तिक भाव से, आस्था के भाव से अनुप्राणित हो उठते हों जैसे!...यह भिन्न बात थी कि माँ पापा के चरित्र की, उनकी अनास्था की भी रक्षा करना अपना ही कर्तव्य समझती थीं...और उन्होंने पापा को कभी प्रभु के सम्मुख भी समर्पित होने का अवसर नहीं दिया। उन्होंने बहुत कोमल भाव से, सहज भाव से पापा के सामने झुक कर, विनम्र होकर उनकी रक्षा की और अपनी भावना की भी रक्षा की...ऐसे अनेक क्षण आये हैं जब माँ ने पापा की अनास्था की जैसे रक्षा की हो!...

...उसको आज एक घटना की बहुत हल्की याद आ रही है!... कैसे वह बहुत धुँधली स्मृति उसके मन में रूप ग्रहण कर रही है! उसे विश्वास नहीं हो पा रहा है...वह केवल पाँच-छः वर्ष की है! एकाएक

उसे लगता है...घर का वातावरण बहुत बोझिल हो गया है, कुछ ऐसा हुआ है जिसे लेकर घर में अजब सा गहरा उदास सब कुछ लगने लगता है।...वह स्वयं भी उदास है। उसकी जीजी, उसकी अंजली जीजी, उसकी खेल-कूद की एक मात्र सखी, न जाने कहाँ चली गई... माँ बहुत पूछने के बाद इतना भर कह देती हैं—'तुम्हारी अंजली जीजी बहुत दूर चली गई है...हाँ फिर आ जायगी।' पर माँ के इस कहने में कैसा भाव था कि उस दिन भी विश्वास करना कठिन लगता है।...माँ के अश्रु नहीं रुकते, वे पूजा के समय भारी स्वर में प्रार्थना क्यों करती हैं...पर सबसे अधिक बात है पापा की, उनको यह क्या हो गया है। वे इतने मौन, इतने उदास क्यों हैं?...उसे याद है पापा अंजली को उससे अधिक मानते हैं, उसे पापा का पक्षपात कभी बुरा भी लगता है; पर माँ तो उसे अधिक प्यार करती हैं, वह इस ओर ध्यान अधिक नहीं देती।...लेकिन अब पापा इतने चुप क्यों रहते हैं, उनको क्या हो गया है?...माँ पापा को लेकर जैसे कुछ उद्विग्न हों!...

वह सुनती है माँ पापा से कह रही हैं—'क्यों यह क्या बात है?... यह ऐसे नहीं चलेगा! तुम तो ऐसे नहीं थे...तुमको यह शोभा नहीं देता, इस प्रकार उदास रहने से कैसे काम चलेगा।...मुझे देखो, मैं तो माँ हूँ, मैं जानती हूँ तुमको बहुत लगी है, वह ऐसी ही थी...तुमको उसने शायद इसीलिए इतना घेर लिया था...यही तो माया है, प्रभु की माया...तुम इतना क्यों सोचते हो...जिसकी दी हुई चीज़ थी उसने ही ले ली, फिर क्या चिन्ता!...देखो, सुनो, यह सब ठीक नहीं है। इनकी ओर क्यों नहीं देखते, जो नहीं है उसकी चिन्ता करते हो! जो हैं, जो प्रभु ने दिये हैं उनकी ओर क्यों नहीं देखते!'...इसी प्रकार माँ पापा से कुछ कहती-सुनती रहती हैं, वह कुछ अनुमान उस समय नहीं कर पाती है। पर इस बात का आभास लगने लगता है कि पापा धीरे-धीरे प्रकृतस्थ होते जा रहे हैं, और वे फिर अपने सहज भाव में आ रहे हैं...

...और उसके मन में न जाने कैसी विद्रोह की भावना घर कर रही है...उसने आशा की थी कि नरेश भइया से उसे सहारा मिल सकेगा, पर भइया के मन में उसके मन से अधिक विद्रोह है, अनास्था और अविश्वास अधिक दृढ़ता से उभर रहे हैं। क्या सचमुच यह अनास्था, यह विद्रोह ही उसे अब बल दे सकेगा, अब इस अन्तिम संघर्ष में विश्वास और आस्था के अस्त्र काम नहीं देनेवाले हैं?...पर माँ, माँ ने कभी क्या उनका सम्बल छोड़ा! माँ ही गहन संस्कार के रूप में उसे बिजड़ित कर रही हो, उसके सारे विद्रोह से संघर्ष ले रही हो जैसे।... उसे शान्ति नहीं मिल रही है; उसे जाने क्यों न आस्था और विश्वास का आधार ही मिल पा रहा है, जैसे वह उसके पैरों के नीचे से खिसक चुका हो, और न विद्रोह की ही पूरी शक्ति अन्दर से उभर रही है। इस संघर्ष में वह बिल्कुल अकेली है...नरेश भइया एक ओर हो गये हैं, इसका उसे आभास नहीं था...अब क्या होगा!

वह लिखती है—'भइया, मैं समझ ही नहीं पा रही हूँ, कि मेरे इस संघर्ष की परिणति क्या होगी? मेरे मन का विद्रोह ऐसा निर्द्वंद्व नहीं जान पड़ता जैसा तुमने अनुभव किया है! हो सकता है भइया तुम्हारी बात ठीक हो, तुम्हारे लिए शायद वह ठीक हो भी...पर मैं क्या करूँ! मैं संघर्ष में हूँ, मेरे लिए अभी यह रास्ता नहीं है, मेरे लिए यह सब इतना सरल सीधा नहीं है, जितना तुमने सोचा है...मुझे लग रहा है, मेरे मन में यह संघर्ष पापा और माँ के चरित्रों का है! मैं नहीं समझ सकी हूँ कि कौन अधिक सही था। एक बार जान पड़ता है, मेरे स्वभाव में पापा का चरित्र है, और दूसरी ओर मन में माँ के संस्कार अधिक बलवान हो जाते हैं!...ऐसा नहीं कि अब तक मेरे मन में कोई पक्ष स्पष्ट रहा हो, पर अब तक सहज भाव से दोनों के साथ चल सकी हूँ!...पर अब संघर्ष एक स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहता है!...मुझे जान पड़ रहा है कि यह सब आस्था, विश्वास पुराने घिसे हुए मूल्य हैं, उनके सहारे चलना असम्भव हो गया है, आगे जो

रास्ता है, वह ऐसा नहीं है जहाँ इनसे एक कदम भी आगे बढ़ा जा सके।...पर दूसरी ओर यह भी मन के अन्दर से स्वर उभरता है कि सावधान, यदि यहाँ भ्रम में फँसे तो कोई सहारा नहीं रह सकेगा, कोई अवलम्ब नहीं मिलेगा। आगे का रास्ता बहुत बीहड़ है, उससे गुज़रना आसान नहीं...यह आस्था ही, प्रभु का हाथ ही यहाँ एक मात्र आश्रय हो सकेगा, यदि उसे छोड़ा तो फिर क्या रहेगा ?...

...'भइया, तुमने हज़ारीबाग के निकट की जिस घाटी का वर्णन किया है, उसके लिए मेरे मन में भी कामना जाग गई है...क्या सच-मुच तुम्हें वहाँ मेरी याद आई है ? मैं यहाँ खाट पर ही कल्पना कर लेती हूँ कि भइया के साथ मैं उन्हीं श्रेणियों के बीच लुका-छिपी खेल रही हूँ। मुझे लगता है हम दोनों ही उन शिखरों पर छिप-छिप कर एक दूसरे को छका रहे हैं...कैसा होगा वह सब ? मेरे लिए सारा का सारा संसार केवल स्वप्न हो गया है...मेरा संसार केवल यह कमरा है और इसके चारों ओर जितना कुछ घटित होता है, वह मेरे जीवन का विस्तार रह गया है।...लेकिन भइया, तुम्हारे पत्र ने मुझे जैसे विस्तार दिया हो, मुक्ति दी हो।... उन सुन्दर स्थलों पर घूमते हुए तुम मेरी याद करते हो, तुम मेरे साथ उस सौंदर्य को देखते हो। पत्र पढ़ कर मुझे लगा जैसे मैं स्वयं घाटी में प्रवेश कर रही हूँ, आगे बढ़ती जा रही हूँ...वैसे के वैसे दोनों सर्प और गज शिखर मेरे पीछे आ रहे हों, उभरते, स्पष्ट होते...फिर घाटी के दायें पार्श्व का ढाल में चला गया विस्तार, उसमें अनन्त हरियाली की तरंगों का संचार...फिर, फिर बायें ओर की आगे बढ़ती हुई, एक दूसरे से ऊँची उठती हुई चोटियाँ ! यह सब मेरे सामने जैसे साकार हो गया हो...मैं भी उसी स्थल पर पहुँच जाती हूँ, वही स्थल जहाँ घाटी की सड़क पुनः उतर कर बिल्कुल चारों ओर से घिर जाती है।...बाईं ओर की पहाड़ी का तीसरा शिखर एक ओर खड़ा है और दूसरी ओर बहुत कम ऊँची शृङ्खला आ गई है...भइया, मैं अकेली हूँ, चारों ओर से अजब सा सूनसान घिरा

हुआ है, एक आतंक मन में उठता है, पर भय के स्थान पर मन में सौंदर्य का विचित्र-सा आकर्षण उत्पन्न होता है...मेरा मन उसी में डूबता जाता है।

'मुझे तुम्हारी याद आती है, जैसे तुम छूट गये हो और मैं तुम्हें ढूँढ़ रही हूँ...न जाने क्यों मन में विकलता बढ़ती जाती है, मैं उस प्रकृति के आतंक के बीच तुमको खोज रही हूँ...कैसा-कैसा मन का भाव होता है, शायद अज्ञात प्रकृति का सौन्दर्य मन को आक्रान्त कर रहा है। मैंने पुनः इस घाटी के गहरे स्थल को पार कर लिया है और उस ओर पहुँच गई हूँ...यह क्या, यह इधर तो सब अन्य चोटियाँ विलीन हो गईं, केवल अन्तिम चोटी आगे बढ़ कर साथ चलना चाहती है। उसके बाद रास्ते पर घूम कर देखती हूँ—एक छोटी-सी चोटी सामने आ गई है, जो अभी तक अगोचर थी। उसके पार्श्व से मुड़ते ही एक सुन्दर उपत्यका में पहुँच जाती हूँ...और वहाँ का मनोरम दृश्य सामने फैल जाता है, ऊपर ऊँची चोटी का शिखर गोचर है और उसी के पार्श्व में यह छोटी-सी पहाड़ी वास्तव में उपत्यका है।...नरेश भइया, सब कुछ जैसे प्रत्यक्ष हो मेरे सामने...पत्र में तुमने चाहा है कि मैं उस सौन्दर्य के बीच, निर्भर एकान्त के बीच तुम्हारे समीप रहूँ और मुझे आभास होता है मैं,वहीं उसी उपत्यका में हूँ, मैं उसी निर्जन सौन्दर्य में अकेली हूँ, उसी तरह जिस प्रकार तुम मुझको वहाँ अपने साथ चाहते हो।...भइया, मैं उस घाटी तक पहुँच गई, पर तुम क्यों नहीं मिलते वहाँ?...पेड़ पौधों के घने झुरमुट फैले हैं, पाषाणी खण्डों के गह्वर इधर-उधर बिखरे हैं...पक्षी का स्वर उभरता है और सारी उपत्यका में गूँज कर प्रतिध्वनित होता है...धीरे-धीरे जब स्वर शांत होकर मिटने लगता है, तभी वह पक्षी फिर टिटिटीहर टी कर उठता है, तुमने भी यही बोली सुनी होगी मुझे लगता है और मन न जाने कैसी कैसी वेदना से अविभूत हो जाता है, पर यह वेदना अलग है, मेरे लिए इसकी अनुभूति बिल्कुल अजीब है।...क्या तुमने भी ऐसा

ही वेदना का अनुभव किया है।...पर, पर भइया, मुझे इस वेदना ने कुछ ऐसा दिया है जो मुझे जीवन में कभी प्राप्त नहीं हुआ।'...

...'नीरा तुम कैसी हो...तुम्हारी बात सोचते-सोचते मैं कभी-कभी खो जाता हूँ...न जाने किस आत्मशक्ति के साथ तुम जीती हो...तुम अपने बिस्तर पर, अपने कमरे के बन्धन में वह सब इतना प्रत्यक्ष, इतना स्पष्ट अनुभव कर सकती हो, इसका अनुमान लगा नहीं सका था। सचमुच नीरा, यह ऐसा सौन्दर्य है जहाँ मन किसी का साथ चाहता है, किसी के साथ रहना चाहता है, क्योंकि अकेले में यह एकांत बिल्कुल अपने में डुबो लेता है, जिससे मन आक्रांत होता है, आकुल होने लगता है।...अब यहाँ आकाश में बादल घुमड़ने लगे हैं, 'आषाढस्य प्रथम दिवसे' का वातावरण यहाँ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है...ओह नीरा, कालिदास की कल्पना, मेघदूत की कोमल विराट कल्पना क्या कभी यहाँ के मेघों की इस वप्र-क्रीड़ा के पहले इस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकी थी? शिखरों पर विशाल बादल झुकते हुए, झूमते हुए घिरते हैं, शिखर उनमें अदृश्य हो जाते हैं, सारी घाटी में केवल बादल ही बादल भर जाते हैं... नीरा इनके बीच से घाटी के अदृश्य लोक में प्रवेश करना कितना थ्रिल देता है...और टहल कर लौटते-लौटते फिर सब कुछ साफ़। शिखरों के बीच से पार करते हुए बादल, चोटियों से खेलते हुए पार जा रहे हैं... नीरा यह कितना रोमांचक है, कितना भावमय! और मेरा मन भी एक ऐसी वेदना से भरने लगता है, ऐसा अवसाद मन में उभरने लगता है, जिसे मैंने शायद पहले कभी नहीं जाना, नहीं पहिचाना। और क्या रहता है उसके केन्द्र में—तुम्हारी स्मृति, तुम्हारी याद कि तुम इस सबसे दूर...अपने कमरे में अपनी पीड़ाओं के बीच, अपनी व्यथा के बीच अकेली सह रही होगी, झेल रही होगी? मैं सदा तुम्हारी याद करता रहूँ, तुम्हारी बीमारी को मैंने सदा ही अत्यन्त कष्ट के साथ सहा है...पर यह सचमुच अलग, भिन्न प्रकार की वेदना है जो यहाँ आकर

जागी है, इस प्रकृति के सौन्दर्य के बीच मुझे घेर रही है...मुझे जाने क्यों कालिदास के मेघ की सुधि आ रही है, उसके यक्ष की, यक्षी की सुधि घेर रही है और अपने मन की वेदना के सामने कालिदास की सारी व्यथा बड़ी कृत्रिम, सतही लग रही है। यह नहीं कि कालिदास ने आदमी की वेदना को समझा नहीं है, उसकी सशक्त अभिव्यक्ति नहीं की है; उसमें सब कुछ है...संवेदना, मार्मिकता, अभिव्यक्ति की गहराई। उसमें महाकवि का पूर्ण उत्कर्ष है...पर बात दूसरी कह रहा हूँ, मैं दूसरी ओर संकेत कर रहा हूँ। यक्ष की वेदना...मेरे अन्तर में उठनेवाली वेदना...वह पीड़ा, वह विकलता, वह उद्वेग कैसा था, नीरा ?... केवल प्रेमी प्रेमिका का एक वर्ष का वियोग ! नहीं नहीं नीरा, मेरी पीड़ा का स्तर भिन्न है, मेरी वेदना का स्वर भिन्न है, और वह शरीर की पीड़ा थी, वह स्नायु की आकांक्षा थी, वह मन की ऐसी विकलता थी जिसमें पाने की भावना प्रधान थी। सब कुछ यही था, यही वातावरण था, यही प्रकृति का उल्लास, उसकी क्रीड़ा। पर वेदना के स्तर का अंतर हज़ारों वर्ष का अन्तर लगता है...मुझे तुम्हारी याद आती है, तुम्हारी पीड़ा की याद आती है...तुम्हारे जीवन की विवशता की याद आती है और मैं चाहता हूँ तुम भी मेरे साथ होतीं, इस सौन्दर्य को मेरे साथ देखने के लिए...

...'नीरा, तुममें विद्रोह जागे, मैं यही चाहता हूँ। मैं उसके पक्ष में हूँ। माँ, बुआ तुम्हारी कमज़ोरी हैं। नहीं नीरा, यह सब प्रवंचना है। यह सब धोखा है...निर्बल के लिए, उनके निर्बल आश्वासन के लिए। जहाँ तुम उस भावना से आश्रय चाहती हो, उसके लिए उत्सुक दृष्टि से देखती हो, वहाँ मुझे तुम्हारी निर्बलता ही जान पड़ती है। पर वह तुम्हारा वास्तविक संस्कार नहीं है...तुम्हारे चरित्र में पापा का अंश अधिक है और मैंने सदा अनुभव किया है कि तुममें यह विद्रोह का संस्कार ही प्रधान है। नीरा, आश्रय और सहारा पाने की बात अब मुझे अधिक जँचती नहीं। जो कुछ आदमी पाता है, वह

अपने ही अन्दर से, अपने ही अंश से...विश्वास अविश्वास, आशा आश्वासन, आस्था श्रद्धा, सब कुछ उसका अपना ही रहता है। यहाँ तक अंधविश्वास की शक्ति भी व्यक्ति को अपने ही अन्दर से प्राप्त होती है। तुम कहोगी, मेरी बातें कुछ नयी हैं...हाँ नीरा, मैं नये ढंग से सोच रहा हूँ। लेकिन इसका मतलब ऐसा कभी नहीं था कि मैंने वास्तव में आस्था-विश्वास किया हो...इस प्रश्न पर गम्भीर होकर सोचने का अवसर जीवन में आये ही ऐसा आवश्यक नहीं है...बड़े-बड़े आस्तिकों के सारे जीवन में यह प्रश्न उठा ही न हो, ऐसा सम्भव है और मैं मानता हूँ कि बिना इस प्रश्न का उत्तर माँगे कोई वास्तविक आस्तिक हो भी नहीं सकता है...जीवन में एक क्रम से चलते रहना एक बात है और किसी विश्वास को जीवन में उतार पाना दूसरी बात है।

'नीरा, मैंने इसके पहले कभी नहीं सोचा और न मैं कह सकता हूँ कि मैं आस्थावान था, अथवा अनास्थावान था। लेकिन आज इस स्थल पर, जहाँ विश्वास का, आस्था का चारों ओर वातावरण है...ईसाई धर्म में श्रद्धा को बहुत सतर्कता और विधानपूर्वक रक्षित रखने का उपक्रम है, चर्च, मिशन, फ़ादरहुड, सन्तों के उपाख्यान...बहुत दृढ़ प्राचीर है, बहुत मज़बूत संस्कार हैं और मैं इस वातावरण में ही अपनी आस्था खो रहा हूँ, विश्वास छोड़ रहा हूँ, जिसके विषय में पहले मैं अधिक चिन्तित कभी नहीं रहा।...इस वातावरण की मेरे मन पर ऐसी ही प्रतिक्रिया है। मैं इन सब के बीच में विद्रोही हो उठा हूँ। कभी मेरे मन में भी आश्चर्य होता है। जब मैंने यहाँ के लिए निमंत्रण स्वीकार किया था, तब मन में भाव यही था कि यहाँ मन को अधिक शांति मिल सकेगी, अधिक आस्था का सहारा मिल सकेगा... फ़ादर के सम्पर्क में आने से मन अधिक प्रकृतस्थ हो सकेगा, पर यहाँ की प्रकृति ने मेरे मन को विद्रोही अधिक बनाया है। मुझे लगता है, आदमी के मन में पहली प्रतिक्रिया अनास्था की होना स्वाभाविक है...

और सहज रूप में, संस्कार रूप में प्राप्त श्रद्धा, विश्वास का मेरी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं रह गया है...'

...क्या हो गया था भइया को उन दिनों, किस प्रकार का वह परिवर्तन था।...उसके मन में भी इसी प्रकार के भाव उठ रहे थे, इसी प्रकार की तर्कना चल रही थी। पर...पर उसके लिए यह सब इतना सीधा सरल नहीं था...उसे निरन्तर लग रहा है, उसके मन में संघर्ष है, वह तय नहीं कर पा रही है, यह क्या है जो उसे इस प्रकार अनायास हिला रहा है।...निश्चय नहीं कर पाती कि वह जिस आधार पर खड़ी है, उसे छोड़ने के बाद उसका आश्रय क्या होगा!...उसकी अपनी बीमारी, उसकी लम्बी सफ़रिंग...हो सकता है, पर उसके लिए ही सम्भवतः नीरा के मन में सबसे अधिक आग्रह है। उसको सहना आस्था के बल पर ही अधिक सहज हो सकता है, ऐसा उसका संस्कार है...पर...

...'भइया, तुमने लिखा है...तुम समझते हो कि विद्रोह आदमी को सबसे अधिक सहने की शक्ति दे सकता है, अनास्था एक शक्ति है, शायद आस्था से भी अधिक। हाँ, हो सकता है मुझे अनेक बार लगा है। तुमने लिखा है...अनास्था आदमी की आन्तरिक शक्ति है, उसके सहारे आदमी बहुत कुछ झेल सकता है, उसके सहारे आदमी बहुत कुछ सह लेगा...मुझे भी लगता है, यह है जिससे हम सब अपने ऊपर ले लेते हैं, फिर सुख-दुःख सब अपना हो जाता है। उसको झेल जाना मात्र उपाय रह जाता है, मात्र मार्ग रह जाता है। फिर आदमी अपने ही साहस से सहता है, उसके मन में कष्ट-पीड़ाओं के साथ कुंठा का जन्म नहीं होगा, अवसाद का जन्म नहीं होगा...वह अपनी वेदनाओं के बीच निराशा और आत्महीनता की ज्वाला से नहीं जलेगा।...जब सहना ही उपाय है, जब अपने ऊपर झेल जाना ही है, तब क्यों न उसका श्रेय व्यक्ति का रहे...हम वीर भाव से उसका मुकाबला कर सकें, यह गौरव तो प्राप्त हो सकेगा।...ऐसे न जाने कितने भाव मेरे मन में

ऊभ-चूभ होते रहते हैं। मुझे अनुभव होता है, मेरे मन को कोई शक्ति आन्दोलित कर रही है, जो कहती है—यह मैं हूँ जिसके सहारे आगे का संघर्ष झेला जा सकता है।...प्रभु क्या लेंगे। प्रभु अपने ऊपर क्या झेलेंगे! हमारा पाप-शाप, हमारी पीड़ा-वेदना सब हमारी ही रहेंगी, जब हमको केवल अपने ही ऊपर सब ले लेना है, तब उनको समर्पण किसका!...प्रभु हमारा समर्पण लेंगे, पर हमारे कष्टों को, वेदना को हमारे लिए छोड़ देंगे...यह कैसी स्वीकृति है।

'माँ...हाँ, वे हमारे मन और संस्कार की कमज़ोरी है, अवश्य ही।...वे हैं कि मेरे मन में उभर आती हैं, मेरे मन के विद्रोह के सामने आकर मौन समर्पित-सी खड़ी हो जाती हों जैसे। और मेरे मन का सारा ज्वार अपने आप उतरने लगता है...माँ कहती हैं...माँ कहती कम, पर उनकी अभिव्यक्ति है—प्रभु को सब समर्पित करना होता है...सब कुछ बिना दिये कुछ भी देना सम्भव नहीं हो पाता है...इसमें प्रभु के सामने आदमी सम्पूर्ण भाव से ही उपस्थित हो सकता है, अधूरे भाव से वे ग्रहण नहीं करते...पर यह भी है, प्रभु स्वयं ही समर्पण को पूर्ण बनाते हैं, यह नहीं कि इसमें कुछ करना होता हो...यह आग्रह का क्षेत्र नहीं...प्रभु अपनी ओर भक्त को स्वयं खींचते हैं।...न ना! नीरा यह नहीं, ऐसा नहीं होता...प्रभु सब ग्रहण करते हैं, दुःख, वेदना, कष्ट, पीड़ाएँ...अरे नीरा, वे ऐसा न करें तो प्रभु ही काहे के।...मेरी बात करती हो नीरा...कहाँ, उन्होंने, मेरे अन्तर्यामी ने सब कुछ तो ग्रहण किया है...कहाँ स्पर्श करती हैं, ये संसार की पीड़ाएँ, वेदनाएँ...। और माँ का यह, मौन अधिक और मुखर कम, निवेदन न जाने कैसे भाव से मेरे मन को, मेरे प्राणों को भर देता है...मैं सिहर-सी जाती हूँ।

'क्या होगा प्रभु के प्रति समर्पण के बिना? क्या होगा?...पर माँ कहती हैं—इसकी चिन्ता करनी नहीं होती है कि प्रभु के प्रति मन अविश्वासी है...नीरा विश्वास प्रभु का है, तो यह अविश्वास भी उन्हीं

क। है। आस्था उनकी है, अनास्था भी उनकी है...यह सब भेद मेरे मन में नहीं उठते। और यही कारण है कि माँ के मन में कभी क्या कोई खीझ, कोई आवेश तुमने देखा है।...पर मेरे लिए यह सब बहुत कठिन है भइया!...माँ का यह अगाध विश्वास मुझे, मेरे मन को विचलित ही करता है...मैं अजब हालत में हूँ, न मैं विद्रोह कर पाती हूँ और न मुझे आस्था का सम्बल ही मिलता है। मैं सोचती हूँ कि मेरा क्या होगा, मैं किस प्रकार इस आगे के संघर्ष को झेल सकूँगी।... भइया, अपने मन के इस भाव के साथ मैं देख रही हूँ कि मेरी आंतरिक शक्ति शिथिल ही पड़ रही है। यह संघर्ष मुझे अधिक खोखला कर रहा है, इसमें सन्देह नहीं।...मेरी तबियत गिरती जाती है, यह नहीं कि मुझे शारीरिक कष्ट अधिक मिल रहा हो। लगता है कष्ट की वह सीमा आ चुकी है जिसके बाद बढ़ने की स्थिति रहती ही नहीं।... पीड़ाएँ कम हो रही हैं, ऐसा नहीं; पर वे डूबती जा रही हैं। उनका अर्थ मेरे लिए समाप्त हो जाता हो जैसे...पर अन्दर से कैसा भाव मुझे भयभीत कर रहा है, मुझे विचलित कर रहा है...लगता है मैं नष्ट हो रही हूँ, मैं समाप्त हो रही हूँ, मेरा सारा अस्तित्व रिक्त हो रहा है। यह इस प्रकार की अनुभूति और भी बेचैन कर रही है... कई बार सोचना चाहती हूँ, ऐसा क्यों है? पर उत्तर पाना, सरल नहीं है।

...'यह ऐसा क्यों है, भइया! मैं क्यों हूँ! मेरे जीवन का क्या प्रयोजन हो सकता है! मैं क्यों हूँ? मेरे इस प्रश्न का उत्तर कोई नहीं देता! कहीं से मुझे नहीं मिलता। मुझे लगता है इसका उत्तर है ही नहीं।... यह विवशता, यह बन्धन, यह अपंगता...इसका भी अर्थ, इसका भी प्रयोजन क्या हो सकता है!...मेरी साँसें, मेरे स्पन्दन, मेरी चेतना का सारा अस्तित्व किस प्रयोजन का, किस...यह तो जीवन का बन्धन ही है, जड़ता, कुण्ठा।...और प्रभु...वे भी क्यों लेंगे इस जड़, कुण्ठित, स्थिर जीवन को...क्या होगा इसका...यह समर्पण ही क्या है! इस भावना से मुझे हँसी आ रही है, मेरे जीवन का समर्पण माँ के प्रभु

के सामने बिल्कुल भक्तों के उस जड़ प्रसाद के समान ही है, जिसमें उनकी भावना का अंश लेश नहीं होता...और माँ कहती हैं—उनके प्रभु सब कुछ समर्पण स्वीकार करते हैं, भाव कुभाव अनख आलस हूँ...मुझे न जाने कैसे हँसी आ गई है, इस समर्पण के प्रति और इस स्वीकृति के प्रति...

...'तुम भइया, उस सौन्दर्य के बीच हो, उस प्रकृति के बीच में हो जो उल्लास में, मौज में तुम्हें आकर्षित करती है...मेरी स्मृति में जाने कितनी ऐसी ही सुधियाँ घिरने लगती हैं, मुझे एक क्षण के लिये तुमसे ईर्ष्या होती है। पर सच मानो भइया, मुझे लगता है मैं तुम्हारे साथ हूँ, मैं भी हूँ उसी घाटी में, उसी प्रकृति के बीच में और मैं भी उसके सौन्दर्य में डूब रही हूँ। मुझे आभास होता है घाटी में उमड़ते हुए बादल मुझे, मेरे अन्तर में घेरते जा रहे हैं,...मैं ही हूँ घाटी, पहाड़ी श्रेणियों में फैली हुई हूँ...मैं ही हूँ जो शाल साखू के घने जंगल के रूप में फैल गई हूँ और मेरे भीतर घने काले मेघ छा रहे हैं, उमड़ रहे हैं...सारी वप्रक्रीड़ा में वे मेरा आलिंगन कर रहे हैं, मुझसे ही खेल रहे हैं।...इस चारपाई पर इस कल्पना से मेरा मन भर गया है, मेरे शरीर में रोमांच हो रहा है... पर मैं साथ ही किसी ऐसी कमी, ऐसी रिक्तता का अनुभव करती हूँ जिससे मेरे प्राण विकल हो जाते हैं। मैं सोचती हूँ, मैं क्या चाहती हूँ, मेरा मन किसके लिये आकुल व्याकुल है।...भइया, तुम कहते हो मैं तुम्हारे साथ होती, यह तुम्हारी उदारता, यह शब्द तुम्हें कटु लगेगा, तुम्हारे स्नेह की आकांक्षा है...लेकिन मैं उस घाटी में पहुँच जाती हूँ, तुम्हारे माध्यम से ही।...पर उस घाटी की कल्पना, प्रत्यक्ष कल्पना मुझे एक अजब-सी विकलता से भर देती है, जो मेरे इस अपंग जीवन में बहुत नयी, बहुत अकेली है...'

—'माँ, डाक्टर अंकिल।' नीरा ने देखा अंकिल सामने से कमरे में प्रवेश कर रहे हैं, उनके मुख पर सदा ही खेलने वाली कोमल भोली मुस्कान है जिसमें शायद नीरा ने यह भाव भी पढ़ा है कि मैं केवल

माध्यम हूँ, मेरा क्या प्रभु की इच्छा जैसी हो। यह डाक्टर का भाव नहीं, एक भक्त का भाव होना चाहिए। पर अंकिल कहते हैं...'डाक्टर केवल सेवा करने का अधिकारी है। इससे अधिक जो क्लेम करता है, वह धोखा देनेवाला है। वह प्राफ़ेशन का गौरव नहीं बढ़ाता, अपना बैंक बैलेन्स बढ़ाता है।' कैसे हैं यह डाक्टर?...अंकिल ने कहा—"हलो, नीरा बाई। हाऊ आर यू?" वे माँ को हाथ जोड़ कर भक्ति तक पहुँची हुई नम्रता से प्रणाम कर रहे हैं। फिर वे नीरा के समीप की कुर्सी पर बैठ जाते हैं। नीरा ने अपने हाथ जोड़ दिये हैं, और उन्होंने झुक कर उसके हाथ अपने हाथ में ले लिये। उनके मुख पर एक स्नेह का कोमल भाव झलक कर ओझल हो गया...वे जिज्ञासु भाव से माँ की ओर देख रहे हैं। इस देखने में डाक्टर की सामान्य जिज्ञासा से अधिक प्रश्न है...पर माँ को बोलने में जैसे संकोच हो रहा हो, ऐसा नहीं कि माँ कभी अंकिल के सामने संकोच करती हों।...इस संकोच में मन का कोई आतंक हो जैसे, फिर उन्होंने कहा—"डाक्टर साहब, नीरा कहती है उसकी सारी तकलीफ़ एकाएक दूर हो रही है।" माँ के कहने में है जैसे यह भी कोई भारी चिन्ता की बात हो। ऐसा नहीं कि नीरा को इसका अर्थ भासित नहीं, फिर भी उस समय माँ की चिन्ता उसकी समझ में नहीं आ रही है—"डाक्टर अंकिल क्या यह भी कोई चिन्ता की बात हो सकती है, माँ का मन कमज़ोर है, और वे घबराने लगती हैं।"—माँ ने अपने को छिपाना चाहा—"कहाँ, मैंने तो बताया।" लेकिन माँ की बात नीरा से छिपी नहीं, और नीरा अपने को भी अपने से क्या छिपा सकी। अंकिल की आँखों में जो भाव झलक कर विलीन हो गया, उसमें उन सबकी विवशता प्रत्यक्ष थी!...इसके बाद डाक्टर अंकिल अपने परीक्षण में व्यस्त हो गये। और अपने संस्कारवश पुनः जिनकी सैकड़ों बार परीक्षा कर चुके हैं, उन्हीं फेफड़ों की, सीने, आँख, जीभ की...पर उनकी क्रिया से प्रत्यक्ष है, उसमें यांत्रिक प्रयत्न से अधिक कुछ नहीं है...और मुद्रा से प्रकट है, वे इस सबके बीच कहीं अपने ही भाव को छिपा रहे हैं...

दौसा स्टेशन के साथ स्मृतियाँ जुड़ी हैं। यहाँ से मोटर रोड जाती है, जिस पर होकर वह कई बार फूफा जी के साथ घूमने के लिये गया है, रणथम्भौरगढ़, गढ़ खंडार, चम्बल का तटप्रदेश...उसके मन में न जाने कितने कहानी किस्से इस प्रदेश के बारे में आ आकर मँड़रा रहे हैं... यहाँ बाघ, चित्तल, लकड़बग्घा किसके किस्से उसने नहीं सुने हैं...

खंडार की चढ़ाई पर वे सब आगे बढ़ रहे हैं, स्थानी किलेदार सुना रहा है, पास के गाँव में हाल ही में एक स्त्री ने कुल्हाड़ी के दो-तीन बार में एक बाघ का काम तमाम कर दिया...नीरा आतंक से पूछती है, और गलमुच्छोंवाला किलेदार अपनी मूछों को दोनों हाथ की अंगुलियों से बटता हुआ कहता है—'कुअँराणी जी, यह तो वीरों का देश है, यहाँ यह साधारण बात है। उस स्त्री को दरबार जी की ओर से इनाम भी मिला था, साहब से मालूम हो जायगा।'...इसके बाद वह जाने कितने किस्से सुनाता जा रहा है, इस गढ़ के, आस-पास के वीर युद्धों के...मोटर तेज़ दौड़ रही है, अँधेरा बढ़ता जा रहा है, जंगल घना होता जा रहा है, सामने मोटर की फ़्लश लाइट घनी और तेज़ होती जा रही...उसकी दृष्टि पड़ती है, शायद ड्राइवर के साथ...बाईं ओर सड़क के किनारे ऊँचे पेड़ के नीचे एक बाघ, भयानक और सुन्दर एक साथ। उसके मुँह से चीख़ जैसी निकल जाती है—बाघ। ड्राइवर मौन है। एक मिनट बाद वह बोल पाता है—'साहब, बाघ था, हम लोग ख़तरे के एक दम पास से निकल आये हैं।' उसने देखा पीछे फूफा जी और नीरा स्तब्ध हैं, जड़ से हैं...शायद उन्होंने भी देखा है उसे। पर आरती और राजे पूछ रहे हैं—कहाँ! नीरा झुँझला कर कहती है—'हाँ, अब बैठा है,

तुम्हारे देखने के लिये।' इस झुझँलाहट में कितना आतंक और भय है।... मोटर भाग रही है, धीरे-धीरे जंगल में चाँदनी का प्रकाश छा गया है, जंगल घने नहीं हैं...सड़क पर चाँदनी बिखरी है, और जंगल पर भी वह छाया प्रकाश के रूप में फैली है...सड़क पर कभी-कभी कोई जानवर छलाँग मारता हुआ निकल जाता है, और सब यात्री चौंक पड़ते हैं... चाँदनी इस पर सघनता से मुस्करा देती है...

इंजन सीटी दे रहा है...ट्रेन छूट रही है, दौसा छूट रहा है। आगे अब एक स्टेशन और है...नये स्टेशन पर, गाँधीनगर में यदि एक्सप्रेस नहीं रुका तो...ट्रेन चलने लगी है, आगे तेज़ हो रही है। दोनों ओर सपाट मैदान, बालू का मैदान है, जिसमें बीच में कहीं-कहीं हरियाली है जो किसी ऊँची बालू की मेड़ से ही घेरी गई हैं...बालू की मेड़! आगे बढ़ती हुई एक्सप्रेस को कहीं-कहीं पहाड़ी भी मिल जाती है, बहुत छोटी पहाड़ी का खंड मात्र। जो आता है, कभी दूर से ही निकल जाता है और कभी पास से उभर कर विलीन हो जाता है...हाँ दूर सुदूर पर सीमान्त रेखा पर अवश्य कोई श्रेणी गोचर हो गई है जो विस्तार में फैली जान पड़ती है।...युवक देख रहा है, उसके मन में कुछ अटक नहीं पाता, कुछ उभर कर रूप नहीं ग्रहण कर पाता है।...वह थक गया है! आस-पास का नीरस विस्तार उसके मन को और थका रहा है। वह रिक्त भाव से देखता रहा, उसकी दृष्टि में सीमान्त की वह रेखा आ जाती है, जो क्षितिज के समानान्तर चली जा रही है, एक धूमिल बादल की फैली हुई कोर के समान...वह इस रेखा पर चलता रहा, विचरता रहा और अन्त में...

...वह हज़ारीबाग गया है, सीतागढ़ की सेमीनरी में, सेण्ट एस्टेनिस-लॉस में फ़ादर पाथस के निमंत्रण पर गया है...इस आकर्षक हरी-भरी पहाड़ी घाटी में सचमुच उसे शांति मिल सकेगी, उसके थके हुए मन को विश्राम मिल सकेगा।...यहाँ के वातावरण में उसे आध्यात्मिक

सन्तोष प्राप्त होने की आशा भी है...वह घाटी से बहुत आकर्षित होता है।...कितनी प्यारी घाटी है, बिल्कुल घाटी उसे न भी कहा जा सके... एक ओर एक पहाड़ी ऊँची श्रेणी चली गई है, कई शिखरों में फैली हुई और उसी के बगल से नीची श्रेणी है जो बाईं ओर के पार्श्व में चली गई है, पर वह नीचे ढालू होती हुई उतरी चली जाती है...सड़क पहाड़ी के पार्श्व में घाटी में होकर जाती है। ऐसा लगता है...वह चला जा रहा है, सर्पाधार, गजाकार पहाड़ी बहुत पीछे जैसे उसका पीछा कर रही हैं। उसके मन में एक विचित्र-सा आकर्षण है, वह ईर्षा मोहक भाव के साथ घाटी में चला जा रहा है।...उसे नीरा की याद आती है, उसकी विवशता की याद आती है।

उसने लिखा है...'भइया, यह क्या जीवन है, यह कैसा जीवन है, तुम कहते रहे हो जीवन पवित्र वस्तु है, जीवन जीने की वस्तु है, किसी हालत में, किसी भी परिस्थिति में।...और मैंने भी सोचा था, जीवन में जीकर ही रहूँगी, सारी पीड़ाओं, वेदनाओं, कष्टों के बावजूद भी। पर अब मेरे शरीर में जो क्रमिक जड़ता आती जा रही, जो पेरेलेटिक होकर भी डाक्टरों के द्वारा पेरेलेसिस नहीं स्वीकार की जाती...उसकी आन्तरिक वेदना को सह पाना सहज नहीं लगता। यह ऐसा बोझा बन कर मन, प्राण, चेतना पर जमती जाती है, जिससे मुक्ति पाना असम्भव जान पड़ता है।...उस क्लेश में भी जीने की एक स्थिति थी, जीने का एक संघर्ष था। पर अब...अब भइया, मेरे लिए जीवन असह्य होता जा रहा है...एक नीरस कठोर निर्मम जड़ता है जो जीवन को ग्रस रही है और उससे किसी प्रकार उद्धार होगा ऐसा नहीं लगता!...मेरे जीवन की सारी शक्ति कुंठित हो रही है, शिथिल हो रही है...इस मोह के साथ मेरे मन की आस्था, विश्वास भी टूटता जा रहा है, उठता जा रहा है...क्यों है ऐसा?...और भइया, मैं ऐसा नहीं चाहती, मुझे ऐसा भी नहीं लगता कि वह किसी प्रकार मेरे लिए अच्छा है, जीवन को धारण करने की शक्ति यदि चली गई तो फिर क्या होगा!

झेलने की वही तो एकमात्र शक्ति है...'

...किस शक्ति को लेकर, किस विश्वास को लेकर नीरा आज तक जी है, जो इस प्रकार उससे अलग हो रही है ! यह आस्था, यह विश्वास कैसा था जिसने उसे इस वेदना और कष्टों के लम्बे समय में विचलित नहीं होने दिया है ! पर आज क्या हो रहा है ! यह जड़ता, यह धीरे-धीरे निष्क्रिय करनेवाली अपंगता !! कैसी है, कैसी भयानक है जिसे सहना कठिन हो गया है, जिसने उसके विश्वास को हिला दिया है।...नीरा ने विश्वास किया है, उसके मन में आस्था का आधार रहा है ! पर यह अब तक कैसे रह सकी है उसके मन में ! यह आस्था, आस्तिकता क्या सुख सन्तोष के बीच की वस्तु नहीं है ? आस्था जीवन की स्थिरता का नाम है, संघर्ष करनेवाले की आस्था उसका संघर्ष है, पीड़ा में जीनेवाला व्यक्ति जिस आस्था के बल पर जीता है वह है उसके मन की...

टिटिटिटीहिटी बोलता हुआ कोई पक्षी घाटी के ऊपर से निकल गया, घाटी में उस पक्षी का स्वर गूँज गया है, गूँजता हुआ फैल गया...लगता है पीड़ा का यह स्वर सारी घाटी में अनुगुंजित होता रहता है, उसका मन उससे भर जाता है।...घाटी के इस भाग में बीच का शिखर उन्नत सिर किये खड़ा है, बाईं ओर का शिखर कुछ हट कर बड़ी कड़ी चट्टानों में व्यक्त हो गया है, वृक्षों से आच्छादित बीच के शिखर के पास ही तीसरा शिखर प्रशस्त हो गया है...और इस स्थल से एक अन्य शिखर भी दिखाई देने लगा है जो काफ़ी दूरी पर है और उसके बीच में एक ओर पार जानेवाली घाटी का अनुमान होता है...उसके मन का विषाद फैलता जाता है और सारी घाटी में, शिखरों पर एकरस भाव से विकीर्ण होकर वातावरण का रूप बन जाता है...

'नीरा...मेरा मन विद्रोही हो रहा है, सदा मैंने विद्रोह किया है, ...तुम कहोगी, ऐसा सदा नहीं लगा।...मैं सदा सोचता रहा हूँ कि विद्रोह मन का भाव है, उसे प्रत्येक व्यक्ति के सामने प्रकट करने का

प्रयोजन हो सकता है, इसमें मुझे सन्देह रहा है। फिर जिनके संस्कार दृढ़ हो गये हैं, उनसे विरोध करने का अर्थ क्या रह सकता है,...यह मैं इसलिये लिख रहा हूँ कि बुआ के सामने मैंने सदा उनका पक्ष लिया है...तुम्हारे, फूफा जी के विपक्ष में।'...

वह घाटी के उस स्थल पर पहुँच गया है जहाँ से चारों ओर से पहाड़ उसको घेर लेता है, वह एक गहराई में उतर गया है...भय-आतंक की सम्मिलित भावना से अविभूत है...'ऐसा नहीं नीरा, कि मेरे मन का यह भाव मेरे लिये भी साफ़ स्पष्ट ही सदा रहा हो, यह आज भी कह सकना कठिन है...आज भी फ़ादर पायस के साथ टहलते-टहलते मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मेरे मन में आस्तिक भाव चुपचाप प्रवेश कर रहे हैं...फ़ादर पायस का साथ लोगों के लिये सन्देह की बात रही है...पिछली बार जब मैं उनके साथ दार्जिलिंग गया था और एक मास से अधिक बिता कर अपनी थीसिस का पहला ड्रेफ़्ट पूरा करके लौटा था, उस समय तुमने ही पूछा था कि क्या तुम्हारे ऊपर ईसाई प्रभाव है, लोग पूछते हैं। शायद मुझसे पूछने का साहस नहीं किया अन्य लोगों ने। मेरे फूफा जी ने...मुझे आश्चर्य हुआ था, पर बात ऐसी आश्चर्य की नहीं थी।...फ़ादर के प्रति मेरा यह स्नेह, उनका मेरे प्रति अनायास ममता की इस दृष्टि से देखना ऐसा विचित्र मुझे आज नहीं लगता जैसा उस दिन लगा था। पर नीरा,... जब मैं फ़ादर के साथ चाँदनी रात में घूमने निकलता हूँ...वे सहज भाव से संतों के किस्से कहते रहते हैं, उस समय उनके मन का भाव, उनकी आस्था, उनका समर्पण सब ऐसा स्पष्ट रहता है।...उनके मन का विश्वास इतना गहरा, इतना दृढ़ है कि वह मन को प्रभावित किये बिना नहीं रहता...प्रत्येक मिरेकिल उनको अविभूत करती है और मैं उनके इस भाव से, उनकी इस तन्मयता से अविभूत होता हूँ। पर नहीं नीरा, ऐसा यह नहीं है कि मेरे मन में विश्वास जागता हो, मन में आस्था का स्तर उभरता हो...केवल इतना होता है कि मेरे मन में एक आन्तरिक भाव जागकर मन को कोमलता

से भर देता है और मेरे मन का विद्रोह उसी में...

...वह सेमेनरी के उपवन में मेरियम की मूर्ति के पास बैठा है, उसके सामने ही ईसा के जन्म की गुफा और उसका दृश्य मूर्त्तियों से उपस्थित किया गया है...आम के भारी पेड़ों के साथ जामुन के पेड़ भी हवा के झोकों में हरहरा रहे हैं और उनके साथ गोल्ड मोहर के पेड़ों से फूल झरते हैं और चारों ओर उगे हुए जंगल के रास्ते में फैले छोटे-छोटे पौधे हवा के झोकों में झुक-झुक जाते हैं...। वह बैठा है, मौन, वह मन ही मन 'इमीटेशन' पर दृष्टि डालता हुआ पढ़ रहा है...आदमी के जीवन में प्रभु, व्यक्ति के जीवन में उसका आधार कितना सुदृढ़ हो सकता है...उसका मन बहक जाता है, उसके दृष्टि-पथ पर 'इमीटेशन' की पंक्तियों के स्थान पर, न जाने कैसे विचार तैर रहे हैं, कुछ देर वह संघर्ष करता है। पर...यह क्रास, उस पर प्रभु मनुष्य के लिये क्रूसित हुए... उसका दुःख, उसकी वेदना सब उन्होंने अपने ऊपर ले ली...यह नहीं होगा, प्रभु हमारा...नीरा ने लिखा है...'प्रभु हमारे सहने का अधिकार ले लें, फिर जीने का आधार क्या रह जायगा।...मुझे लगता है, माँ का यह भाव कैसा है ? मेरे लिये यह संघर्ष की स्थिति हो गई है...भइया, तुम कहोगे जीवन के लिये आस्था जैसा आधार चाहिए, मैं तुम्हारी बात जानती हूँ।...तुम सदा माँ के साथ रहे हो, तुमने उनकी आस्था, उनके प्रभु समर्पण को समझा है...मैंने माँ की भावना से कभी विद्रोह नहीं किया है, एक प्रकार से उनके साथ रही हूँ। यह बात दूसरी है कि पापा का निरपेक्ष भाव मुझे सदा भाया है...वे सदा सीधे खड़े होकर झेल लेने में विश्वास करने वाले व्यक्ति थे, जो कुछ है उनका है, उसे वे स्वयं सह लेंगे। यह भाव था जिसके प्रति मेरे मन में सदा आदर रहा है...पर आज यही भाव मेरे मन में अन्दर से उभर रहा है। मैंने कभी इस विषय में सोचा नहीं था, ऐसा ही है...जो कुछ था सहज भाव से चलता रहा है, माँ की श्रद्धा आस्था भी और पापा का दृढ़ अटल भाव भी। मैं नहीं कह सकती कि इनका सामंजस्य कैसे मैं

कर सकी हूँ ।...पर आज मन में यही भाव प्रधान हो गया है, यही संघर्ष हो गया है...जैसे एक पथ को ग्रहण करना ही है । भइया मुझे न जाने क्यों ऐसा लगता रहा है, तुममें यह विद्रोह प्रारम्भ से रहा है, पर तुम हो कि अपने को छिपाने में सदा पटु रहे हो...दूसरों की भावना की रक्षा की दृष्टि से, कभी तो मुझे तुम्हारा यह भाव कायरता जैसा भी लगा है...माफ़ करना भइया ।'

...नीरा ने मेरे मन का भाव पकड़ा है, उसको यह जान पड़ता है कि मैं अपने को कहीं छिपाता रहा हूँ...हाँ शायद ऐसा हुआ है । पर यह छिपाना जैसा तो नहीं है, बुआ के भाव की रक्षा करना मुझे लगा है, यह बड़ों का सम्मान है... जिनको हम अपने तर्क से नहीं समझा सकते, जिनके भाव तर्क से परे हैं, उनसे अपने मत का आग्रह प्रकट करने का अर्थ ही क्या है । वैसे वह आग्रह करता ही किस बात का रहा है...आग्रह करना उसका स्वभाव नहीं है...पर यह क्या कायरता है ? क्या वह कायर रहा है ? नीरा ने यह क्या लिखा है ! क्या सचमुच इस प्रकार मैंने अपने को बचाने की कोशिश की है ! मैंने...अपने विश्वासों को दूसरे पर लादने का प्रयत्न कभी नहीं किया...हर व्यक्ति को अपनी बात कहने की सुविधा होनी चाहिए, अपना मत किसी पर इम्पोज़ करने का क्या अर्थ हो सकता है ! फ़ादर पायस कहते हैं, अपनी आस्था, अपने विश्वास की बात...और उनके कथन में उनके मन की आस्था है, विश्वास है ।...उनकी ईमानदारी में कौन अविश्वास कर सकता है... और उनको लेकर यह सब मैं सत्य मान लेता हूँ ।...पर यह मेरे मन का भाव नहीं है...मैं समझता हूँ...यह आस्था आदमी की कमज़ोरी है, यह उसकी शक्ति नहीं है ! प्रत्येक को अपना क्रास अपने ही कन्धों पर ढोना होगा । क्रास ठीक है, प्रभु पुत्र ईसा का प्रतीक है ।...पर यह क्रास जीवन में प्रत्येक को उठाना होगा, यह नहीं कि मानव इतिहास में एक बार प्रभु पुत्र का जन्म हुआ था, मानव कल्याण के लिये, मानव आत्मा के उद्धार के लिये...और उन्होंने उसी बार आगे आनेवाली समस्त

मानवता के लिये क्रास का भार वहन किया था, उस पर क्रूसित हुए थे।...वह मार्ग-दर्शक है, वह प्रभु का प्यारा हो सकता है, पर प्रत्येक मानव उसी प्रकार उस प्रभु का पुत्र भी है, उसी प्रकार प्रभु को पाने के लिये उसे क्रूसित होना ही होगा...

...और नीरा ने लिखा है...वह नहीं समझ पाती कि प्रभु किस प्रकार दुःख क्लेश का समर्पण ले सकेंगे...नहीं नीरा ऐसा मुझे नहीं लगता कि व्यक्ति का दुःख, उसकी वेदना प्रभु अपने ऊपर धारण कर लेते हैं...वह तो मनुष्य को अपने आप ही सहना पड़ेगा। पर मैं यह भी नहीं मानता, प्रभु को माना जायगा तो इसी आधार पर, कि वह हमारे दुःख क्लेश को ग्रहण कर लेगा।...नहीं नीरा, मैं इस सीमा तक नहीं जाता। मैं यह मानता हूँ, मनुष्य जैसे सीमित शक्ति सामर्थ्य के प्राणी के लिए एक आधार अवश्य चाहिए...इस रूप में तो नहीं कि वह है तो हम पर कोई उत्तरदायित्व नहीं होगा...। इस प्रकार के ईश्वर को मैं मान नहीं सका हूँ...और मैं जब कहता हूँ कि आदमी को विद्रोह करना है उस ईश्वर से, तो मेरा यही भाव प्रधान रहता है!...शायद मेरी बात बहुत स्पष्ठ नहीं है, और नीरा सब बातें स्पष्ट होंगी ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यह ऐसा है अवश्य कि तुमसे स्पष्टता की माँग की जायगी...फ़ादर पायस कह रहे थे...'नरेश, यह ऐसा कैसे हो सकता है कि ईश्वर को मान लिया जाय और न भी माना जाय...प्रभु है तो वह मनुष्य के जीवन का सम्पूर्ण आधार ही रहेगा, उसको उपलक्ष्य करके ही चला जायगा'...। पर नहीं नीरा मुझे यदि ऐसी स्थिति में कहना ही पड़े तो मैं यही कह सकूँगा कि प्रभु की आवश्यकता मान कर चलने से ही कुछ नहीं बनेगा। ऐसा मानना, नहीं मानना है...और मनुष्य के लिए यह अधिक श्रेयस्कर हो कि वह बिना प्रभु को समर्पित किये जीवन को झेल जाय!...मेरे विचार में अस्पष्टता हो सकती है, पर वह मेरी कायरता हो ऐसा नहीं!...मैं नहीं कहता कि मेरे चरित्र में कायरता कभी नहीं रही, कह

सकना सरल भी नहीं है, पर नीरा इस संदर्भ में ऐसा नहीं है, ऐसा ही मैं कह सकता हूँ।...'

...वह पास के सरोवर के किनारे टहल रहा है, सरोवर के बीच में दीवार बना कर पानी को सिंचाई के लिए बाँध बाँधा गया है, और उसमें सिंचाई के लिए गेट लगा दिये गये हैं।...पानी कलकल करता हुआ उस ओर सिचाई के लिए बह रहा है, उसकी प्रवाहित धाराएँ दूसरी ओर के नालों में होकर छोटी नालियों में जाती हैं और उनमें से पानी काट कर नीचे के धान के खेतों में सिंचाई हो रही है...हल्की पियराई लिए हुए धान के लहलहाते हुए खेतों में काले-काले रंग के आदिवासी किसान...शायद मज़दूर, क्योंकि इधर के सारे खेत प्रायः सेमीनरी के है, तन्मय भाव से जुटे हैं। हरियाली के बीच उनकी हिलती हुई छायाएँ सुन्दर लगती हैं। खेत की क्यारियाँ ढाल में उतरती चली गई है, लगता है विस्तृत सीढ़ियाँ फैली हैं!... वह देख रहा है, उसके हाथ में गीता का गुटका है...बह अभी उसमें से कुछ श्लोक पढ़ चुका है, पढ़ते-पढ़ते उसका ध्यान उचट गया है, और वह अन्यमनस्क भाव से खेतों की हरियाली की उठती हुई तरंगों पर तैरता रहा है...बस तैरते भर, हल्के भाव से, कहीं कोई आग्रह नहीं है!...फिर मन में कुछ उभर आता है...नीरा के मन में यह क्या संघर्ष चल रहा है, ऐसा नहीं कि निरन्तर चलनेवाले संघर्ष ने उसके मन को इस प्रकार प्रभावित किया हो अज्ञात रूप से...मैं उसे प्रोत्साहन दे रहा हूँ, यह भी क्या ठीक है? पर क्या सचमुच उसके लिए यह संघर्ष उचित है, क्या यह ऐसा तो नहीं कि उसे यह भावना और भी कमज़ोर कर दे, और अन्त में उसके मन की सहनशक्ति टूटने लगी जिसके बल पर उसने इतने दिनों तक सहा है, झेला है! मैंने माना है, समझा है कि आदमी का विद्रोह जितनी शक्ति देता है, उतना उसका समर्पण नहीं।...'परन्तु नीरा, मैं यहाँ उस विद्रोह की बात कह रहा हूँ जो मनुष्य की अन्तरात्मा की पुकार होता है, मात्र स्वीकार करना, मात्र निगेट करना अपने स्वार्थ

अपने अहं को स्थापित करने से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता !... वहाँ आदमी को आकर्षण भी बहुत मिलेंगे, और वहाँ मोहक आवेश भी मिल सकता है...पर नीरा इससे जो व्यक्ति को शक्ति मिलती है, हाँ शक्ति उससे मिलती है, जहाँ किसी प्रकार का अशरणशरण होगा वहीं शक्ति का स्रोत भी मिलता है...पर नीरा वह शक्ति जब नष्ट होगी, और उसका टूटना अनिवार्य है, आदमी संसार में सर्वशक्तिमान चाह कर भी अपने को नहीं बना सकता, जिनको इसका भ्रम हुआ, उनका भ्रम टूटा भी...और यह भ्रम जब टूटता है तब मनुष्य के लिए कोई आधार नहीं रह जाता है; तब वह नष्ट हो जायगा, छिन्न भिन्न हो जायगा... ऐसा नहीं कि कभी ऐसा मन का भाव उठता ही न हो कि यह छिन्न-भिन्न होना भी हार नहीं है, विजय है...पर नहीं नीरा मेरे मन में यह भाव अधिक ठहर नहीं पाता...'

...सरोवर के पक्के तट की ओर वह घूम रहा है, दूर से जल-मुर्गाबियों और बत्तखों की क्रीड़ा देख रहा है...सरोवर के लालाभ जल के ऊपर तैरती हुई ये वस्तुएँ आगे बढ़ती जाती है, और पानी की तरंगें चारों ओर वृत्ताकार फैल रही हैं।...इनके आगे है...हरी-भरी तरंगों का नीचे की ओर उतरता हुआ विस्तार...और दूर-दूर उसके साथ उठता गया है जंगलों से हरी पर्वत श्रृङ्खला...जैसे ये तैरती बत्तखें, मुर्गाबियाँ पानी पर आगे बढ़ती हुई हरियाली पर तैरने लगती हैं और फिर वे जंगलों पर होती हुई उन सुदूर की श्रेणियों पर उसी प्रकार तैरने लगती हों !

...गीता का समर्पण क्या है, कर्म और समर्पण...कैसे होगा... जो कुछ है वह प्रभु को समर्पित हो और फिर कर्म की इतनी बाध्यता भी...प्रभु को लेना है, तब कर्म ही क्यों ? यह क्या है, जो गीताकार निर्लिप्त भाव से कह जाता है निष्काम ! कर्म और फिर निष्काम ! कर्म तो स्वतः आसक्ति ही है, कर्म की प्रेरणा आसक्ति है। गीताकार ने कर्म के साथ भक्ति को किस रूप में जोड़ लिया है...व्याख्याकार भक्ति और

ज्ञान, और कर्म सब कुछ अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार उसमें ढूँढ़ लेते हैं...पर बिना भक्ति के इस समर्पित कर्म की व्याख्या होगी किस प्रकार...कर्म की तन्मयता, उसका रस कहाँ रहेगा यदि उसके साथ आसक्ति न रही ! आदमी को कर्म, शुद्ध कर्म तक ही क्यों न समझा जाय।...कर्म स्वयं में जीवन की गति है, गति के साथ, उसकी लय के साथ चलना क्या कर्म का सहज मार्ग नहीं है...दुःख-सुख का प्रश्न आता है ! आदमी इस दुःख से भयभीत ही क्यों हो ! क्यों न मान लिया जाय जीवन के क्रम में दुःख-सुख दोनों ही योग देते हैं...आदमी शुद्ध जीवन की प्रक्रिया में सबका रस ग्रहण कर सकता है...

...'नीरा...मुझे लगता है तुम्हारे मन का भाव, तुम्हारे मन का संघर्ष हमारे संस्कारों का संघर्ष है। हम एक प्रकार से रहते रहे हैं, हम ऐसे वातावरण में पले हैं जिसमें हमने आस्था का आधार, कैसा भी क्यों न हो ग्रहण करके चलना सीखा है। ये युगों के संस्कार हैं...और यह विद्रोह हमारे मन की अपनी प्रक्रिया है, उससे आतंकित होना सहज है...मैं स्वयं न जाने कितने ऊहापोह में चक्कर लगाता हूँ...लेकिन अन्ततः ऐसा लगता है—स्वधर्मे मरणं श्रेयः परधर्म भयावहः...गीता की यह पुकार निश्चय इसी संदर्भ में है। मैं यही समझ सका हूँ, मुझे ऐसा ही लगा है...अन्तरात्मा की यह पुकार आदमी को सुननी ही चाहिए। यह उसके अपने व्यक्तित्व की माँग है, इसको अस्वीकार करके वह अपने आप को कुंठित करेगा...अपने संस्कार के साथ जो आत्मा का विकास है, वही तो व्यक्ति का धर्म है और उससे बचना सम्भव नहीं है। और बचा जा भी सकता है, अपने आप को अस्वीकार करके...पर वह श्रेय नहीं हो सकता है...हम अपने को स्वीकार करके चलें, हम अपने को अनुभूत करके चलें, यही गीताकार का उद्देश्य हो सकता है।...नीरा, तुम अपने इस विद्रोह को अपने स्वत्व की अभिव्यक्ति को मानों...कहीं कुछ है जो तुम्हारे मन में है, जो तुम्हारे व्यक्तित्व से विकसित हो रहा है, तुम्हारे व्यक्तित्व के माध्यम से उपलब्ध होने

वाला है।...जीवन इन्हीं के माध्यम से पूर्ण होता है, सार्थक होता है।...नीरा तुम भयभीत क्यों हो? शंकित क्यों हो?...मुझे लग रहा है गीताकार की कल्पना में अर्जुन को ऐसे ही क्षण पर मोह ने घेरा था...उनके मन की स्वाभाविक प्रकृति थी स्वत्व के लिए युद्ध करना, उनके स्वभाव की ही नहीं, उनके व्यक्तित्व की माँग थी—युद्ध—और उन्हीं को युद्ध-क्षेत्र में होता है भ्रम, मोह।...पर वह क्या उनके स्वधर्म की, अस्तित्व की अभिव्यक्ति थी? ऐसा नहीं था...अन्तर्मन में वे अन्याय के प्रति प्रतिकार की भावना से कृतसंकल्प थे...फिर अपने ही अस्तित्व की अभिव्यक्ति के प्रति यह बहुत बड़ा अन्याय होता यदि वे युद्ध से विमुख हो जाते...कृष्ण ने स्वधर्म की पुकार की है और अर्जुन ने भय त्याग कर उसे स्वीकार किया।...दूसरी स्थिति भी हो सकती थी, अर्जुन के मन की स्थिति अन्यथा भी हो सकती है...उनकी प्रकृति की अभिव्यक्ति युद्ध के विपरीत भी जा सकती थी और इस स्थिति में उनका कर्तव्य भिन्न होता...'

...उसकी दृष्टि से वह तैरती हुई मुर्गाबियाँ और बत्तखें न जाने कब की ओझल हो चुकी हैं...दूसरी ओर पहाड़ी श्रेणी के सामनेवाले पहाड़ पर उसका मन घूम रहा है...वह हरी सघन वनराजि के बीच से चढ़ता जा रहा है। ऊपर आती हुई कटीली झाड़ियों को हाथों से हटाना पड़ रहा है और उनकी उलझन के बीच से किसी प्रकार आगे बढ़ता जा रहा है।...आज वह इस पहाड़ी पर जायगा, इस पहाड़ी पर वह फ़ादर के साथ कभी नहीं गया। इस पर चिकनी बीहड़ चट्टानें हैं और बहुत सँभाल-सँभाल कर बढ़ना पड़ रहा है, पर उसका मन आज अकेले ही वहाँ पहुँचकर रहेगा...इस पहाड़ी पर भालुओं का भय जो है, जूनियर्स और नोविस बिना कुल्हाड़ी लिये इधर नहीं जाते, शायद आज्ञा न हो।...पर चिन्ता नहीं करेगा, वह भालू की माँदों के पास से निकलता जा रहा है निर्भय, निर्द्वंद्व...वह, उसका मन...सामने की पहाड़ी पर सीधा ही रास्ता पार कर रहा है...बीच की पहाड़ी और इस पहाड़ी के

बीच के त्रिकोण की चढ़ाई से होकर वह पहले जूनियर्स अथवा फ़ादर के साथ ऊपर गया है, बीच की पहाड़ी पर, उससे होकर तीसरे शिखर पर।...पर इस सरोवर की लहरों पर तैरता हुआ वह, उसका मन सीधे चट्टान की झाड़ियों को पार करता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है।...वह शिखर पर है, दूसरी ओर का विस्तार...हल्के-हल्के पहाड़ी चढ़ाव-उतार, जैसे जंगल पहाड़ी क्यारियों में लगे हुए हों...फैले हुए हैं...जंगल की घनी हरियाली लहराती तरंगों में उठती-गिरती फैल गई है...और दूर पर यह विस्तार नीचे की ओर गहराई में जाता हुआ पुनः उठ कर एक पहाड़ी श्रेणी के रूप में क्षितिज पर फैल गया है...बाईं ओर बहुत दूर पर ऊँची पहाड़ी दिखाई दे रही है...पारसनाथ, जैन स्थान...वह, उसका मन उस सारे विस्तार को अपने में आत्मसात् कर रहा है...

...'नीरा, यह ऐसी नहीं है...जीवन में कुछ ऐसा भी रहता है जिसे हम स्पष्टतः कभी जान नहीं पाते...क्यों ऐसा होता है?...मेरे पिछले पत्र में मेरी भावना का जो रूप था, वह आज भी हो, ऐसा आवश्यक नहीं है।...आदमी क्षण में जीता है, उसके प्रत्येक जीनेवाले क्षण में बीतनेवाले, आगेवाले अनगिनत क्षणों का क्रम रक्षित रहता है, जिसे वह जान कर भी नहीं जानता और कब कौन अनुभूत क्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जायेगा, इसको कौन बता सकता है?...हम जितना सरल सहज मान कर सीधी और वक्र रेखाओं तक अपने को सीमित करके चलते हैं, यह जीवन की कल्पना भले ही हो, सम्भावित सत्य हो सकता है...पर सत्य नहीं है।...जीवन के तन्तुजाल में कितनी उलझनें हैं, कितनी एक दूसरे से मिली हुई गाँठों में रस का सञ्चरण है... तुमने विशाल पीपल के पत्ते को गौर से कभी देखा है...जिस गाँव के घर में मैं छोटपन में रहता था उसके सामने पत्थर के चबूतरे से घिरा हुआ पीपल का पेड़ था...मैंने न जाने कितनी बार उसके पत्तों को लेकर देखा था।...विशेषकर उसके सूखे पत्ते में देखो...तो तुमको न जाने कितनी नसों का जाल दिखाई देगा।...मैं देखता रहता उन तन्तुओं को,

वे बारीक से बारीक तन्तु न जाने कितने घुमाव और पेंचों के साथ पत्ते में फैले हुए हैं और सारे पत्ते में रस और हरियाली का सञ्चरण इन्हीं तन्तुओं के माध्यम से हो रहा है...और जब इन तन्तुओं में धीरे-धीरे जड़ता आती जाती है, पत्ते में कोई ऐसा कीड़ा लगता है जो उसके इन्हीं तन्तुओं को धीरे-धीरे सुखाने लगता है...और तन्तुओं के सूखते ही पत्ते का रंग-रूप सूखता जाता है, उसका सारा वाह्य नष्ट हो जाता है और रह जाता है केवल उन्हीं सूखी नसों का तन्तुजाल ! तब उसको देखकर कौन कह सकता है कि यह वही रूप-रंग से उद्दीप्तमान पत्ता है...कौन कह सकता है कि यह वही सौन्दर्य है, वही आभा है...

'...पर्वतीय श्रृङ्खलाएँ फैली हैं और जीवन ऐसा ही विश्रृङ्खलित, ऐसा ही रहस्यमय है...जिसमें न जाने कितने आकर्षण हैं, कितने विकर्षण हैं और आदमी उन्हीं से घिरा रहता है...सामने कौन सा दृश्य आ जायगा एकाएक, कौन कह सकता है ! पर नीरा, मैं नहीं निर्णय कर पाता यह ऐसा क्यों माना जाय कि ये सारे आकर्षण-विकर्षण मनुष्य को छोड़ने ही चाहिए। उन पर विजय पाना मनुष्य के आगे का रास्ता है...यह सब है जो अनन्त पापाचार है, यह सब है कि इसके लिए हमको पश्चा-ताप की अनन्त ज्वाला में जलना ही होगा, इसके लिए 'हौं पतितन को टीको' कहना होगा ! अपने आप को, अपनत्व को विस्मृत करना होगा !... क्यों न मान लिया जाय कि दुःख हैं वे मेरे हैं, क्योंकि जो मेरे हैं उनको मुझे अपनाना है।...क्यों न जीवन को ऐसा ही माना जाय कि उसका रस सुख-दुःख में है, उनके सहज परिपाक में है।...लेकिन नीरा...यह तुम्हारे दुःख, तुम्हारी वेदना का तो कहीं ओर-छोर नहीं। क्या कभी उसमें सुख की छाया भी पड़ी है ? अब तो ऐसा भी नहीं लगता... नीरा, सचमुच तुमको, मैं सोचता हूँ, तुमको जीवन का कैसा अनुभव हुआ है। तुम्हारे पास प्रभु को समर्पित करने को इन वेदनाओं के सिवा है ही क्या ? क्या प्रभु उन्हें स्वीकार करेंगे !...और प्रभु ले भी लें, तो क्या नीरा !...हाँ तुमने लिखा है...ठीक है नीरा, इस अनन्त पीड़ा में तुम

क्या पश्चाताप करो, क्या अपने को पतित मानो...'

'...भइया, मेरा मन आज इस भावना से विद्रोह करना चाहता है, मैं किस पाप की ज्वाला में जीवन पर्यन्त जलती रही हूँ...हो सकता है कि ऐसा ही हो, पर यह क्या सान्त्वना है, यह क्या आश्वासन है ?... किस आशा, किस विश्वास पर, आखिर किस भविष्य के स्वप्न के लिये !...आगे के किसी जीवन पर मेरा अब विश्वास जमता नहीं,... क्या होगा भविष्य के किसी जीवन का...इस पीड़ा क्लेश के साथ मैं किस जीवन की बात सोच सकती हूँ !...न भइया मुझसे नहीं होगा, इतना नहीं सह सकूँगी !...और प्रभु को क्या दूँ, यही पीड़ाएँ, यही दर्द ! मेरे पास और है ही क्या ? पर प्रभु क्या करेंगे मेरे इस दर्द का, मेरी इस अनन्त पीड़ा का...और सबसे अधिक इस निष्क्रियता का जो मुझे ग्रसती जा रही है, मेरे सारे अस्तित्व को विजड़ित कर रही है... लीलामय को ऐसा जीवन नहीं चाहिए, ऐसा समर्पण ले लेकर करेंगे ही क्या ?...और भइया, मैं जब माँ की बात सोचती हूँ, उनके एकान्त समर्पण की बात मन में उठती है, तब मन न जाने कितनी इच्छाओं आकांक्षाओं से आन्दोलित होने लगता है,...यह ऐसा पहले मैंने बिल्कुल अनुभव किया ही न हो, ऐसा मैं नहीं कह सकती, पर उसको मैंने कभी महत्त्व नहीं दिया, वह मेरे मन की सबल प्रेरणा नहीं रही और न उसने मेरे हृदय को अभिभूत ही किया।...हल्की-हल्की सी सुधि आई हो, आ गई हो, ऐसा हो सकता है, पर मेरे जीवन की इस निष्क्रियता के साथ मेरे मन में न जाने कैसी अतृप्ति, अपूर्ण आकांक्षाएँ, भावनाएँ अनुगुंजित होती रहती हैं, जिनको संवेदना की गहराई का अनुभव मुझे होता नहीं। केवल एक प्रतिध्वनि उठती हो जैसे और ध्वनित होकर फैलती जाती हो, ...मेरे सारे अस्तित्व के निष्कम्प प्रवाह पर जैसे वह तरंग उठती है और हिल्लोर उठाती हुई फैल जाती है।...कुछ नहीं भइया, मुझे इसका कोई ख़ास एहसास होता हो, ऐसी बात भी नहीं है...केवल एक बहुत हल्की सिहरन मात्र...मुझे लगता, मेरी सारी संवेदना शक्ति

कुंठित हो गई है, कुंठित होती जा रही है।

...'भइया' तुम जिस विद्रोह का अनुभव कर रहे हो, वैसी संवेदना की तीव्रता का अनुभव मेरे जीवन के लिये कोई अर्थ ही कहाँ रखता है, मैं किसी भावना का अनुभव जैसे करने में असमर्थ हूँ।...और मेरे मन में जो कभी खीझ या असंतोष जैसा भाव जागता है, उसके अन्तराल में मेरे मन की यही भावना है जिसको अनुभव करने की इच्छा करके भी मैं निरुपाय रह जाती हूँ...मेरे मन में, अस्तित्व में एक तीव्र इच्छा उठती है कि मैं उस भावना को अनुभूत सत्य के रूप में ग्रहण करूँ, मन उसको पाने के लिए विकल होने लगता है, लेकिन मेरे मन की सारी शक्ति संवेदना कहाँ चली गई है...मैं उसके ज्वार को बहुत दूर से, सागर की बहुत दूर की तरंग के समान, केवल देख भर पाती हूँ, अनुभव नहीं कर पाती। वह मेरे लिए रहस्य बनती रहती है...क्या है भइया, जिस भावना ने इस प्रकार मेरे मन की सारी शान्ति को हर लिया, और कोई संवेदना का अनुभव भी नहीं दे पाती! मैं अनेक बार अपनी असहायावस्था में इस भ्रमजाल से बचना चाहती हूँ, लेकिन इसने घेर लिया है, छोड़ता भी नहीं है। पर...पर कहीं मिलती भी तो नहीं है...यह मन का इस प्रकार टेन्टलाइज़ होना कितना कष्टकर है, कितना विकल करता है; जिसके सामने मेरी अन्य पीड़ाएँ भी अनेक बार हल्की जान पड़ने लगती है।...और फिर भइया, मैं किस विद्रोह की बात सोचूँ, क्या है जिसके लिए यह ऐसा आत्मविश्वास मन में जागे!

'तुम, तुम्हारी बात और है भइया, तुम्हारे सामने भविष्य है, उसका संघर्ष है...लेकिन यह ऐसा नहीं लगता मुझको, आज इस स्थिति में तो मैं और भी स्पष्ट देख रही हूँ—जीवन में अनास्था, अविश्वास का स्थान शायद इसी लिए हो कि उसमें आस्था और विश्वास को नकारने की शक्ति सन्निहित है। ये मूल्य मात्र नकार नहीं हैं, किसी को नकारना अपने आप में मूल्य है, शक्ति है...और उसके बल आगे बढ़ा जा सकता है। मेरे मन की स्थिति स्वतः न जाने कितनी बार ऐसी ही

रही है, यह ऐसा जीवन में कई बार भी घटित होता है, मैं ऐसा ही मानती हूँ।...पापा नहीं रहे, एक प्रकार से उन्होंने मेरे मन में आस्था के प्रति विद्रोह के अंकुर उगाये होंगे, क्योंकि उनके मन में आस्था, विश्वास खोज पाना सरल नहीं था। वे जिस भाव से तन कर सारे अनिवार्य के सामने खड़े हो जाते थे, उसमें उनके मन की यही शक्ति परिलक्षित होती थी...पर उनके जीवन काल तक मेरा मन माँ की श्रद्धा के, आस्था के साथ रहा, ऊपर से माँ के प्रति विद्रोह प्रकट करके भी।...लेकिन पापा के न रहने पर मेरा मन सबसे अधिक विद्रोही बना था...मैंने सारी आस्था, विश्वास को मन से निकाल देना चाहा था, पर...यह ऐसा ही होता है भइया...मुझे ऐसा लगता है, लगने लगा है यह इस प्रकार जो शक्ति, साहस मिलता है वह भी आस्था, विश्वास के कारण ही...इनको निगेट करना अपने आप में आस्था, एक प्रकार की आस्था बन जाती है!'

...वह रात के अन्धकार में, तारों के टिमटिमाते प्रकाश में फ़ादर पायस के साथ घूम रहा है...फ़ादर पायस कहते जा रहे हैं, उनके मन में पवित्र भावना, प्रभु के प्रेम की भावना व्यक्त हो रही है। एकदम सुन-सान प्रदेश है, नाले के आगे दोनों बढ़ते जा रहे हैं...सामने का उतरता हुआ और आगे बढ़ कर पुनः चढ़ता हुआ प्रदेश, बहुत दूर की छायालोक जैसी पहाड़ी श्रेणी से घिर गया है...और उस विस्तार पर झिल्ली की तीखी झंकार उभर आती है, उभरती हुई मन को घेर लेती है, और एक क्षण के लिए यह तीखा स्वर विकल करने लगता है, पर फिर बात-चीत के प्रवाह में डूब जाता है...'फ़ादर, मेरे मन में न जाने कैसा लगने लगता है, जब मैं सोचता हूँ, आपने सहस्रों मील के अपने प्रिय जनों को छोड़कर कितना नियंत्रण किया है। मन आतंकित हो जाता है और सोचता हूँ, किस भावना से प्रेरित होकर, किस प्रेम से आकर्षित हो तुमने अपने स्नेह के उस वातावरण को छोड़ा होगा...स्पेन और भारत! कितनी दूरी है, कितने सागर पार हैं ये देश...और आप यहाँ हैं फ़ादर,

हमारे बीच में, अपनों से बहुत दूर, उनके स्नेह ममत्व से दूर।...कैसा लगता होगा, और वे क्या सोचते होंगे?...हाँ ठीक है, आप हमारे हैं, हम सबसे स्नेह करते हैं, स्नेह को एक सीमा में क्यों बाँधा जाय... यहीं तो मेरी कठिनाई और बढ़ जाती है, संसार को त्याग कर उससे अलग हो जाना एक बात हो सकती है, पर आपने संसार को ग्रहण किया है, उसका त्याग नहीं...फिर उनके प्रति यह अन्याय क्यों? आप को कैसा लगता होगा...ऐसा नहीं कि मैं आप के मन को समझता ही नहीं हूँ, पर मुझे कैसा-कैसा लगता है। याद करने से क्लेश होता है, आपकी माँ, पापा, कैसा अनुभव करते होंगे?'

...झिल्ली की झंकार एक क्षण के लिए रुकी, फिर और भी तीखेपन से झंकार उठी...और फ़ादर पाथस ने उस अन्धकार में भी जैसे मुस्कराते हुए कहा—'नरेश मैंने कुछ त्यागा नहीं, ऐसा लगता है ग्रहण किया है। मेरे संघ में इस प्रकार की प्रतिज्ञा नहीं है... पर वह भिन्न बात है, मैं यह समझ सका हूँ कि मात्र प्रतिज्ञा कर लेने से और उसका निर्वाह करने से ही साधना का भाव ग्रहण नहीं किया जा सकता। संघ और धर्म की दृष्टि से संन्यास और अपरिग्रह आवश्यक हैं, देश में रह कर भी काम चल जाता...पर यहाँ आना, भारत को अपना घर मानना यह मेरी भावना का ही परिणाम है। ठीक कहना सरल नहीं है, शायद इसलिए कि भारत के विषय में हमारे देश में भी ऐसी धारणा रही है कि यहाँ के निवासी पिछड़े हैं, गुमराह हैं, सभ्यता और संस्कृति में अभी बहुत पीछे हैं, और उसका मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा हो।...पर वह सब न जाने कबका मैं भूल चुका हूँ। एक दिन जो एकाएक निर्णय किया था कि मैं भारत जाऊँगा, उस दिन की भावना आज यथावत् याद नहीं आती, हाँ वह भाव मात्र मेरे मन को अब उल्लसित करता है।...माँ ने, पिता जी ने, अच्छा नहीं माना था तब, और अब वे हैं ही नहीं, वास्तव में अब देश में मेरे सूत्र छिन्न-भिन्न हो गये हैं। कुछ ठीक नहीं मेरे चचेरे भाई कहाँ होंगे...

मेरी एकमात्र बहन के पत्र कभी-कभी आ जाते हैं, पर वह अपने परिवार में व्यस्त है।...अब यह देश मेरा देश है, यहाँ के विषय में पहले संदेह आने के कुछ वर्षों में विलीन हो गये थे और अब उनको याद करना पड़ता है।...मैंने यहाँ के भक्ति आन्दोलनों का अध्ययन किया है, आड़वार संतों की वाणियाँ मूल में पढ़ी हैं, कुछ उत्तर के भक्तों के साहित्य से तुम्हारे माध्यम से परिचित हुआ हूँ और मैं स्पष्ट कहता हूँ कि उनकी वाणियों में कुछ है जो मन को छूता है, हमारे संतो की भावना के निकट है, बिल्कुल परिचित लगता है।...मुझे तो जान पड़ता है ईसाई भावना से भिन्न यह भावना हो कैसे सकती है।...संसार में कहाँ कौन त्याग कर पाता है, यह सब मानना मेरे लिए सम्भव नहीं है, यह दूसरी बात है, मेरे कर्तव्य में यह संसार बाधा नहीं दे, यही उचित है।...संघ की आज्ञा से इस स्नेह का विरोध ही क्या हो सकता है? मैं तुमसे स्नेह करता हूँ, मैं अपने मित्रों से स्नेह करता हूँ, और प्रेम का सन्देश हमारे प्रभु ईसा का सन्देश है, फिर इसको प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाना है। यह बहुत सम्भव नहीं है, सबसे समान स्नेह कर पाना सहज नहीं है, सामान्य दया की भावना से प्रेरित होना ही हमारा उद्देश्य है...और इसमें हम देश के बन्धन को, जाति के बन्धन को नहीं मानते...ऐसा भी नहीं है कि हम धर्म के बन्धन को मानते हों, यह है कि हम स्वीकार करते हैं कि प्रभु ईसा के वचनों को माने बिना, उसके मार्ग को स्वीकार किये बिना प्राणी का उद्धार नहीं!...अन्य धर्म भी ऊँचा बनाते हैं, पर...'

उसका ध्यान ऊँची श्रृंखलाओं पर चला गया है, फ़ादर की केवल एक बात उसके ध्यान केन्द्र में जम सकी है कि प्रेम प्रभु ईसा का सन्देश है, पिटी प्रभु की सबसे सशक्त प्रेरणा है...प्रेम और दया!! क्या ये एक ही भाव है! प्रभु दया कर सकते हैं, पर क्या भक्त प्रभु को दया की दृष्टि से देख सकेगा? नहीं, नहीं यह कैसे हो सकता है...उसकी व्याख्या फ़ादर जिस प्रकार भी करें ईसाई भावना में उसकी व्याख्या

जैसी भी की गई हो, पर दया...उसके सामने तारों का झिलमिल प्रकाश है, जिसमें वृक्षों की छायाएँ व्यक्त भर हो गई हैं, सारा दृश्य जगत् छायाओं का लोक सा जान पड़ता है। वे घूम कर सेन्ट स्टेनिसलॉस की ओर वापस आ रहे हैं...लगता है नीचे गिरती हुई सड़क एकाएक ऊपर उठ कर चढ़ती हुई चली गई है, और स्टेनिसलॉस की सघनता के पार्श्व में वह पहाड़ी श्रेणी काली छाया के रूप में फैली हुई है...आकाश में तारे जगरमगर कर रहे हैं!

...उसके मन में नीरा की स्मृति जागती है, नीरा ने लिखा है...उसे ऐसा जान पड़ता है कि जीवन में कुछ नहीं प्राप्त हो सका है, उसके लिए उसका मन प्रथम बार आकुलता का अनुभव कर रहा है...स्पष्ट उसने लिखा है, शायद वह जानती नहीं...क्या है यह? प्रेम...पर उसे कितना प्रेम मिला है। उसने स्वयं कहा है, केवल स्त्री-पुरुष में एकमात्र प्रेम होता है ऐसा मैं नहीं मानती...फिर क्या चाहती है? उसे प्रेम बुआ का, फूफा का, आरती का, छोटी बुआ का, कितनों का प्राप्त हुआ है...और यही क्यों, उसने स्वयं ही नीरा को कितना चाहा है, माना है...पर स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका...क्या इनके बिना प्रेम नहीं होगा...यह ऐसा नहीं है, वह नहीं मानती, उसने स्वयं भी नहीं माना है...

फ़ादर प्रेम की बात कह रहे हैं, सबसे समान स्नेह नहीं किया जा सकता है, फ़ादर भी स्वीकार कर रहे हैं...क्या है यह जो जीवन की इतनी गहरी माँग हो जाती है...है। वह इसे अस्वीकार नहीं कर पाता...कहा जा सकता है, कहा गया है, सन्तों ने, भक्तों ने ऐसा ही कहा है...धर्म ने इसे छूट दी है, पर शासित करके, नियंत्रित करके, इसको आदर दे कर भी, इसके छोड़ने को अत्यधिक गरिमा दे कर ही।...यह शरीर की माँग है, यह मांस की आकांक्षा है, यह वासना है, यह माया है, मोह है...यह भी कहा गया यह प्रेम का शुद्ध रूप नहीं, सात्विक आधार नहीं।...आदमी के जीवन की इतनी बड़ी आकांक्षा, इतनी बड़ी

प्रेरणा केवल इस रूप में लाँछित नहीं हो सकती, उसके प्रति केवल उदारता मात्र प्रकट करने से नहीं चलेगा...व्यक्ति अपने को पूरा नहीं मान पाता, उसका अस्तित्व बिना अपने आपको इस प्रकार अनुभूत किये जैसे निरर्थक बीत रहा हो...नीरा शायद यही कहना चाहती हो पर... ...पर उसने कहाँ माना है, कभी उसने स्वीकार नहीं किया है इस बात को...वह आज भी मान नहीं सकेगी, उसके मन की आकांक्षा इस मौलिक प्रेरणा से...

...यह है कि इसके सामने लगता है, सब दया-मया, प्रेम-स्नेह अत्यन्त हल्के हो गये हैं, ऊपरी जान पड़ते हैं...एक बार जीवन की यह शरीरी माँग, मांसल आकांक्षा कितनी प्रबल हो सकती है, इसका अनुभव किये बिना जैसे जीवन सार्थक ही नहीं हो पाता।...पर यह प्रेम नहीं हो सकता, शायद शरीर की माँग प्रेम के आधार में हो। धर्म में, साधना में आधार रूप से इसको स्वीकृति तो मिली है...पर प्रेम उसके आगे, ऊपर की बात होगी!...लेकिन माना जाय कि शरीर अप्रधान है, आत्मा प्रधान है!...कहाँ तक माना जा सकेगा कि शरीर प्रत्यक्ष, अनुभूत सत्य गौण है और आत्मा सूक्ष्म सत्य प्रधान है...नहीं कहा जा सकता, इसको स्वीकार करके साधारण जन नहीं चल सकेगा...ऐसा सम्भव होता तो धर्म और साधना बार-बार इस ओर नहीं मुड़ते, इस शरीर के मुखापेक्षी नहीं होते...यह सम्भव नहीं है...व्यक्ति अतृप्त, अपूर्ण है...।

स्थिर गति से एक्सप्रेस दौड़ रही है, युवक खिड़की के सिरे पर अपना सिर टेके बैठा है, एक तकिया का उसने तिरछे बैठने के लिए सहारा ले लिया है। तीन बर्थ का यह कम्पार्टमेंट खाली जा रहा है। क्यों आज यात्रा कम लोग कर रहे हैं? नहीं यह केवल संयोग है। उसे उस बंगाली बाबू की याद आती है जो बाँदीकुई में केवल उसकी लापरवाही से नहीं चढ़ सका, वह उसको गाली देता हुआ आगे के भरे

डब्बे में चढ़ा था। पर उसे यह आज क्यों अकेले चलना पड़ रहा है, तीनों सीटों पर धीरे-धीरे धूल जमती जा रही है, केवल जिस भाग पर वह बैठा है वही साफ़ है...उसे लगा सीटें उससे शिकायत कर रही हैं कि वे उसके कारण ही खाली हैं। खाली रहना जीवन का चिह्न नहीं है! रिक्तता जीवन का अस्वीकरण है, निगेशन है।...ट्रेन की एकरस गति में केवल बीच-बीच में हल्का-सा धक्का लग जाता हो जैसे और सटसट सटटसट करती गाड़ी आगे भागी जा रही है...

सामने रेत का विस्तार, सूखापन, सूनापन ही नाचता हुआ दौड़ता आता है, फिर पीछे निकल जाता है...बीच-बीच में कहीं खेत पड़ जाते हैं, पेड़ आते है...पर अकेले से अपवाद से...छोटे-छोटे पहाड़ी टुकड़े ज़रूर आ जाते हैं और लगता है दृष्टि को आधार मिल गया हो...नहीं तो एक विचित्र सूनापन, अकेलापन बाहर भी घिर रही है...यह रिक्तता है, मन की रिक्तता है जो बाहर से इस प्रकार घिरती आ रही है। वह बाहर से ऊब गया है, अन्दर कम्पार्टमेंट में लौटता है। पर फिर वही खाली बर्थें, वही खाली ऊपर की लटपती हुई बर्थें। एक खूँटी पर उसका हैट ज़रूर टँगा है, शीशे के सामने उसका गिलास रक्खा है जो खाना खाने के बाद से वहीं रखा हुआ है। उसका अटैची भी वहीं पड़ा हुआ है जिससे शायद उसने एक किताब निकाली थी पढ़ने के लिए, पर...पर वह किताब दो-चार पेज़ से अधिक चल नहीं सकी।...वह अब भी पड़ी है, मोरियाक, दि नाट ऑव वाइपर्स...मानव घृणा का, अविश्वास और कंजूसी का यह शक्तिशाली चित्रण उससे नहीं चल सका। वह आधा भाग एक सप्ताह पूर्व पढ़ चुका है, चाहा था आज उसे समाप्त कर देगा...लेकिन आज उसे इस उपन्यास से अधिक ये कल्पनाएँ घेर रही हैं...पुस्तक की ओर इस दृष्टि से देख रहा है कि उससे त्राण मिल सकता हो...पर उस पुस्तक पर जैसे घृणा के विषधर फन फैलाए बैठे हों।

राजेश का पत्र उसे मिला है, उसने काश्मीर से लिखा है...'भइया

मैंने भावावेश में आरमी ज्वाइन कर ली थी, तब सोचा था कि जीवन को एक अनिश्चित प्रवाह में डाल देने से सब कुछ भूल सकूँगा।...तुमने लिखा था भइया कि यह इस प्रकार जीवन को झुठलाया नहीं जा सकता, जीवन की पहली माँग है जीवन, अर्थात् जीने की शर्त और जो उसे झुठलाना चाहता है, वह अपने को ठगता है, क्योंकि अन्ततः यह ऐसा होता नहीं।...और भइया मैंने तुम्हारी बात नहीं मानी, या यों कहना चाहिए कि उसको समझने जैसी मनःस्थिति ही नहीं थी मेरी।...मैं आसाम के जंगलों और पहाड़ों पर मड़राता रहा, अपने प्लेन में बाम्ब भरे शत्रु सेनी की खोज में, उनके अड्डों की तलाश में भटकता रहा हूँ...और उनका दल हमारे साथ आँखमिचौनी खेलता रहा...हमारी सेना पीछे आगे हटती रही।...पर भइया मेरे मन में संघर्ष और द्वंद्व चलते रहे, मैं गया था कि युद्ध की सरगर्मी और तेज़ी में अपने मन का सारा कोलाहल भूल जाऊँगा...प्रारम्भ में लगा कि मेरे मन का निर्मोह मुझे निर्भीक बना रहा है, मुझमें युद्ध के लिए अदम्य साहस और उत्साह है...मेरे भाव को देखकर मेरे कमांडर स्वयं प्रशंसा के भाव से भर जाते थे। पर वह मेरे मन का अपने से पलायन ही था, आज मैं तुम्हारी बात देख रहा हूँ भइया, ठीक समझ पा रहा हूँ। उस समय न जाने क्या मेरे मन में भरा था जिससे मैं और कुछ सोच समझ पाने में असमर्थ था...फिर मेरे मन के परिवर्तन से तुम परिचित ही हो...मेरे मन को युद्ध ने सचमुच विगतज्वर कर दिया। धीरे-धीरे जैसे मेरी सोचने समझ सकने की चेतना वापस आई तब मैंने अपने को जिस निरीह अवश स्थिति में पाया था उसका संकेत मैंने दिया था, साफ़ कह सकना तब सम्भव नहीं था...

'...यहाँ, इस युद्ध में मैं उस युद्ध के अन्तर को साफ़ देख रहा हूँ...युद्ध के अनवरत संघर्ष ने मुझे आरती की अत्यन्त कुंठित करने वाली कल्पना से तब मुक्ति दी थी, मुझे लग रहा था जीवन के कर्म का क्षेत्र बहुत विस्तृत है...धीरे-धीरे मन का आक्रोश शान्त हुआ था, घृणा मिटी

थी, मेरे मन को घेर कर कुण्डली मारे बैठी घृणा ने तब अपने बन्धन को ढीला करना प्रारम्भ किया था। मैंने अनुभव किया था जैसे मेरा मन मुक्त हो रहा है, मेरी चेतना में स्वाभाविक संवेदन की लहरें आने लगी हैं...तभी मैंने यह भी अनुभव किया था कि मैं आरती की कल्पना से किस प्रकार अपने अर्थ को ही भूल चुका हूँ।...और उसी समय ऐसे तूफ़ान उठे जिसमें मैं सब कुछ भूल गया...इंडियन नेशनल आरमी के समाचार मेरे मन को उत्तेजित कर रहे थे...मेरे मन में अँग्रेज़ी सेना के प्रति अनन्त विद्रोह जागा, मैंने अपने आप से पूछा—यह सेना क्यों? इस युद्ध में हमारा योग क्यों? हम अपनी परतंत्रता को दृढ़ करने के लिए लड़ रहे हैं। हमारे गोले हमारी जंजीरों को क्या अधिक मज़बूत नहीं कर रहे हैं? मन में जो बेचैन रही, उसमें एक ही सन्तोष था कि जापानी परतंत्रता शायद और अधिक निर्मम होगी। हमारा अनुभव इस बात का साक्षी भी था, मैं यह विश्वास नहीं कर सका कि अँग्रेज़ों से जापानी अच्छे हैं, मैंने साफ़ सोचा था कि जापानी को अपनी भूमि पर न आने देना अपना कर्तव्य हो सकता है...मैं कभी इस बात को अपने मन में स्थान नहीं दे सका कि अँग्रेज़ों को हटाना है और उसके स्थान पर भले ही जापानी आ जाएँ।...मेरे मन का जो भ्रम एक बार आरती को लेकर उत्पन्न हुआ था, उसके दूर होते ही मुझे एक दृष्टि मिल गई जिससे मैं सब कुछ साफ़ सुथरे ढंग से देख समझ सकने में समर्थ हूँ...

'आसाम के ऊँचे नीचे पहाड़ों पर, सुन्दर पहाड़ियों पर, घने जंगलों पर, घाटियों पर उड़ते हुए मन में उठ रहा था कि यह युद्ध हम क्यों लड़ रहे हैं...जापानियों को निकालने के लिए, पर अँग्रेज़ों को यहाँ स्थापित बनाये रखने के लिए भी तो।...हमें इस बात का अनुभव पग-पग पर होता भी था कि हम गुलाम देश के सैनिक हैं, हम अपने देश के लिए नहीं वरन् अपने स्वामियों के लिए लड़ रहे हैं।...भइया, मैंने शायद तुमको नहीं बताया वह प्रसङ्ग, जब एक अँग्रेज़ फ़्लाइंग ऑफ़िसर मेस

में देश की क्रांति के सम्बन्ध में, गाँधी जी के सम्बन्ध में भद्दी बातें कहता जा रहा था, हम देशी अफ़सरों को यह विष जैसा लग रहा था। हम इस प्रकार की छन छन कर आती बातों के प्रति अत्यन्त उत्सुक रहते थे, अँग्रेज़ इस आन्दोलन से घबराये हुए थे, उनको यह सब खल रहा था।...मुझसे नहीं रहा गया, मैंने उस ऑफ़िसर को चैलेंज किया—'आई शैल सी यू डैम रैस्कल।' और उसने व्यंग-आक्रोश में कहा—'यू ब्लैक बगर, आल राइट।' और उसने हवा में अपना मुक्का घुमाते हुए कहा—'आ' शैल ब्रेक योर ज़ास।'

'...फिर आसाम की एक सूनी पहाड़ी के पार्श्व में मैंने उसे घेरा, वह शायद मैस की बात को भूल चुका था...मैंने उसे सतर्क किया... उस एकान्त में हमारी पिस्टल निकल आई और गरज उठीं। मेरी रान में चोट लगी और मैंने उसको हृदय से बेध दिया...उसके दो घंटे बाद हमारे अड्डे पर जापानी हमला बहुत भयानक रूप से हुआ। इस हमले के लिए हम तैयार नहीं थे। कहीं से सूचना नहीं मिल सकी थी... शाम होते-होते हमारे अड्डे को बीस मील पीछे के अड्डे पर हट आने के लिए विवश होना पड़ा।...उस घटना की ओर किसी का ध्यान नहीं गया...लेकिन कमांडर के रुख़ से लगता था कि उसको मुझ पर सन्देह है और वह मुझ पर निगाह रखता है...पर यह युद्ध का नियम है कि मरे व्यक्ति की इससे अधिक चिन्ता नहीं की जाती कि उसका नाम मृतक सूची अथवा मिसिंग सूची में दर्ज करवा दिया जाय।...सूची में उसका नाम निकल गया और सब निश्चिन्त हो गये।

'पर मेरे मन में उस द्वंद्वयुद्ध ने गहरा प्रभाव डाला...आज भी मुझे उस सूनसान पहाड़ी के पीछे अस्त होते सूर्य के प्रकाश में आसाम की वह घटना याद आ जाती है...मुझे लगा था, उसी दिन मैंने सबसे पहले अनुभव किया था कि युद्ध कितना निर्मम, कितना कठोर होता है...उसमें किस प्रकार आदमी की सारी मानव प्रवृत्तियाँ पाशविक प्रवृत्तियों से परास्त हो जाती हैं।...बेकर मेरा साथी था, उसके साथ

मने न जाने कितनी फ़्लाइट्स की थी, कितने एक बार आक्रमण के अवसरों पर हमने एक दूसरे का हाथ बटाया था, पर हम एक दूसरे पर पिस्टल बिना किसी हिचक के चला सके।...हमारी वीरता की तारीफ़ की जायगी, मैं जानता हूँ, और जॉन बेकर अपने देश के लिए उतना ही वीर था।...पर मैं सोचता हूँ मात्र उस परिस्थिति की बात, भावना की बात...दो साथी एक दूसरे पर पिस्टल ताने खड़े हैं, बिना किसी ममता के, मोह के...युद्ध लड़ने की चीज़ नहीं है, वह मनुष्य की भावना के खिलाफ़ है...

'...आज मैं काश्मीर में फिर अपनी देशी सेना के साथ हूँ, हम काश्मीर के निरीह बच्चों और बूढ़ों की रक्षा के लिए अपनी सेना की सहायता कर रहे हैं। हमारे सामने मात्र कर्तव्य है कि काश्मीर की रक्षा कबीलों, और पाकिस्तान की सम्मिलित सेना से करें। हमको बताया गया है कि कबीलों का आक्रमण है, पर यहाँ शिक्षित सेना का सामना है...यहाँ जो इनकी लूट और अत्याचार के किस्से सुनने को मिलते हैं, उनसे हमारा साहस और हमारे मन का उत्साह बढ़ता है।...युद्ध का यह नया रूप है, जिसमें स्वेच्छा है, जिसमें लड़ने के लिए 'काज़' भी है!...पर भइया; युद्ध मनुष्य के लिए किसी रूप में गौरव की वस्तु नहीं हो सकता है, यह भाव मन में जमता जा रहा है।...काश्मीर की सुन्दर स्वर्गीय घाटी में यह सत्य और उभरता है।

'...हमारा हवाई जहाज़ काश्मीर की सुन्दर घाटी पर मड़राता है, दूर-दूर तक रुपहला, सोनहला चमत्कार फैल जाता है, सूर्य के प्रकाश में कहीं सोने जैसी बर्फ़ीली चोटियाँ चमक रही हैं, और कहीं चाँदी जैसी चोटियाँ व्यक्त हो रही हैं...इन पर्वत श्रृङ्खलाओं के बीच में नीली-नीली बेहद खूबसूरत झीलों का विस्तार जैसे फैलता-फैलता रुक जाता है... उनके नीले विस्तार पर डोंगियाँ, बजरे तैर रहे हैं...और न जाने कितने जलपक्षी बहुत हल्के सफ़ेद बूँद से दिखाई पड़ जाते हैं...पहाड़ी श्रेणियों के पार्श्व तक फैली हुई ये झीलें, और दूसरी ओर घाटी के ऊँचे-नीचे

प्रदेश पर फैले हुए केसर के सोनहले खेत...सुन्दर वनों की उठती-गिरती हुई तरंगों पर उड़ते हुए मन का भाव न जाने कैसा होने लगता है...युद्ध की कल्पना कितनी निर्मम लगती है, असंगत जान पड़ती है...

'...इतना ही नहीं भइया, मेरे मन का भाव ही बदल गया है, तुम्हारे कहने से जो नहीं समझ सका था वह आज समझ रहा हूँ! आरती के प्रति मेरे मन को अब कोई दुर्भाव नहीं सताता। मीरा जीजी के प्रति भी मन में कोई अन्यथा भाव नहीं रह गया है। मन का सारा आवेश, उन्माद उसी दिन शांत हो गया था जिस दिन जान बेकर मेरी गोली से विद्ध होकर मेरे सामने छटपटा रहा था और मैं उसके सामने खड़ा था, मेरी रान से रक्त की धार बह रही थी। फिर भी मुझे क्लेश का रंच मात्र भान नहीं था...मैं देख रहा था कि जैसे मेरी सारी उत्तेजना एकदम शांत हो गई हो...जीवन के प्रति जो प्रतिहिंसा की घोर भावना जागी थी, मन जिस कठोर आवेश से भरा हुआ था, लगा एक क्षण में ही वह उतरता जा रहा है।...तबसे जीवन में एक शून्य, घना शून्य ही भरा हुआ लगता रहा है। मेरे पत्र से आपको जो निराशा, पलायन की ध्वनि आती रही है, उसका मूल कारण यही रहा है।

'...पर आज यहाँ काश्मीर में, इस युद्ध में एक नया अनुभव हो रहा है...जीवन में जैसे कहीं से कोई नया अर्थ उभर रहा हो, जो सब कुछ खो चुका था, वही जैसे पुनः मिल रहा हो।...जीवन में कोई अर्थ है, जो कितना ही भूला हुआ क्यों न रहे, पर एक दिन सामने आता है, और उसी अर्थ को ग्रहण करने के लिए आदमी जीता है... मैं भी जिया हूँ। पीछे कई बार मन में ऐसा भाव आया है, तुमको भी इसका आभास मिला होगा कि मुझे जीवन से वितृष्णा हो गई है, मैं नहीं चाहता कि इस जीवन को अधिक झेला जाय, मन में उठता था, आख़िर किस लिये...

'पर आज भाव बदल रहा है, जीवन स्वतः अर्थवान है, उसका अपना अर्थ है, केवल जीवन के इस-उस भाव पर उसको केन्द्रित नहीं किया जा सकता है।...काश्मीर का सौन्दर्य, उसकी ग़रीबी, उस पर किये गये अत्याचार, उसकी रक्षा का प्रश्न यही भाव मेरे मन में प्रधान हो गये हैं।...काश्मीर के झीलों से मैंने जीवन का नीला विस्तार ग्रहण किया, हल्की तरंगों में फैली हुई ये विस्तृत झीलें कितनी मनोहर है; पहाड़ी श्रृङ्खलाओं पर दूर से चमकती हुई बरफ़, उसपर बनते-मिटते हुए अनेकानेक रंग, और हरी-भरी घाटियाँ...ये जीवन में नयी प्रेरणा देती हैं; और उनमें रहनेवाले गंदे, शिक्षाहीन, संसार के सारे प्रकाश से वंचित, पर भोले और सुन्दर मानव मुझको सचमुच एक नयी रोशनी देते हैं।...मैं सोचता हूँ कि क्या इनको, और ऐसे ही असंख्य-असंख्य प्राणियों को जीने का अधिकार, और जीवन के सही अर्थ में जीने का अधिकार मिल सकेगा!...इनको देख कर, और इनके इस स्वर्गोपम देश को देख कर मैं जीवन के पिछले भावों से मुक्त ही नहीं हो गया हूँ, वरन् उनके प्रति मन में हँसी का भाव भी आता है। यह क्या था जिसके लिए मैंने संसार का सारा जीवन, कर्तव्य ही अस्वीकार कर दिया था? आदमी का कर्तव्य अपने को छोड़ कर ही आरम्भ होता है...

'...भइया! मैं आज अपने मन को पुनः खोल कर रख रहा हूँ, ऐसा ही मैंने सदा किया है...मुझे लगता है कहीं से मुझे नया सन्देश मिल गया है, नया भाव उदय हो रहा है मेरे मन में।...जीवन की यह नयी प्रेरणा कहाँ से मिल रही है, यह कह पाना सरल नहीं है, इस युद्ध से, इस काश्मीर के सौंदर्य से, यहाँ की ग़रीबी और विपन्नता से, कहा नहीं जा सकता!...पर यह ऐसा ही...मैं एक अप्रत्याशित सुखानुभूति से भर उठता हूँ, जब मेरे सामने एक श्रेणी के बाद दूसरी श्रेणी आविर्भूत होती है, और अपने हवाई ज़हाज़ से मैं देखती हूँ उनका फैला हुआ सौंदर्य, उनका चमकता हुआ श्रृंगार, रँगों की सतरंगी कल्पना में फैला हुआ उनका विस्तार...और फिर देवदारु चीड़ के घने ऊपर उठते हुए

जंगल, कहीं नीचे झुकते हुए जंगलों के बीच फैली हुई नीली झीलें।... यह सब है जिसने मेरे मन को बदला है, अथवा सरहिन्दी इलाक़े के इन ख़ूख़ार कबीलों ने जिन्होंने काश्मीर की इस सुन्दर घाटी को रौंद डाला था, जिनको हमारी सेना ने सबक़ सिखाया है, पाकिस्तान की उस सेना ने जिसने इस बरबरता में हाथ बटाया है...या यह हो सकता है कि काश्मीर के निवासियों की मासूम निगाहों ने, उनकी ग़रीबी और बेबसी की सर्द आहों ने, उनके पददलित स्वाभिमान ने, मेरे मन के इस भाव को जगाया हो, मेरे मन को नया सन्देश दिया हो...'

उसने देखा 'दि नाट ऑव वाइपरस' उसी प्रकार पड़ी है, मोरियाक ने किस प्रकार इस कंजूस व्यक्ति के मन में घृणा और प्रतिहिंसा का भाव भरा है...वह सोचता रहा है, साथ ही साथ उसके मन पर राजेश का पत्र घूमता गया, उसकी पंक्तियाँ एक-एक करके जैसे उसके मन पर लिखती गई हों।...अब वह सोचता है क्यों मोरिकाय के साथ इस पत्र की याद उसे आई है।...प्रेम और घृणा में मौलिक अन्तर नहीं माना गया है, शायद इसमें कुछ सत्य है...उसे याद आ रहा है, राजेश कितना कटु, कितना घृणा की भावना से उद्वेलित, प्रतिहिंसा की भावना से आक्रान्त था...और आज उसके मन का भाव बदल गया है। कारण क्या है, राजेश के समान ही वह भी साफ़ नहीं देख पा रहा है, पर यह परिवर्तन है, और मोरियाक के इस कंजूस में क्या कोई परिवर्तन सम्भव हुआ होगा? नावेल का प्रवाह से बता सकना सरल नहीं है। स्वयं मोरियाक का अप्रोच बताता है कि इसका परिवर्तन किसी अर्थ में अवश्य हुआ होगा, किसी सीमा पर उसके अन्तर्मन में कोई प्रक्रिया ऐसी घटित हुई होगी जिससे उसके सारे चरित्र का मूल स्वर बदला होगा, यह दूसरी बात है कि उसके परिवर्तन के प्रति दूसरों का क्या दृष्टिकोण रहता है... मोरियाक की यही कला है।...राजेश का मन बदला है, उसने आर्त्ता

के प्रति इस बार पुनः कोमल ढंग से विचार किया है, उसने उसे वास्तविक ममता की दृष्टि से इसी बार देखा है, अभी तक तो उसने किसी न किसी भावावेश की स्थिति में उसे जाना था...पर...

...पर आरती, उसका मन, उसके मन का क्या होगा ? उसने उसे कभी कुछ मन को लेकर नहीं लिखा है। जब कभी लिखा है, केवल मात्र समाचार, उन्हीं से उसका पत्र सदा बना है।...पर नीरा के इधर के पत्रों से ध्वनित होता है कि उसे आरती के सम्बन्ध में की गई अपनी ग़लती से कहीं कोई गहरा संकोच ही नहीं, ग्लानि भी है।...आरती का मन उदास है, वह एडजस्ट नहीं कर पा रही है, यद्यपि उसमें सहनशीलता की कमी नहीं; उसने बुआ से यह पाया है। नीरा को भी लगता है, यह उसके पति का स्वभाव, उसका संस्कार है, वह उन पुरुषों में है जो स्त्री को सेवा के अधिकार के साथ सहनशीलता का आदर्श भी देना चाहते हैं, इससे अधिक उदारता वे करने के पक्ष में नहीं होते। नीरा के लिए यह बहुत है, पर वह क्या करे !...उसने इस विवाह के पक्ष में सबसे अधिक बल दिया था, लड़का पढ़ा-लिखा है, अफ़सर है, शालीन है !...और आज उसे लगता है...उस समय नीरा चाहती थी किसी तरह राजेश से आरती का व्यामोह दूर हो !...नीरा ने अपने को कहीं समझने में भूल की है, नीरा ने जीवन को सदा ठगा है, या...उसके स्वास्थ्य ने, उसकी बीमारी ने, उसे सहज रूप में जीवन का अर्थ समझने का मौक़ा ही नहीं मिला।...इधर उसने किसी परिवर्तन का अनुभव अवश्य किया है, और उसके पत्रों में, इधर एक वर्ष से न जाने कैसी ध्वनि आने लगी है जो परिचित नहीं लगती... उसके मन में कहीं जीवन का अर्थ बदला है, ऐसा ही अनुभव हुआ है, पर वह क्या है ?...

...राजेश के मन में जीवन का अर्थ बदला है, और नीरा में भी परिवर्तन हुआ है...पर कैसे कहा जाय वह क्या है ? कौन समझ सकता है, स्वयं जिसमें यह ऐसा घटित हो रहा है, उनको ही कहाँ उसका स्पष्ट

आभास है ! और उसका अपना मन ! क्या उसके मन में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है ? हो सकता है कि कुछ उसके मन में भी घटित हुआ हो जिसे वह भी जान समझ न रहा हो !...पर, उसके मन में एक ही परिवर्तन उसे लगा है, उसने निर्णय करना जैसे छोड़ दिया हो, उसे लगा है अपने आप निर्णय करना व्यर्थ ही है, क्यों किया जाय ?...यह ऐसा ही होता है, फिर ऐसे ही चलने दिया जाय !...उसके मन में आग्रह पहले भी कम था, पर अब उसे जान पड़ता है जैसे निर्णय करना निरर्थक है, अपने मन की नहीं ही होती हो जैसे, और उसका मन भी कब कुछ रहा है ! हाँ पहले वह इतना अपने मन का करता रहा है कि दूसरे के मन की भी नहीं करेगा...पर अब उसका वह विश्वास भी न जाने कहाँ चला गया।...उसे पुरातत्व विभाग में नौकरी मिली और उसने बिना सोचे कर ली, वैसे वह अपने स्वभाव के अनुसार सरकारी नौकरी करना कभी पसन्द नहीं करता, उसे किसी विश्वविद्यालय की नौकरी से ही सन्तोष मिलता। पर एक प्रस्ताव आया, और उसने स्वीकार कर लिया...इधर-उधर घूमना है, प्राचीन, अतिप्राचीन इतिहास की बिखरी हुई सामग्री को खोजना है, उसे एक रूप देना है, देने में सहायता करना है...काम उसके मन के विरुद्ध नहीं है, फिर कर ही लेगा...कर लिया भी उसने।

उसका कैम्प कौशाम्बी के खंडहरों पर लगा है, दिन भर का परिश्रम, दिन भर की दौड़-धूप के बाद रात की चाँदनी में उसे लगता है...यहाँ कोई स्वप्न उतर आया है, चारों ओर राजमार्ग और विथिकाएँ फैल जाती हैं, उनके दोनों ओर ऊँचे भव्य प्रासाद खड़े हो जाते हैं...जिनके बीच में उदयन का विशाल राजभवन है, जिसमें उसका प्रमदवन भी है...और उदयन अपनी वीणा बजाता हुआ घूम रहा है। उसकी वीणा की प्रत्येक उठती हुई मींड़ से सारा चाँदनी का वातावरण अभिभूत हो जाता है। उसे अनुभव होता है जैसे यह वातावरण उसके मन में खिंचता आ रहा

हो, घना होता आ रहा है...प्रमदवन के एक कुंज से कौन निकल रहा है... वासवदत्ता...उसे लगता है ! उसके सामने का वातावरण सिहर उठा है, उसके शरीर में हल्का-हल्का रोमांच हो रहा है ।...उसके सामने कौशाम्बी की छोटी-छोटी पहाड़ियों जैसे खँडहर फैले हैं, जिनमें उतार-चढ़ाव और विस्तार होने के कारण सब कुछ आकर्षक लगता है, चाँदनी उसे रूप दे रही है ।...उसकी कल्पना में वह सारा ध्वंसावशेष नगर के सौन्दर्य का रूप ग्रहण कर लेता है । राजमार्ग, चौड़े मार्ग, सकरे पथ और उनके साथ प्रासाद, भवन और उपवन चारों ओर फैल जाते हैं ।

...उदयन...उदयन के स्थान पर वह स्वयं ही उस प्रमदवन में विचर रहा हो जैसे...एक अजब उन्माद से उसका मन भर जाता है, उसे लगता है उसके पास ऐश्वर्य है, विलास है, वह किसी मादक सुख का अनुभव करता है । फिर उसके मन में अनायास वियोग का भाव जागता है, उसे अनुभव होता है उसका मन किसी के लिए विकल है, किसी के बिना जैसे सारा ऐश्वर्य विलास सूना हो गया है । उसके चारों ओर का उपवन, उसके सुरभित पुष्प, पेड़ों पर चढ़ी हुई वल्लरियाँ सब मलिन हो गई हैं...न उसे आम्र मंजरियों में आनन्द दिखाई देता है और न अशोक के पुष्पित तरु से कोई सन्तोष मिल रहा है...न उसे कोयल का स्वर सुहाना लग रहा है...सारी प्रकृति उसके प्रतिकूल हो गई है ।...वह किसकी खोज में है, किसके लिए विकल है...उसकी वासवदत्ता, उसकी रत्नावली...क्या वह उसके लिए आकुल हो रहा है ?...उदयन वीणा बजा रहा है ।...वह स्वयं वीणा बजा रहा है...वह बैंजो बजा रहा है...उसकी अपनी वासवदत्ता ! इस कल्पना से वह विह्वल होता है, उस सारे वातावरण में उसे लगता है कि वह चिर विरही है । विरह प्रेम का उत्कर्ष है, उस युग में प्रेम के इस उत्कर्ष के लिए नायक सदा आकुल उत्सुक रहता था...एक नायिका के बाद दूसरी नायिका की खोज करता था...और वह किस नायिका की खोज में है ! किसको उसने पाया है, किसको पाना है...

...वह चाँदनी रात के प्रकाश में खँडहर की छाया में खड़ा है, उसे लग रहा है वह एक अतीत युग में पहुँच गया था, वह उसकी अनुभूति से आकुल हो गया है...पर कहाँ, उदयन का युग भिन्न युग था। उस युग की संवेदना को आज अनुभूत सत्य के रूप में नहीं माना जा सकता है...न कहीं उदयन, न कहीं उसकी वासवदत्ता।...केवल वह उस अतीत वैभव-विलास के खँडहर पर खड़ा है और सामने चाँद ऊपर उठ चुका है, और उसके स्निग्ध प्रकाश में चारों ओर काल्पनिक छायाएँ फैल गई हैं, बीच-बीच में पेड़ों की घनी छायाएँ हैं...और इस सारे छायालोक के ऊपर तारे टिमटिमा रहे हैं जो हज़ारों वर्ष पहले इसी प्रकार उस वैभव ऐश्वर्य के विस्तार पर भी चमके होंगे और आज भी उसी निस्पृह भाव से आकाश में हैं।...अब-तब में हज़ारों वर्षों का अन्तर है, पर इस अन्तर के बीच भी एक भावना व्याप्त है, जो असीम भाव से फैली है...न कहीं कोई अन्तर उसमें लगता है...वही भावना उसके मन को अविभूत कर रही है।...उसे लग रहा है, यह आदिम संस्कार है जो देश काल की सीमा से बँधती नहीं, सीमित नहीं होती है...उसके हृदय में वही भावना उद्वेलित हो रही है... उसका मन, उसका प्राण उस भावना के आक्रान्त है...उसकी चेतना उसका अस्तित्व इस संवेदना से आडोलित हो जाती है। उसे लगता है एक तनाव है जो उसको अन्दर ही अन्दर ऐंठ-सा रहा है।

रात में उसने कैम्प में आकर पत्र लिखा...'नीरा आजकल मैं न जाने कैसे तनाव का अनुभव करता हूँ।...मैं समझता हूँ कोई भावना है जिसे देश-काल घेर नहीं पाता, सीमित नहीं कर पाता...चाँदनी में आज अनुभव हुआ जैसे मैं उदयन हूँ, और कौशाम्बी का सारा वैभव ज्यों का त्यों फिर प्रकट हो गया है...मैं वीणा बजा रहा हूँ, वैसे मैं तो बैंजो की दो-चार गतें भर जानता हूँ और वह उदयन वीणा का परम आचार्य माना गया है...पर मैंने अनुभव किया, मेरे मन में उसके सारे संस्कार उभर आये हैं...प्रमदवन में मैं हूँ और घूम रहा हूँ...मेरे मन में जैसे किसी

की आकांक्षा हो...कोई वासवदत्ता।...नहीं नीरा वह मेरे मन का सम्मोह मात्र था। पर जीवन में कहीं कोई ऐसी माँग रही है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, मैंने कितनी बार इस बात का पक्ष लिया होगा, प्रतिपादन किया होगा...पर नीरा, इसका अनुभव कभी किसी हो ऐसा नहीं जानता...लगता है उसी संस्कार ने कहीं से मेरे मन में प्रश्रय पाया है...आज न जाने क्यों मन में यह भाव जाग रहा है, तो मैं इससे भागना चाहता हूँ, लगता है यह मेरे लिये नहीं है, मैं इसके लिये नहीं हूँ।...जो सबके लिये होता है, सामान्य होता है, वह किसी के लिये नहीं भी हो सकता है...और मैं वह ही हूँ, ऐसा मुझे जान पड़ता है। यह मेरे लिये नहीं है, इसके लिये मैं नहीं हूँ...मैं अपने मन के संवेदन के साथ ही, थ्रिल के साथ आतंकित ही होता हूँ, मनमें बेचैनी और उद्विग्नता का अनुभव करता हूँ। मैं इस अनुभूति को झेल नहीं सकूँगा...जाने क्यों यह भाव मेरे मन को शंकित ही करता रहा है।... और तुम कहती हो मैं विवाह क्यों नहीं करता हूँ...विवाह लायक मन की स्थिति मुझे लगती नहीं, विवाह एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है, इसको स्वीकार करना ऐसा सरल नहीं है।...तुम जानती हो मैं जीवन को एक गहन दायित्व के अर्थ में ग्रहण करके चलता रहा हूँ, पर आज मेरे मन में जीवन से न जाने क्यों विरक्ति हो गई है, मैं जीवन से डरने लगा हूँ, उससे भागने लगा हूँ। तुम्हें आश्चर्य होगा, मुझे भी कम आश्चर्य नहीं है...पर मन यह भाव बिना किसी प्रतिबन्ध के ग्रहण कर लेगा, ऐसा मैं नहीं जानता था...मैं अपने मन से अन्ततः पराजित होता जा रहा हूँ, निष्क्रियता घेरती जा रही है और उसने मेरे सारे अन्य भावों को आक्रांत कर लिया है, दबा दिया है...'

...वह एक मास की छुट्टी लेकर फ़ादर पायस के पास पुनः सेण्ट स्टेनिसलॉस आश्रम आया है...फ़ादर ने आजकल अपना निवास-स्थान वहाँ से चार मील दूर आदिवासियों के बीच में बनाया है...वह केवल रविवार को वहाँ जाता है। उसे अकेलापन खल नहीं रहा है, वह

पुस्तकों के बीच अपने को खो देना चाहता है। सन्तों की जीवनियों का वह अध्ययन करता है, वह धार्मिक ग्रंथों का अनुशीलन करता है। वह रामचरित मानस का, गीता का, बाईबिल का, इमीटेशन का एक साथ पाठ करता है।...उसके अन्तर्मन में कहीं धर्म के प्रति गहरा विद्रोह रहा है, रूढ़ि के प्रति परम्पराओं के प्रति उसके मन में कहीं गहरा विद्रोह पनपता रहा है, और उसने धर्म को सबसे कठोर रूढ़ि माना है।...पर वह न जाने क्यों धर्म की ओर तेज़ी से मुड़ा है;...उसके मन में कहीं कोई निष्क्रियता तन्तु बुनती जा रही है, कोई मकड़ी बहुत हल्का बहुत बारीक तन्तु बुन रही है, चारों ओर से बुनती हुई घेरती आ रही है... वह उसी जाला में निरुपाय फँसती जा रही है...मक्खी! उसे लगता है ये तन्तु उसके ही जीवन के हैं, उसके ही प्राणों के रस से बने हैं, पर आज वह इन्हीं के घेरे में फँस रहा है।...वह जो जीवन था, स्पन्दन था, गति थी, आज इन्हीं तन्तुओं के रूप में उसकी निष्क्रियता, जड़ता का, अगति का प्रतीक बन रहा है...वह था, और उसे जीवन की गति का, उसके अस्तित्व का एहसास था, जब उसके मन में विद्रोह के सूत्र थे, वह उसकी शक्ति के सहारे चला जा रहा था, उसके मन का वह बहुत बड़ा बल था...वह अपने ही मन के संघर्ष से यह शक्ति पाता था... पर आज वह भी नहीं जैसे रह गया हो।...फिर क्या रह गया है, यही निष्क्रियता, प्राणों को कसती हुई, जकड़ती हुई स्पन्दनहीनता...और वह इन तन्तुओं को चारों ओर घिरते-फैलते देख कर असहाय हो गया है, निरुपाय हो गया है!...

...फिर वह उसी से लड़ने का प्रयत्न कर रहा है, इस प्रकार आस्था के सहारे विश्वास के नवीन संबल के सहारे।...वह खोजता है कि उसे जीवन का अर्थ मिल सके, उसे जीवन की नयी दिशा मिल सके!...वह इन्हीं सब में अपने को उलझाए रखना चाहता है, वह जीवन की इस फैलती हुई उदासी से एक बार पुनः अपने को बचाने का प्रयत्न कर रहा है...उसे एहसास होता है, उसके पास जीवन का अर्थ

जैसे वहीं रह गया है, और उसे पाना है।...वह किससे कहे, उसके मन की स्थिति कैसी है, वह स्वयं ही कहाँ समझ सका है। फ़ादर के सामने उसने अपने मन की इस स्थिति को रखा भी, पर वह क्या कहे, कैसे कहे, यह साफ़ स्पष्ट नहीं हो सका। फ़ादर ने अपना स्नेह दिया और उसे इधर-उधर की अनेक चर्चाओं में भुलाने का प्रयत्न किया!...पर वह जानता है, यह भूलने से नहीं चलेगा, उसे भुलाना क्या है, वह भूल तो सब कुछ अपने आप रहा है, उसके मन में कैसी-कैसी विरक्ति तो अपने आप विकसित हो रही है, फैल रही है!...पर फ़ादर को लगता है जैसे उसके मनमें कोई विषाद है, दुःख है, करुणा है और उसे भुलानाहै।... नहीं फ़ादर यह ऐसा नहीं है, मैं भूलना नहीं चाहता, मैं तो चाहता हूँ अपने को फिर याद करने लायक हो सकूँ, मैं फिर राग-विराग से उद्वेलित हो सकूँ, मेरी व्याधि ही और है, मेरी व्यथा ही और है,... मुझमें जो व्यथा महसूस करने की शक्ति नष्ट हो गई है, उसे ही तो मैं वापस चाहता हूँ...

...'नीरा, यह क्या हो गया है मुझे...मेरे अंदर कुछ ऐसा घटित हो रहा है, जो मुझे मेरे अस्तित्व से, मेरी चेतना से अलग कर रहा है... बिल्कुल तुम्हारे शरीर का घटित मेरे मन का घटित हो रहा है।...तुम किस प्रकार नीरा अपने को सम्हाले रह सकी हो, इस शरीर की धीरे-धीरे विजड़ित होने वाली निष्क्रियता से...फिर भी, फिर भी नीरा तुमको मैं कहीं मन से निष्क्रिय नहीं पाता, तुम अपने चारों ओर कितनी चिंताएँ, कितनी व्यस्तता बनाये रखती हो...अपनी इतनी बड़ी विवशता के सम्मुख भी तुम दूसरों को कितना दे पाती हो, स्नेह ममता...हाँ सेवा भी, तुम छोटा-सा मौका नहीं खो सकतीं।...नीरा मैं समझता हूँ, मुझे लगता है जैसे मैंने कुछ-कुछ समझ लिया है...तुमने अपने विद्रोह को भी जो आस्थाहीन नहीं होने दिया, विश्वासहीन नहीं बनने दिया है, उसका कारण कुछ आभासित हो रहा है! मैं सारे आस्था और विश्वास के बल को संग्रहीत करके भी अपनी मन की जड़ता को, जीवन की निष्क्रियता को छिन्न नहीं

कर पा रहा हूँ...उस दिन के अविश्वास ने मुझे बल दिया था, क्षणिक उत्साह तो दिया था, पर वह टिक नहीं सका, जीवन की उद्वेगजनक स्थिति के बाद एकाएक मेरे सामने जीवन की निष्क्रियता आविर्भूत हुई है और उससे, उसके सर्वग्रासी चंगुल से कौन बच सकता है। मैं देखता हूँ नीरा, आज के मेरे सारे प्रयास निष्फल ही जा रहे हैं, धर्म, साधना, शांति, मनन-चिन्तन कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं...कहीं से कुछ भी तो नहीं बाँध पाता है!...

'...और तुम हो नीरा जो...तुम कहती हो विवाह करलूँ, मेरे मन की स्थिति का कारण तुम शायद यही समझती हो!...ऐसा मैं भी सोच सकता था, सोचने का प्रयत्न भी किया है मैंने, पर यह ऐसा है नहीं!...मैं अपने आप को देख पाता हूँ, तुम भी स्वीकार करोगी, मैंने अपने आपसे धोखा नहीं खाया है।...नहीं नीरा विवाह नहीं है,...और मुझे तो तुम्हारी बात पर हँसी आती है, तुम आज भी उसी प्रकार सोचती हो, इतना हल्का-सा कारण इस सब का मान लेना चाहती हो... फ़ादर का अपरोच भी ऐसा ही कुछ है। वे मान लेते हैं, गृहस्थी सब ठीक कर देती है, आदमी अपने चारों ओर कर्तव्य का घेरा खींच कर जी सकता है, या अपने आपको किसी विस्तृत कर्तव्य के प्रति समर्पित कर देना होता है। मैं फ़ादर की बात मान भी लेना चाहता हूँ, मुझे लगता है किसी व्यापक कार्यक्षेत्र के लिये अपने आपको उत्सर्ग करना ही शायद मेरा उचित मार्ग हो सकता है...और जो कुछ मैं यहाँ कर रहा हूँ, अपने आपको घेरने के लिये ही...पर नीरा, देखता हूँ, यह सब चल नहीं पा रहा है... मेरे मन की वही निष्क्रियता अधिकाधिक घेरती आ रही है...न मेरे मन में तुलसी का समर्पण उतर रहा है, न गीता का कर्म और न ईसा का अनुकरण ही। एक बार जी अपने आपको कर्म के प्रवाह में डालकर असम्पृक्त भाव से बहते रहने का होता है...पर तब सारे कर्म निष्फल लगने लगते हैं, गति स्थिर जान पड़ती है...केवल एकरस निश्चलता का भाव घेरता आता है...कभी लगता है प्रभु के प्रति सब कुछ समर्पण

करके निश्चित हो जाऊँ...पर इस समर्पण का सारा भाव एक सघन होती उदासी में डूबा जाता है, गहरे सागर में जैसे सारा अस्तित्व विलीन होता जा रहा है, कहीं कोई भावना की पकड़ नहीं रह गई है...और फिर कभी ईसा के पीछे, उनके अनुकरण में मानव पीड़ा का, क्लेशों का, पाप शाप का क्रास ढोकर ले चलने की प्रेरणा मिलती है...खोती हुई अनुभूतियों में सारा क्लेश, पीड़ा, पापशाप अपना अर्थ खो देता है, फिर रह जाता है केवल मन को आक्रान्त करने वाला क्रास का बोझ जो सारी चेतना को कुंठित मात्र करता है...

...घाटी के ऊपर वह चढ़ रहा है, सर्पाकार, गजाकार पहाड़ियाँ पीछे की ओर आ रही हैं, पर पीछे छूटती जाती हैं। वह कभी-कभी मुड़ कर देखता है, नीचे सेण्ट स्टेनिसलॉस की सघनता में झाँकता हुआ गिरजाघर अपनी लाल-लाल टाइल्स में चमक रहा है और फिर सारा विस्तार घना जंगल सा लगता है। वह आगे बढ़ता जा रहा है, सामने का मार्ग ऊँचा उठता जा रहा है, पार्श्व की पहाड़ी चोटियाँ लुका-छिपी खेल रही हैं...पर वह किसी विचार में डूबा हुआ है, उसे इस सौन्दर्य को देखने की सजगता ही नहीं है, वह किसी भावना या विचार में नहीं अपने आप में डूबा हुआ है...जैसे यह सारा प्रसार उसको अपने में निमग्न कर रहा है और वह अवश होकर उसमें खिंचा जा रहा है, फैल रहा है, खो रहा है...फिर दूसरे ही क्षण उसे अनुभव होता है कि सारा दृश्य जगत् उसी में सिमटता आ रहा है, उसके अस्तित्व के साथ एकमेक हो रहा है...पर इस सारी प्रक्रिया में कहीं कोई पकड़ है, संवेदना है, ऐसा भी नहीं, ऐसा उसे नहीं लगता...सब नीरस, सब उदास...उसके मन में यह क्या हो गया है!

पहले यही घाटी उसे कैसी कल्पनाओं से अविभूत करती थी, कितने रंगीन स्वप्न इसमें तैरते रहते थे...वह इनमें नीरा को भी सम्मिलित कर लेता था, यद्यपि उसे ज्ञात था कि नीरा विवश और निरुपाय है। लेकिन वह उन कल्पनाओं में नीरा जीजी को याद करता, उनके लिए

दुःख और वेदना का अनुभव कर लेता था...पर आज की स्थिति बिल्कुल भिन्न है, आज तो उसे नीरा जीजी के क्लेश, उनकी वेदना भी स्पर्श नहीं कर पा रही है।...उसे ज्ञात है कि नीरा की चेतना विजड़ित होते शरीर की बन्दी होती जा रही है और एक दिन वह इस सम्भावना से विचलित हो गया था। उसे लगा था अब क्या होगा, यह तो बीमारी ही नहीं मृत्यु से भी भयावह है...पर आज न जाने क्यों उसे कुछ छूता नहीं, उसे लगता है, उसकी सारी संवेदन की शक्ति कुण्ठित हो गई है, शिथिल होती जा रही है...

प्रकृति में चारों ओर वैसा ही उल्लास, वैसी ही उमंग है, तितलियों का वैसा ही नृत्य है, बीच-बीच में किसी पक्षी का वैसा ही करुण और मार्मिक स्वर सुनाई दे जाता है...नीचे की ओर श्रेणियों का विस्तार फैलता हुआ हरियाली की उठती-गिरती रेखाओं में बिखर गया है...पर उसके मन में उदासी की तरंग जैसे उमड़ती आती है, घेरती आती है:.. उसकी चेतना, उसका अस्तित्व सारा का सारा निरर्थक हो गया है, उसका अर्थ कुछ नहीं है...वह जैसे निरर्थक शून्य में तैरता हुआ घूम रहा है।

...नीरा का पत्र, उसने लिखा है...'भइया, तुमने कहा था, लिखा भी था, जीवन में विद्रोह से शक्ति मिलती है और मैं उसे न मान कर भी एक प्रकार से मान गई हूँ...यह ठीक है कि मैंने विद्रोह पूरे मन से नहीं किया, मेरे मन में आस्था का और विश्वास का संघर्ष चलता रहा है। माँ की मूर्त्ति कभी सामने से हट नहीं सकी और उनके व्यक्तित्व की छाया में अनास्थावान हो पाना कठिन रहा है।...पर मैंने यह जाना है, यह मेरे मन ने ग्रहण किया है कि कोई शक्ति, कोई प्रभु बाहर नहीं है जो हमको हमारी वेदनाओं से, हमारी पीड़ाओं से मुक्त कर सके। ऐसा प्रभु मैं भी कभी नहीं मान सकी हूँ...पापा की याद तुमको होगी कि वे किस प्रकार अपना सब कुछ झेल जाते थे, परन्तु क्या कभी कोई असन्तोष, कोई कुण्ठित होने का भाव उनके मुख पर देखा गया? मैं सोचती हूँ—वह क्या थी आस्था!, कहाँ से वह आत्मविश्वास उनको

त्रास होता था ! उनके लिए कहीं कोई आस्था का आलम्बन बाहर नहीं था, उन्होंने किसी भी प्रभु को, किसी भी भगवान् को स्वीकार नहीं किया...लेकिन मैं सोचती हूँ, आज ही नहीं बहुत दिनों से मेरे मन में यह भाव रहा है कि पापा के अन्तर्मन में प्रभु का कोई भाव विद्यमान है, जिसकी पूजा की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ती, जिसके नाम लेने की आवश्यकता उन्हें नहीं होती...।

'मैं समझ रही हूँ, तुम हँसोगे मेरी बात पर...लेकिन मैं ऐसा मानने लगी हूँ, मुझे ऐसा ही साफ़ लगता है...यदि ऐसा न होता, उनके मन में कोई आधार न होता, तो वे इस प्रकार शांत भाव से ऐसे-ऐसे आघात सह नहीं पाते।...मैं समझती हूँ निगेटिव अनास्था में ऐसा बल नहीं है जो आदमी को उभार सके...मैं कह रही हूँ अपने अन्तर के अनुभव से ही ऐसा कह रही हूँ। आज मैं कह सकती हूँ कि यह मैं अपने अन्तर की कमज़ोरी से ऐसा नहीं कहती, मैंने पिछले डेढ़ वर्ष से गहरा संघर्ष झेला है...मैंने अपने अन्दर बाहर से सब कुछ मिटा देने का प्रयत्न किया है। मैंने प्रभु के प्रति, उनकी आस्था के प्रति विद्रोह किया है...मेरे मन में घोर अश्रद्धा, अविश्वास का तूफ़ान उठा है, उसे मैंने जानबूझ कर रोका भी नहीं...पर मेरे सारे संघर्ष में कहीं कोई कमज़ोरी अवश्य रही है, ऐसा मैं मानूँगी।...सब कुछ झेल कर मैं यही कहूँगी कि जीवन को झेलने के लिए आस्था का सम्बल चाहिए, वह आस्था बाहर से अन्तर्मुखी हो जायगी, वह अपने अन्तरात्मा के प्रति स्फूर्जित हो जायगी; पर रहनी ही होगी, बिना इसके जीवन में जो कुण्ठा जन्म लेती है, जो जड़ता जन्म लेती है, वह सारे कष्टों से, क्लेशों से कहीं अधिक भयावह, कठोर होगी...लेकिन मैंने स्वयं अनुभव किया है भइया...यह अन्तर्मुखी आस्था, आत्मविश्वास इस विद्रोह से और बाहर के प्रभु को अस्वीकार करने से ही मिलता है...यह भी ठीक है और यह आस्था का रूप आदमी को...'

...उसके सामने पत्र की पंक्तियाँ निकलती जाती हैं और साथ ही

उसके मन में कहीं से कोई प्रकाश की किरण प्रवेश करती है, उसकी उष्णता से मन की निष्क्रियता में सञ्चलन आता है...चारों ओर प्रकृति में हवा का एक झोंका आकर निकल जाता है...उसे जान पड़ता, पहाड़ी शिखर उसकी ओर कोई संकेत कर रहे हैं, ढाल के झूमते हुए वृक्ष उसको अपनी ओर आमंत्रित कर रहे हैं...उसे याद आ रहा है, उसके पास भाभी का पत्र कल ही आया है—'नरेश भइया, तुमको सदा हमने लड़के के समान माना है। जब मैं आई, तुम बहुत बच्चे थे... इस तरह कैसे चलेगा भइया, तुम दुनिया से अलग बात कब तक चला-ओगे...आख़िर कोई कारण भी हो...मैं कहती हूँ तुम सोच लो और निर्णय कर लो...विवाह की एक अवस्था होती है, एक समय होता है, उसके बीत जाने के बाद उसका मज़ा ही क्या ?...एक बात और है, अभी लोग आते हैं, देख-सुन लेने में सुविधा है...तुम्हारी अवस्था वैसे भी कम नहीं है, तीस-बत्तीस की अवस्था कम नहीं होती। वह तो कहो आजकल का चलन कुछ बदल गया है, इसको बहुत देर नहीं माना जाता...यह लड़की मुझे बहुत पसन्द है, सुन्दर लड़कियों की कमी नहीं है, लेकिन स्वभाव, गुण, शील के सम्बन्ध में जानकारी कठिन बात है... मैं समझती हूँ कि तुमने उसे देखा भी होगा और मैं कहती हूँ तुम हज़ारीबाग से जाते समय इधर होकर ही जाना, फिर हम बात विस्तार से कर लेंगे...लड़की को यहीं बुलाया जा सकता है। हाँ, तुम कहोगे कि मैंने देख लिया तो फिर देखना क्या है ? यह ठीक है, पर तुम ख़ुद ही देख लेना, अपनी-अपनी आँख होती है, अपनी-अपनी रुचि होती है।...ख़ैर ये दूर की बातें हैं, पहले तुम विवाह के लिए तैयार तो हो...लड़कियाँ तो जैसी रुचे वैसी ही मिल जायँगी।...तुमने नये बेबी को भी नहीं देखा, उसे भी देख लेना। अरे भाई, उसका कुछ नाम भी तुमने नहीं रखा, तुम्हारे भइया कहते हैं कि नरेश ही नाम रखेगा, उसने सब के नाम रखे हैं।'

उसे भासित होता है कि जिस विस्तार का प्रकृति में उसने अनुभव

किया था, उसमें फिर जड़ता आ रही है, निश्चल हो रही है वह...नीरा, उसके जीवन का क्या होगा, उसके इस अपंग जीवन का क्या होगा। उसने कितना सहा है, श्याम विवाह करके एक प्रकार से अपने ही परिवार से अलग हो गया है...यह नहीं कि वह नीरा को स्नेह न करता हो, पर परिस्थिति की विवशता कोई चीज़ होती है। बड़ी बुआ अपने हृदय से लगाए उसे रक्षित रखेंगी, भरसक उसकी सेवा-सुश्रूसा में बाधा न आने देंगी...पर यह कब तक चल सकेगा, बुआ की छत्रछाया कब तक उस पर रह सकेगी...लेकिन नीरा का ही क्या ठीक ! वह धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है...पर डाक्टरों का कहना है, वह इस प्रकार काफ़ी लम्बे अरसे तक चल सकती है। नीरा के जीवन में यह अभिशाप विस्तृत ही होता गया है, उसे कहीं चैन नहीं, उसकी विवशताओं का कोई अन्त नहीं।...वह घाटी के दूसरी ओर के उतार से आगे बढ़ गया है और उस ओर के समतल पर आगे आकर अन्तिम शिखर की उपत्यका की ओर अनजान मुड़ गया है...वह आज इस घिरी हुई उपत्यका में कुछ समय बिताना चाहता है...इस ओर अकेले जाना बहुत रक्षित नहीं है, पर उसके मन मे इस प्रकार के तर्क-वितर्क के लिए चेतना शेष नहीं है।...

और नीरा के मन में कहीं आस्था का वह स्रोत है जिससे वह पराजित नहीं होती, उसे पीड़ाओं से जूझने की शक्ति मिलती है...उसने किस आन्तरिक आस्था की बात कही है ? यह आत्मविश्वास ही है, जो मनुष्य को विद्रोही बनाता है, प्रभु की भावना के प्रति, उसकी पूजा और उसके समर्पण के प्रति अविश्वासी बनाता है...यह अन्तर के देवता की बात कहाँ से बीच में आ जाती है...उसे लगता है यह समझौता है, यह कमज़ोरी है...नीरा बुआ के व्यक्तित्व से मुक्त नहीं हो सकी है... शायद इस स्थिति में सम्भव भी न हो !...लेकिन उन दिनों जिस अस्थिरता के लक्षण, व्याकुलता के लक्षण जोरों में प्रकट हुए थे, उनका शमन हुआ है, इसमें सन्देह नहीं ! उसने कुछ पाया है, उसने कोई अनुभूत सत्य ग्रहण किया है...पर वह क्या है ?...उपत्यका चारों ओर से घिर

चुकी है, उसके बाईं ओर ऊँची पहाड़ी है और चारों ओर से घेरती हुई-सी एक पहाड़ी शृङ्खला दाहिनी ओर आ गई है...पर इन दोनों पहाड़ियों के बीच में एक फैला-सा रास्ता आर-पार तक चला गया है, जिसने उन दोनों पहाड़ियों को एक प्रकार से अलग कर दिया है...उसके अन्दर प्रवेश करते ही लगता है वह चारों ओर से घिर गया है...वह किसी अज्ञात लोक में घिर गया है, इन पहाड़ियों ने उसे घेरना प्रारम्भ किया है, और घेरती ही जा रही हैं...चारों ओर की हरियाली उसे आच्छादित करती आ रही है...इस रहस्यलोक से वह मुक्त नहीं हो सकेगा...सूरज काफ़ी ऊपर आ चुका है, वह थक गया है।...वह सारे रास्ते भूल चुका है, उसे यह भी विस्मृत हो चुका है कि वह कहाँ से आया है और कहाँ उसे जाना है...वह एक ऊँचे से पाषाण खण्ड पर बैठा है और उस रहस्य में डूबता जाता है...

...भाभी का पत्र...'विवाह करना है, और उसका अवसर जीवन में इस रूप में बार-बार नहीं आता...लड़की देखी अवश्य होगी, फिर भी तुम एक बार देख लो, मैं अपने ऊपर लेना नहीं चाहूँगी...' वह क्या करेगा किसी को देख कर, उसे क्या विवाह करना है, उसे क्या इस बन्धन में फँसना है?...उसे याद आता है...नीरा कहती है...'भइया, इस बन्धन में आदमी को सोच-समझ कर बँधना चाहिए, हो सकता है इसके बिना जैसा तुम कहते हो, आदमी अपूर्ण रह जाता हो, पर, पर अनचाहे बन्धन स्वीकार कर लेने से आदमी पूरा खो भी जाता है'...वह क्या सोचे-समझे, उसे समझ नहीं कि वह इस स्थिति में है कि विचार सके!...वह ठीक है, जैसा है वैसा ही ठीक है, पूर्णता का प्रश्न! वह कहता था—'नीरा, जीवन बहुत कुछ अपनी गति में आदमी को ढाल लेता है, इतना सोचना-समझना भी किस काम का, फिर भी हम कितना सोच सकते हैं, अज्ञात से—अपरिहार्य से टक्कर लेनी ही होगी!'...आज उसके तर्क अपने ही प्रति नहीं चल रहे हैं। वह उनकी याद करता है जैसे किसी अन्य की याद कर रहा है...विवाह करना चाहिए, वह जीवन

की बड़ी माँग है, जैसे उसे जान पड़ता किसी अन्य अपरिचित व्यक्ति का स्लोगन हो, जिसमें कहीं कोई पकड़ शेष नहीं रह गई हो !...नीरा कहती है, भाभी कहती हैं...अब विवाह उसे करना चाहिए ! यह अब क्या अर्थ रखता है...यह पहले क्यों नहीं आया, या अब यह इतना अनिवार्य बन कर क्यों आ गया है...वह तीस से अधिक का हो गया है। इस दृष्टि से प्रचलित के अनुसार इस अब को कितने पहले आ जाना चाहिए था !...पर...यह मेरे मन की स्थिति कैसी हो गई है, होती जा रही है...नीरा क्या देखती है इसमें, भाभी ने भी कुछ देख पाया है...और उसे तो केवल लगता है, जैसे उसके जीवन का अर्थ कहीं विलीन हो गया है, उसके मन में कहीं से कोई प्रेरणा का स्रोत नहीं उमड़ता, प्रवाहित नहीं होता !...क्या जीवन एक स्थिति के बाद ऐसा ही सुस्थिर शांत हो जाता है और उसकी वास्तविक गति यही है...यह ऐसा भी नहीं लगता है...यह ऐसा भी कहाँ है !

...नीरा का शरीर निष्क्रिय होता जा रहा है, उसने स्वयं इसका कितना प्रत्यक्ष वर्णन किया है...'भइया, मुझे लगता है, जैसे मेरे शरीर की एक-एक संवेदना टूट कर बिखरती जाती हो, मेरे मन के एक-एक तार टूट कर मेरी चेतना के स्वर को असंवादी बनाते जा रहे हों: क्रमशः एक के बाद एक मेरे अंग मुझे उत्तर देते जा रहे हैं, जैसे योद्धा के एक-एक अस्त्र-शस्त्र बेकार होते जा रहे हैं।...पर भइया, मेरी जीवन की इच्छा नष्ट नहीं हुई है, मेरा अस्तित्व का प्रसार अब भी उसी प्रकार फैला हुआ है...एक बार अवश्य लगा था, उसमें बहुत जोर का ज्वार आया है, और उससे सँभल पाना सम्भव न हो सकेगा, विद्रोह की उस भावना के साथ ऐसा भी लगा था कि जीवन के सारे सूत्र मैं तोड़ कर फेंक दूँगी, मैं सारी संवेदना, सारी चेतना, सारे अस्तित्व से एक साथ मुक्त हो सकूँगी...और उस विद्रोह में विजय की भावना का आवेश था। एक प्रकार से उसमें मेरे मन का गर्व था, अनिवार्य के प्रति, इनएविटेबिल के प्रति चुनौती थी !'

...पर यह बाद में नीरा के जीवन में क्या आया जिसने उसे एक दम शांत कर दिया और उसने आत्मसमर्पण कर दिया, क्या उसका वह सङ्घर्ष अधिक गौरवमय न होता ? क्या उसे वह अपनी विजय नहीं मान सकती थी ?...और आज वह उस स्थिर विजड़ित होती भावना के प्रति मौन है, उसने जैसे संधि कर ली हो...आख़िर किस लाभ के लिए उसने यह संधि की है, उसे क्या पाना है जीवन से, इस जीवन से ! नीरा उसके जीवन की एक ऐसी पहेली रही है जिसे उसने सबसे अधिक समझा है, और जिसे शायद वह सबसे कम समझ सका है... यही नहीं, कभी माना गया कि नीरा उससे प्रभावित है, उसकी बात मानती है और नीरा ने कभी उसकी जैसी बात की है, यह उसे याद नहीं...हाँ, उसने उसकी बात बड़े मनोयोग से सुनी है, उससे तर्क किया है, उसकी बात सुनने का आग्रह प्रकट किया...

उसे लगा जैसे ट्रेन रुक गई हो, एकाएक उसके सामने एक प्लेट-फ़ार्म प्रकट हो गया, चपटा समतल फैला हुआ—सांगानेर का स्टेशन... उसका परिचित स्टेशन, उसे आभास भी न मिल सका वह यहाँ पहुँच गया है। उसके विचार क्रम में बाधा पहुँची, उसकी भावना के प्रवेग में धक्का लगा।...वह उस स्टेशन पर अधिक कुछ देख नहीं सका, केवल कुछ साफ़ों के रंग और कुछ रंगीन लहगे और घाँघरे...चढ़ने-उतरनेवालों का उत्साह भी नहीं रह गया है...प्लेटफ़ार्म बहुत शांत है, कुछ मिनट इसी शान्ति के दबाव में बीत गये और ट्रेन धीरे-धीरे आगे बढ़ी !... उसे अनुभव होता है जैसे ट्रेन बेमन से आगे बढ़ रही हो, उसकी गति में उदासी परिव्याप्त हो, उसे चलना अभी न रहा हो !...रेल का विस्तार एक सीमा तक फैलता हुआ चला गया है, उसी के सिरे पर एक पहाड़ी अदृश्य-सी उभर रही है...वह समझ रहा है, यह अदृश्य-सी पहाड़ी श्रृङ्खला धीरे-धीरे उभरेगी, सामने आते-आते ट्रेन बहुत दूर से चक्कर लगाती घूमती हुई उसे एक ओर छोड़ कर जैपुर की ओर पहुँच

जायेगी, बिना इस पहाड़ी को स्पर्श किये ही।...ट्रेन धीरे-धीरे गति में आ रही है, बिना किसी उत्साह के भी, बिना किसी प्रेरणा के भी !

...वह सोचता है, नीरा से वह मिलेगा, नीरा उसकी प्रतीक्षा में होगी...उसका तार दस बजे के आस-पास पहुँच गया होगा और तभी से सभी लोग उसकी प्रतीक्षा में होंगे। नीरा शायद एक क्षण उसे भूल न सकी हो, ऐसा ही हुआ है...उस दिन जब वह प्रथम बार, जैपुर आने के बाद वापस आ रहा था, नीरा कितनी उत्सुक थी...उसने कहा था कि उल्लास में वह रात भर ठीक सो नहीं सकी, न जाने कैसी-कैसी कल्पनाओं में रात बीत गई, और वह बार-बार यही सोचती रही कि भइया अब अछनेरा, अब भरतपुर, अब बाँदीकुई, और अब दौसा, सांगानेर पहुँच गये होंगे...और क्या उस दिन उसने भी की थी प्रतीक्षा ? क्या उसके मन में भी वही उत्सुकता थी ? कई बार वह ट्रेन में जगा था, और उसके सामने नीरा के पत्र खुल गये थे, उनमें उसने न जाने कितनी ममता, कितना स्नेह पाया था कि प्रति बार वह अधिक ही गहरी अनुभूति ग्रहण करता है...'नरेश भइया, यह ऐसा क्यों लगता है, किसी के लिए मन में इतना आग्रह होता है...श्याम की याद मुझे कम नहीं आती, पर भइया तुम्हारी याद न जाने कहाँ स्पर्श करती है'... वह आज सोचना चाहता है, इन पत्रों में क्या था, इनकी भावना क्या थी, नीरा क्या आज इस प्रकार सोच सकती है ? जीवन की इस विडम्बना ने उसे इस योग्य क्या रखा है ? उन दिनों में कोई ऐसी ख़ास बात भी नहीं है, केवल एक बहुत मीठी मधुर सुधि है जो उन दिनों की अपनी है...और यही है जो उनके इस लम्बे सम्बन्ध पर भी फैली है...ममता, सहानुभूति, स्नेह, दया न जाने कितने भावों के रूप में...नीरा की बीमारी, उसकी पीड़ाओं की निरन्तर बढ़ती हुई कथा, उसकी व्यथा, और सबके ऊपर उसके जीवन की धीरे-धीरे करके विजड़ित होती हुई चेतना, अंग-अंग करके एक-एक पेशी के साथ...

कितना दयनीय रहा है यह सब, कितना असह्य रहा है उसके लिए, पर नीरा ने सहा है, उसने अपने आपको कभी क्या दयनीय बनने दिया है ?...

...वह फिर उसी उपत्यका में है...सूरज कुछ तिरछा आ गया है, पर वह वैसा ही बैठा है, हवा के झोंके सामने की पहाड़ी के वृक्षों को अपने थपेड़ों से झिमा रहे हैं, पास की हरियाली पर तितलियाँ अनेक रंगों में नाच रही हैं, चारों ओर कुंज ही कुंज जान पड़ते हैं पत्थर के टीलों पर ये सघन कुंज और भी ऊँचे हो गये हैं...करौंदे की तेज गंध गमक रही है, उसे लग रहा है जैसे यह उसके मन में, चेतना में प्रवेश कर रही है...उसके मन में यह वाक्य उभर कर जैसे फैल जाता है---'नहीं, भइया, इस बार तुम निकल नहीं सकते, भाभी का कहना मानना ही पड़ेगा...मैं नहीं सह सकूँगी तुम्हारा इस प्रकार रहना...बस समझ लो यह मेरी एक ज़िद है जिसे तुम्हें मानना ही होगा...उनका कहना है, लड़की तुम्हारी देखी है और तुम क्यों देख नहीं लेते ! करलो...मेरा कुछ ठीक नहीं, मैं भी देख लूँ तुम्हारी बहू !'...यह क्यों ऐसा है कि नीरा का हठ मान ही लिया जाय...उसने क्यों उसे इस प्रकार लिखा है ?...

...हवा चल रही है...करौंदे की गंध मन में बैठी जा रही है... उसके चारों ओर उपत्यका है जो न जाने किस रहस्य से घिरी लगती है, वह किसी गहरे स्थल पर है और चारों ओर घाटी उठती हुई घिर गई है...और वह उठता हुआ घेरा केवल हरियाली ही हरियाली से लहरा रहा है, जिस पर रंग-बिरंगी तितलियों के साथ न जाने कैसे स्वर तैर रहे हैं...और उन सब के ऊपर है, वह मन को अविभूत करती हुई गंध !... थोड़ी देर के लिए वह भूल जाता है, उसे कुछ भी याद नहीं रह जाता है...वह किसी अप्सरा लोक में है...उसे कोई अप्सरा यहाँ उठा ले आई हो और अब वह उसी अप्सरा की प्रतीक्षा कर रहा हो ! उसके मन में कहीं से कोई कम्पन उठता है, उसकी चेतना पर फैल

जाता है, वह एक सिहरन से अविभूत होता है...। रहस्य का वातावरण, सौंदर्य के रूप-रंग, ध्वनि, गंध सब उसके मन को किसी अज्ञात लोक की ओर खींच रहे हैं...वह कौतूहल की भावना से उत्कंठित है...और तभी उसे लगता है वह अप्सरा पर्वत श्रेणी से उतर रही हो, वह शिखर से हरियाली के ऊपर तैरती हुई नीचे आ रही है...कौन है यह? यह तो वही है, क्या यह ऐसी है? क्या भाभी का कहना ठीक है? मैंने उसे देखा है!...गंध महमहा उठती है, और वह अप्सरा आगे बढ़ती आ रही है, आगे नीचे की ओर उतरती आ रही है।...वह मौन बैठा है, उसकी संवेदना विजड़ित हो रही है। वह है कि उसी के आगे आ रही है, लगता है, उससे मुक्ति नहीं, उसके पास से छूट सकने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि उसका मन ही अपने वश में नहीं है, उस पर उसका अधिकार नहीं रह गया है...

और नीरा, नीरा...क्षण भर में वह अप्सरा नीरा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, उसका सारा आकर्षण, उसका सारा सौंदर्य क्षण भर में बदल जाता है...यह नीरा आ रही है—हारी, थकी, विपन्न, उदास, क्षीण शरीर केवल उसके मुख का वह पहले वाला भाव शेष रह गया है...सहज जिज्ञासा, सहज प्रश्न जैसा...यही भाव है जो प्रथम दिन उसने जैपुर के स्टेशन पर नीरा के मुख पर देखा था।...वह चली आ रही है उसकी ओर, कितनी करुणा उसकी गति में है, कितनी पीड़ा उसकी चाल से व्यक्त होती है...पर नहीं उसके मुख का यह भाव नहीं है, वह करुण नहीं है, दयनीय नहीं है...उसके मन में उसके प्रति आज करुणा जाग रही है, उसके मन में दया का स्रोत जैसे उमड़ने ही वाला हो, उसका मन अविभूत हो रहा हो...पर यह क्या नीरा उसकी ओर नहीं आ रही है, वह तो शिखर की ओर की किसी गहरी घाटी की ओर मुड़ गई है, वह उसकी ओर देख भी नहीं रही है, उसके मुख का एक अंश उसकी ओर है, पर वह उसकी ओर देखती नहीं है...उसकी गति में दृढ़ता है; उसकी भंगिमा में न जाने कैसा संकल्प है...

...यह क्या ?...यह अप्सरा तो फिर उसी की ओर आ रही है, उसका मुख पहले से अधिक आकर्षक है, उसकी भंगिमा में पहले से अधिक आमन्त्रण है। यही युवती उसकी ओर, उसके जीवन की ओर बढ़ रही है...वह अनुभव करता है, वह अनजान ही समझ रहा है कि यह आकर्षण है जो उसके मन में नहीं, उसकी चेतना में भी गहरे उतर रहा है। उसे याद आ रही है...घाटी मिट चुकी है, उपत्यका का कहीं अवशेष नहीं रह गया है...वह ड्राइंग रूम में बैठा है और उसकी भाभी के साथ एक युवती है...और यह मायाविनी वही उपत्यका वाली अप्सरा है...वह अपने अस्तित्व से, चेतना से डूबता जा रहा है, सब कुछ उसका पिछला उसमें खोता जा रहा है, वह भी किसी विवशता से, किसी असमर्थता की स्थिति में...पर यह कैसी मजबूरी है ?..."

ट्रेन दौड़ रही है, उसकी गति में कोई सम है, कोई ताल है, संगीत की कोई कड़ी है जो इस युवक की चेतना को हिलने नहीं देती, अस्तित्व में कोई तरंग उठने नहीं देती...वह उससे सम स्थापित किये हुए अपने आप में लीन है...एक्सप्रेस भागती हुई इस पहाड़ी में प्रवेश करने की चिन्ता में है कि सन्ध्या होने वाली ही है और वह कहीं इस रेत के मैदान में अपना रात्रि के लिए आवास पा ले...पर यह कैसी विडम्बना है उसकी...

डाक्टर अंकिल चले गये हैं, वे न जाने क्यों आज मुक्त भाव से हँसा नहीं पाये अपने रोगी को...डाक्टर अंकिल मान कर चलते हैं कि डाक्टर का कर्तव्य है कि वह अपने रोगी को प्रफुल्लित रखे और उनकी दृष्टि में सारा संसार रोगी है—'हाँ, नीरा बाई तुम सच मानो हम सब रोगी हैं...आइडिया ऑव परफ़ेक्ट हेल्थ यूज़ आइदर एन अबस्ट्रक्ट रिआल्टी आर ए मेडिकल एल्युज़न...और दोनों हालतों में नीरा, इसको पाना ब्रह्म जैसा ही समझो...सो वी आर आल सिक परसन्स...मैं हँसता ही रहना चाहता हूँ, इसीलिए, सबको थोड़ी राहत चाहिए और मैं डाक्टर हूँ, कुछ नहीं कर सकता तो इतना तो करूँ ही।'...वह हँसना-हँसाना इसी धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं...ऐसी बात नहीं कि अंकिल अपना कर्तव्य आज निभाना भूल गये हों—'आरती बाई, तुमने वह ज़ू वाला रेनासरस, क्या कहते हैं उसको...भाई मैं तो उसको मानता हूँ, वह है जीवन का परफ़ेक्शन...यह आदमी को क्रियेशन का परफ़ेक्शन मानने वाले पक्षपात करते हैं और सच तो है कि अपने मुँह मियां मिट्ठू वाली कहावत है...नहीं तो जीवन का आदर्श तो यह रेनासरस ही है...देखा है तुमने नीरा बाई?...एकदम परफ़ेक्ट, साकार परफ़ेक्शन, मोटा धुत, गति का पूरा निगेशन, स्थिरता कभी इस रूप में मैंने तो देखी नहीं... पहाड़...अरे हिश पहाड़ तो निर्जीव है, जीवन के साथ बताओ। मैं जानती हो क्या मौलिक सिद्धान्त मानने लगा हूँ—गति की तीव्रता क्रियेशन की आदिम अवस्था थी और ज्यों-ज्यों विकास होता गया है जीवन में स्थिरता आती गई है...पर मेरी बात का सत्य तभी भली-भाँति समझ में आ सकता है, जब सामने वही रेनासरस हो...उसकी चिकनी

मांसलाकार देह और आलस्य का पूर्ण सन्तुलन कैसा अद्भुत लगता है।...और आरती बाई, इतना ही नहीं है मेरा सिद्धान्त। फिर डाक्टरी का इससे क्या सम्बन्ध होगा? मैं विकास का एक और मानदण्ड मानता हूँ...पूर्णावस्था में बीमारी की कल्पना कम से कम होती जानी चाहिए और इस जानवर को, खैर जानवर कहना उसका अपमान है, रोग देखकर भाग जरूर जायँगे...तुमने सुना है न यमराज की सवारी भैंसा है...ऐसी बात नहीं है, भैंसा तो न पहचानने के कारण कहा गया है, सवारी असली यही है...'

इस प्रकार डाक्टर अंकिल ने हँसाना चाहा और वे सब हँसे भी... पर ऐसा लगता रहा जैसे इस सबके पीछे कहीं प्रयत्न हो, एक-दूसरे से कुछ छिपाए रहने की बात हो। डाक्टर अंकिल चले गये। उनके बाद एकाएक वह गम्भीर वातावरण फिर ज्यों का त्यों छा गया, वरन् अधिक सघनता के साथ, अधिक गहराई के साथ...नीरा ने देखा आरती हँसते-हँसते जैसे शंकित हो गई, जैसे उसने कोई अपराध किया हो। माँ की मुद्रा पर बरबस जो स्मित की रेखा उभरी थी वह जादू की तरह विलीन हो गई...नीरा ने अनुभव किया कि वातावरण ने उस हल्की क्षीण उल्लास की तरंग को एकदम पी लिया है, मानो निर्ममता से सोख लिया हो!

...उसने देखा दिवाल पर सामने पापा की तस्वीर मुस्करा रही है, लगता है वे आज इस स्थिति पर यथावत मुस्करा रहे हैं...इस सारे रहस्य के वातावरण में वे ही एक हैं जो सब कुछ समझकर मुस्कराते हैं...वे कहना चाहते हों जैसे मैं समझता हूँ, तुम सबकी लुकाछिपी मुझसे छिपी नहीं है...पर उनकी मुस्कान में भी एक व्यंग है, एक वेदना का क्लेश का व्यंग है जिसे वे भी सबसे छिपाना चाहते हों! वह नहीं सह पायेगी इस स्थिति को, इस वातावरण को!...उसने दृष्टि हटा ली और घड़ी को देखने लगी, कितना समय हुआ है! यह समय इसका माप उसके लिये न जाने कितने लम्बे समय से समाप्त हो गया है...समय की माप

होती है, हमारे ही कार्यक्रम में, हमारे ही जीवन के विरामों से जो उसकी गति के मापक हैं...पर नीरा के जीवन में कौन सी गति है जो विरामों में मापी जा सकती है ! खट-खट, टिक-टिक घड़ी चलती रहती है, उसमें भी क्या कोई गति रह गई है, वह तो उसकी एकतान एकरस क्रिया है जो जड़ता से अधिक बोझिल निष्क्रिय और आक्रामक जान पड़ती है।... समय है उसका व्यापक और पारे जैसे बोझिल होकर फैला हुआ जिसको भुलाये रखना ही अधिक सह्य रहता है!...पाँच बज चुके हैं। आज इसकी गति में कहीं कोई अर्थ उसे लग रहा है, किसी की, नरेश भइया की प्रतीक्षा में उसे घड़ी की चाल में कहीं अर्थ की भूली हुई व्यंजना प्रत्यक्ष लगती है ! ट्रेन सांगानेर के आगे बढ़ चुकी होगी, जैपुर की ओर बढ़ रही होगी ! अब भइया कुछ समय में उसके पास होंगे ! भइया,... वे क्या मुझसे मिलने के लिए, मुझको देखने के लिए उत्सुक होंगे !... भइया उत्सुक क्यों नहीं होंगे, नहीं वे इस प्रकार चल क्यों पड़ते... पर...

...पर क्या वे अपनी उस नवविवाहिता को इस प्रकार छोड़ कर मुझे देखने आ रहे हैं, यह उचित किया है उन्होंने। माँ को आश्चर्य है, उनकी वाणी से लगा है कि कहीं कुछ अनुचित जैसा हुआ ! क्यों ऐसा है,...वह अब अधिक दिन नहीं चल सकती ! उसकी सारी चेतना डूबती जा रही है, वह केवल अस्तित्व के माध्यम से जी रही है, फिर क्यों नहीं भइया को उसे देखने आना चाहिए था ! बहू, ठीक है, बहू के साथ भइया का रहना अपेक्षित था, विवाह के बाद।...पर मैं कहाँ रोक पाऊँगी उन्हें। वे बहू के हैं, उसके होकर रहेंगे ...प्रभु उनको चिरायु करें, सुखी रखें...मेरा क्या ? मैं क्या सदा बाधा हो सकती हूँ...फिर माँ क्यों किंचित चिन्तित हुईं, मैंने भी क्यों संकोच किया ! मैं भइया को मुक्त मन से बुला क्यों नहीं सकी ! मेरा अधिकार, मैं क्या इतने से अधिकार की मांग नहीं कर सकती...फिर भइया बहू को क्यों नहीं ला रहे हैं, ला सकते थे ! लाना चाहिए था !...नहीं अच्छा किया जो उसे

नहीं लाये, मैं अन्तिम समय उसे क्या स्नेह, ममत्व दे पाती, जो भाव उसके मन में उमड़ रहे हैं, जो भाव उसके मन में छा रहे हैं...सम्भव है भइया के मन में मेरी स्थिति से कुछ आवेग ही उत्पन्न हो...वे उस स्थिति में अपने को कहाँ तक रोक सकेंगे, क्या कहा जा सकता है... कितनी ममता, कितना स्नेह उन्होंने दिया है...और फिर उस नई बहू को कौन देख पाता, माँ पर कर्तव्य का भार पड़ता, वे इस मनःस्थिति में उसे किस प्रकार ढोतीं...यह अच्छा ही हुआ...बहू अभी नई है, हमको उसने जाना ही क्या है ?

सामने की खिड़की से नीरा ने देखा...सारी की सारी पहाड़ी छाया में निमग्न हो चुकी है, शिखर की धूप न जाने कहाँ अदृश्य हो गई है...दृश्य भी धुँधला होने लगा है...पहाड़ी शिलाएँ अपना रूपाकार खो रही हैं, दूर के वृक्ष भी धुँधले हो चुके हैं और लगता है छायाओं में बदलनेवाले हैं...नीरा चौंक-सी जाती है, यह क्या है, जीवन का दृश्य कहाँ मिटा जा रहा है ? इसी तरह बिल्कुल इसी तरह उसका जीवन भी किसी छाया से आच्छादित हो रहा है, उसी में अपना रूपाकार खो रहा है...उसका आभास उसे हो रहा है, वह इसका अनुभव कर रही है... जैसे उसके सामने ही उसका जीवन धुँधला होता हुआ मिटा जा रहा है।...पर यह कौन है जो अदृश्य होती हुई उसका पीछा कर रहा है, अनुसरण कर रहा है...कौन है जो उसे इस विलीन होने की स्थिति में भी घेर रहा है...व्यर्थ है, यह प्रयत्न निरर्थक होगा, लौट जाओ, वापस जाओ...इस मिटती हुई छाया को नहीं पा सकोगे पथिक। यह अदृश्य होने के लिये ही है। इसकी माया में मरीचिका में न भटको...यह तो केवल छाया है।...तुम कहते हो इस घाटी में न जाने कितने युगों से भटकते रहे हो ! ऐसा ही है, मैं भी तुम्हारे लिये कम नहीं भटकी हूँ... तुम तब मुझे केवल अनुसरण करनेवाली छाया जान पड़ते थे और मैं केवल चौंक-चौंक पड़ती थी तुम्हारी आहट पाकर, पर कभी पहचान

नहीं सकी...तुम साथ-साथ डोलते रहे और मैं पहचान नहीं सकी कि तुम हो...फिर तुमने भी क्यों नहीं पहचाना !...क्या कहा—'तुम मेरी छाया ही रहे, इसी कारण पाकर भी न पा सके, लगे रह कर भी साथ-साथ चल भर सके।...

...यह कैसी विडम्बना लग रही है, जीवन में कुछ सदा साथ रह कर भी अपरिचित रहा ! पास रह कर भी अज्ञात रहा ! कैसा है !... नरेश ने भी लिखा था जीवन में महसूस होता है कि कुछ ऐसा भी रह जाता है जो अनजान ही खो जाता है, हम उसे तब जान पाते हैं, जब वह हमारे लिये मात्र छाया का आभास रह जाता है...नीरा, आदमी के जीवन में कुछ गहरी माँगें होती हैं, उनको कोई आज तक झुठला नहीं सका, उनको हज़ार बार अस्वीकार कर दो, उनसे नकार जाओ पर वे जीवन के हर मोड़ पर रास्ता रोक कर खड़ी हो जाती हैं...धर्म ने, साधना ने, ऊँचे से ऊँचे आध्यात्मिक सत्य ने उसे आदमी से अलग नहीं कर पाया है ! मैं जहाँ से यह बात कह रहा हूँ, तुम जानती हो वहाँ से बात कुछ अधिक अधिकारपूर्वक ही कह पा रहा हूँ। सब ने कहा है आदमी को अपनी इच्छाओं को, अपनी कामनाओं को, वासनाओं को त्याग देना होगा, अपनी आकांक्षाओं को मिटाना होगा...पर जीवन ने इन बड़ी से बड़ी चुनौतियों को स्वीकार किया है...जीवन अपने को दाँव पर हार जाना नहीं चाहता। इस प्रकार उनकी अस्वीकृति जीवन की ही अस्वीकृति है...अस्तित्व उगता है, ग्रो करता है, उसका प्रत्येक क्षण इसी से सार्थक होता है, चेतना की अनुभूति सबसे बड़ी सार्थकता है... तुमने जिसका अनुभव किया है वह जीवन इसी आकांक्षा से भिन्न अलग कुछ नहीं है...बीमारी, पीड़ाएँ, क्लेश मैं समझता रहा था कि आदमी को भिन्न वर्ग का बना देती हैं, इस स्थिति में आदमी के जीवन का अर्थ है केवल लड़ने में,...मैं आज तक इसी भ्रम में था, पर तुम्हारी बात कुछ समझ रहा हूँ, तुम्हारी इस नई लगनेवाली पीड़ा का अर्थ मैं कुछ समझ सका हूँ...

आरती ने बहुत धीरे से नीरा को पुकारा, उसने देखा आरती खड़ी है और उसके हाथ में एक टेबिलेट है---'जीजी' डाक्टर अंकिल ने भेजी है। नीरा की भंगिमा से उसने कुछ ग्रहण कर उत्तर दिया—'जीजी, अंकिल का कहना है कि तुम कमज़ोर बेहद हो रही हो !...रात में एक इंजेक्शन वे देने आएँगे। नीरा जानती है, यहाँ तर्क नहीं चल सकता, विवशता मान कर ही चला जा सकता है...दूसरे क्षण उसके मन में यह भाव भी आया —नरेश भइया आएँगे। यह ऐसा क्योंकि टेबिलेट खानी है, नरेश भइया से इसका क्या सम्बन्ध ! नहीं-नहीं यह ऐसा नहीं है, जीवन की एक हलकी बहुत हल्की तरंग उठकर फैल गई है, इससे अलग इसका कोई अर्थ नहीं है। ऐसा भी अर्थ ऐसी अनुभूति न जाने कितने वर्षों बाद उसने अनुभव की है...इस क्षण भर की अनुभूति ने उसके सारे अस्तित्व को, अन्ततम को झकझोर दिया हो जैसे ! उसने एक कप गरम दूध के साथ टिकिया ली, फिर सीधे होते उसने देखा आरती को...

उसे लगा आरती जाने को है, उसमें यह भाव तभी उभर आता है जब कोई उसकी ओर गौर से देखने लगता है। नीरा ने कहा—'आरती !' और आरती रुक गई, वह खड़ी है आज्ञा की प्रतीक्षा में। पर नीरा कह देती है—'बैठो आरती। अन्दर कुछ माँ को काम तो नहीं है !'...'नहीं जीजी, दाताराम है।'...फिर दोनों शान्त हो जाती हैं...नीरा आरती की ओर गौर से देख रही है, जैसे कोई खोज कर रही है। आरती उसकी इस दृष्टि से न जाने क्यों संकुचित और लज्जित होती जा रही है—'आरती।' नीरा फिर पुकारती है, वह जैसे पूछना चाहती है, पर पूछ नहीं पा रही हो।—'हाँ जीजी।' आरती उत्तर दे देती है, जैसे कह रही हो मैं क्या उत्तर दूँ। दोनों के मौन में कुछ क्षण तनाव रहता है...फिर नीरा को लगता है जैसे इस सघनता के वातावरण में आरती घुट रही है, अतः उसने बल लगा कर कहा—'कैसा लगता है आरती।' आरती चुप है, एक क्षण बाद उसने उत्तर दिया—'कुछ उग रहा है जीजी,...जैसे मैं ही उग

रही हूँ जीजी।' फिर उसका सब कुछ अनकहा रह गया और यह इतना भी उसने बहुत बल लगा कर अपनी जीजी के खातिर ही कह पाया है। कुछ देर थम कर आरती को कोई बात याद आ जाती है, वह अन्दर चली जाती है—'अभी आई' कह कर।...

कमरा अकेला है...जाड़े के पाँच बजे से धुँधलापन छाने लगा है। कमरे की खिड़कियाँ खुली हैं, फिर भी प्रकाश डूबता जाता है...उसे लगा आरती अब भी बैठी है और कह रही है—'कुछ उग रहा है, मैं स्वयं उग रही हूँ जैसे।' ये शब्द, ये वाक्य उसके कानों से शब्द और वाक्य के रूप में नहीं, वरन् किसी भाव के, किसी संवेदना के अर्थ से उसके अन्तर में प्रवेश करते हैं...फिर उसकी चेतना में मिल कर एकरस हो जाते हैं। उसके अस्तित्व की सतह पर न जाने कितनी तरंगे बना देते हैं।... आरती के तन में एक जीव पल रहा है, वह उसके शरीर का, उसकी चेतना का, उसके अस्तित्व का अंश है...वह धीरे-धीरे बढ़ रहा है... उसमें आरती कहती है वह स्वयं बढ़ रही है...यह क्या है? कैसा है?... उसे लग रहा है सब कुछ उगता है, सारी प्रकृति उगती है, श्रो करती है।

...सहारनपुर के उसके बँगले के सामने एक आम का पेड़ है, दो-चार जामुन-नीम के पेड़ भी हैं। वह बहुत छोटी है, अपने में उलझी रहती है। बँगले के लम्बे-चौड़े आँगन के एक कोने में दातादीन ने उसके लिए घेरौंदा बना दिया है, जिसमें वह गुड़ियों के साथ अपनी गृहस्थी बसाये हुए है। उसका सारा स्वत्व इसी घेरौंदे की सीमा में अपनी गुड़ियों के बीच घिरा हुआ है।...उनका खाना-पीना, सोना-जागना, ब्याह-बारात, सब का संयोजक है दातादीन!...उसे एक दिन अनुभव होता है, उसके घेरौंदे के सामने बगीचा नहीं है, बँगले के सामने के पेड़ों को वह बगीचा ही जानती-मानती है। पहले बाग जमाने का आग्रह हुआ, दातादीन इस आज्ञा को टाल जाता है। बात पापा जी तक पहुँचती है, दातादीन बुलाया जाता है। वह प्रसन्न है कि दातादीन पापा

की आज्ञा से आनाकानी नहीं कर सकता।...वह दूसरे दिन देखती है उसके बरौंदे के सामने बाहर के पेड़ों के प्रतिरूप लगे हुए हैं...अब वह अत्यन्त उल्लसित है। सखियाँ बुलाई गई हैं, विवाह के आयोजन पर विचार किया जाता है...अब क्या, अब तो उसकी गुड़िया के दरवाजे पर बगीचा भी है। लेकिन यह रामा ने क्या किया? सबसे सुन्दर लगने वाले नीम के पेड़ को जड़ से उखाड़ कर वह कहती है—'नीरा, तू टहनियाँ गाड़ कर पेड़ बताती है और कहती है घर के सामने बगीचा है। मैं नहीं करती तेरी लड़की से अपने गुड्डे की शादी।' नीरा आक्रोश और क्रोध से सारे पेड़ों को उसी प्रकार उखाड़ डालती है, फिर अकेले में बहुत देर तक रोती रहती है, रोती रहती है...।

...पापा समझाते हैं, माँ ने भी समझाया। अन्त में दातादीन ने वादा किया कि वह नीरा बाई के लिए सचमुच का पेड़ लगा कर ही दम लेगा, पर उसके लिए बाई को धीरज से प्रतीक्षा करना होगा।...नीरा सब कुछ सह लेगी, केवल उसके बरौंदे के सामने बगीचा लग जाय।... पापा ने कम्पनी बाग से छोटे पौधे लाकर लगाने का प्रस्ताव किया, पर नीरा अब इस प्रकार के धोखे के लिए तैयार जो नहीं है। वह तो उगने वाले सचमुच के पेड़ ही लगायेगी और दातादीन ने इसी का वादा किया है। बरसात आती है...छोटे-छोटे थालों में आम, जामुन और नीम के बीज डाले गये हैं और नीरा नित्य प्रतीक्षा में है, उसके पेड़ कब निकल आते हैं। दातादीन ने धैर्य के लिए पहले ही सहेज दिया है, वह कुछ कह नहीं सकती। उसकी प्रतीक्षा दिन पर दिन भारी होती जा रही है।

...एक दिन थालों में उसने गहरे कत्थई, हल्के पीले-हरे और बैंगनी आभा वाले अंकुरों को देखा...उस दिन इन कोमल-कोमल स्फुरित अंकुरों को वह पहचान नहीं सकी थी...फिर पापा ने, दातादीन ने उसे समझाया प्रत्येक वृक्ष, पौधा, वनस्पति, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी इसी प्रकार उगते हैं, बढ़ते हैं। प्रकृति का यही क्रम है, नियम है।...फिर नीरा सब

कुछ भूल गई। वह नित्य उन अंकुरों को बढ़ते हुए देखती है, उनके रंग परिवर्तन को देखती है। वह यह भी अनुभव करती है ये तीनों पौधे समान रूप से नहीं बढ़ रहे हैं, उनके रंगों को परिवर्तन का क्रम भी समान नहीं है। पर वे अंकुरित होते हैं, बढ़ते हैं, उनमें पहले गहरी कत्थई बैंगनी आभा लिए पत्तियाँ निकलती हैं जो हल्की कत्थई होकर धीरे-धीरे हरी होती जाती हैं...नीरा को बचपन के उन दिनों में लगता है वह अपने इन पौधों के साथ स्वयं अंकुरित हो रही है, वह स्वयं बढ़ रही है।...

...यह क्या है जो इस प्रकार उग रहा है, अंकुरित हो रहा है आरती में! उसका शिशु, उसका अपना अंश! पर क्या इस प्रकार कोई अंकुरित होता है—मौन, उदास, जड़ भाव से...जिस प्रकार आरती है। उसे अपने पौधों के साथ बढ़ने की याद है, धुँधली-सी स्मृति के रूप में। उस उगने में कितना उद्वेलन था, उल्लास था...और आरती। लेकिन यह ऐसा नहीं है, वह अपने ममत्व में भी अपने उन बाल-सहचर पौधों की माँ नहीं थी।...तब वह सोचने के लिए योग्य नहीं थी, उसने सोचा-विचारा नहीं था, आज वह समझ रही है। अंकुरित होते पौधों की माँ धरा है, अपनी कठोरता में, जड़ता में भी कोमल। उसी के पत्तों को बेध कर बीज अंकुरित होता है, धरती माँ के ही तत्वों को, अंश को ग्रहण कर।...और आरती की यह अनुभूति धरती की निश्चेष्टता के अन्तराल में उगने की संवेदना है। धरती इससे विद्रोह नहीं कर सकती, आरती भी इससे विद्रोह नहीं कर सकेगी।

आरती ने विद्रोह तब भी नहीं किया था, उस विषय में भी नहीं किया था, जब वह स्वतन्त्र थी, जिस विषय में उसका समर्पण आज उसे मथ रहा है। आरती उसके सामने खड़ी नहीं हो सकी, जब वह अपने आप के विरुद्ध खड़ी हो सकती थी, ऐसा उसे विश्वास है।... लेकिन विद्रोह सदा सार्थक हुआ है, उसका अपना विद्रोह...क्यों, आरती के प्रसंग में राजेश ने विद्रोह ही तो किया था। उसका आक्रोश, उसका

आवेश...नीरा का मन भर आता है, राजेश को उसने श्याम से अधिक प्यार किया है। उसने क्षणिक आवेश में अपना जीवन...तब वह यही समझती थी और इसकी उसे ग्लानि भी कहीं रही है। आज उसकी दृष्टि बदल गई रही है, वह उसके विद्रोह को समझ रही है, आवेश को मान रही है।...लेकिन राजेश ने अपने विद्रोह से सीखा है, उसने कुछ ग्रहण किया है। यह उसका विद्रोह नहीं...पर यह विद्रोह नहीं है जिसने उसे जीवन दृष्टि दी है...

...'नीरा जीजी, आज वर्षों बाद तुमको पत्र लिख रहा हूँ।... ऐसा नहीं है कि इतने वर्षों से मेरे मन का वह ज्वार बना हुआ है। वह उतर चुका है; तुमने कहा था कि यह उतर जाता है।...मैंने कभी नहीं माना कि उतर जाने के कारण वह ज्वार ही असत्य था। अधिक विस्तार से सोचने-समझने की मुझमें न कभी शक्ति रही है और न आदत ही।... जीजी, तुम और भइया दोनों की दृष्टि की गहराई मुझमें नहीं है, यह मैं मानता हूँ। मैं प्रत्यक्ष अनुभव पा जाता हूँ, मैं कर्म के माध्यम से सीखता हूँ...और यह ऐसा ही है। वह ज्वर मेरे लिए सत्य था जीजी, आज मुक्त मन से भी यही कहूँगा।...आसाम के युद्ध में, उसके संहार में धीरे-धीरे मेरा वह ज्वार उतर गया, और तब उसके बाद का रीतापन भी मेरे लिए उतना ही सत्य हो गया।...उस मनःस्थिति में मैं तुमको क्या लिखता। संकोच, लज्जा, जड़ता ने जाने मुझे किस प्रकार, किस रूप से घेर रखा था!...मेरी जड़ता पर पहला प्रहार हुआ था बापू की हत्या का। आसाम के युद्ध ने सारी जड़ता के बीच भी मुझे कुछ मूल्यों से परिचित किया था...स्वतन्त्रता, स्वराज्य, सत्य, अहिंसा...

...ये बिल्कुल अपरिचित मूल्य नहीं थे, तुम से, भइया से इनकी चर्चा सुन कर मन में उपहास का भाव ही अधिक जागा था। लेकिन देश की स्वतन्त्रता के साथ गृहयुद्ध या साम्प्रदायिक युद्ध की विभीषिका ने मन को मथ डाला...उसी बीच बापू के उत्सर्ग ने...युद्ध समाप्त होने

के बाद से मेरी दृष्टि में बापू का चित्र घूमता रहा है।...मैं यह नहीं जानता कि मैं उसको कहाँ तक समझ सका हूँ, पर मैं कर्म के माध्यम से उनको भी देख सका।...साम्प्रदायिक ज्वाला के बीच अहिंसा, सत्य शांति का सन्देश लेकर कलकत्ता, नवाखाली, बिहार, घूमती हुई वह काया मेरे मन को खींचती रही।...उनकी हत्या से देश में हाहाकार मचा, सचमुच जीजी, मैं अनुभव से कह सकता हूँ, युद्ध के भयानक से भयानक विस्फोट में यह व्यापी हाहाकार नहीं हो सकता।...दोनों में कहीं मौलिक अन्तर है...शायद युद्ध का हाहाकार मन को आतंकित करता है और यह ऐसा हजारों वर्षों के बीच घटित होने वाला हाहाकार आत्माओं को आतंकित करता है...लेकिन यह आतंक भी उनको मुक्त करने वाला हो सकता है।

...जीजी मैंने स्वयं अनुभव किया है...बापू के बलिदान जैसे मेरी सारी जड़ता को एक ही चोट से छिन्न-भिन्न कर दिया हो...ऐसा लगा मन पर बिछी हुई बर्फ़ की पर्त चकनाचूर होकर बिखर गई और सारे अवरुद्ध प्रवाह को गति मिल गई हो।...तब से अब मैं काश्मीर आ गया हूँ। मेरे मन में केवल गति ही नहीं उसकी दिशा भी धीरे-धीरे स्पष्ट हो रही है।...आज मैं मुक्त मन से तुमको जीजी, लिखने में समर्थ हो सका हूँ, यह तभी सम्भव हो सका है...।

नीरा के सामने खिड़की के बाहर छायामयी शृङ्खला चली गई है... धीरे-धीरे सघन होती छायाओं में ऊँचाई-निचाई का बोध होता है, छायाकृति से वृक्षों, पाषाण-खण्डों का अन्दाज लगता है...पर तिरछी घाटी का आभास प्रत्यक्ष है। दस-पाँच मिनट में सड़क के बिजली के बल्ब जल उठेंगे और तब तक चारों ओर छायाएँ अधिक सघन हो चुकेंगी।...नीरा ने देखा जीवन का दृश्य-बोध अब मिट चुका है...धीरे-धीरे सब छायाभास हो रहा है। फिर स्वप्न रह जायगा, पर छायाभास भी कहाँ रहेगा।...लेकिन इस छायाभास का क्या सत्य है?

राजेश ने वर्षों बाद उसे पत्र लिखा...'ज्वार उतर जाने के बाद भी जीजी, मैं मानता हूँ जब तब वह सत्य था।'...और नीरा जब आज वह उतर चुका है, तब मानने लगी है कि वह सत्य है। जब वह आया था तब उसने भ्रम-प्रवंचना से अधिक नहीं माना था। यह कैसी बात है? नहीं नीरा, अब महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि प्रत्येक क्षण ही गत-आगत के क्रम में इतिहास है और इतिहास शक्ति है। राजेश की बात ठीक है। आज उस भावना से बहुत दूर हट कर, अपनी गति की एक नई दिशा खोज कर भी वह असम्पृक्त भाव से कह सका है कि उस क्षण का वह ज्वार भी सत्य था। उसने उसे अंगीकार किया है, बिना उसके चलता भी नहीं। अपने जीवन के किसी मोमेन्ट को कोई कैसे अलग कर सकता है, आग का क्रम उसी पर आधारित है।...कहा जाता है, यह ऐसा न भी होता! घटित वापस नहीं आता, उसके सम्बन्ध में यह कहना निरर्थक है।...प्रश्न उठता है भविष्य का! लेकिन उसे जान पड़ता है, प्रत्येक क्षण एक ही बिन्दु पर आगे-पीछे के सहस्रों-सहस्रों क्षणों से असंख्य क्रमों में सम्बद्ध है...उसी क्षण-बिन्दु पर असंख्य-क्रम एक-दूसरे को काटते रहते हैं।...उसे आभासित होता है, क्षणों के हिसाब को गत-आगत क्रम में भी बाँधा नहीं जा सकेगा; यह इतिहास ही नहीं है जो मनुष्य के प्रत्येक क्षण की व्याख्या कर सके। यह शक्ति है, यह गति की दिशा का निर्देश है! पर यह इतिहास क्षण की पूर्णता को अकस्मात् नहीं कर पाता है। क्षण पर संतुलित अन्य अनेक दिशाएँ शेष रह जाती हैं जिनको मनुष्य गति-प्रवाह में अनुभूत सत्य के रूप में ग्रहण कर लेता है, उनका क्रम भले ही न लगा सके।...राजेश ने इसी को कर्म के प्रवाह से सीखा है, ग्रहण किया है, इसके लिए उसको दिशाओं का निर्देश कभी लेना नहीं पड़ा...

...३० ज० सन् १९४८ की सन्ध्या...वह रेडियो सुन रही है... बीच में एकाएक क्रम टूट जाता है...लगता है स्टेशन में कोई गड़बड़ी

है...कई आवाजें मिल-जुल गई हैं...यह क्या—महान शोक समाचार, राष्ट्र पर वज्रपात ! राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का निधन, एक हिन्दू पागल ने प्रार्थना के उपरान्त गोली मार दी...वह चारपाई पर लेटी-लेटी सुन रही है, अवसन्न और जड़ होकर। उसे लगता है वह बेहोश हो रही है और उसी अवस्था में उसे अनुभव हो रहा है कि एक भयानक तूफान उठा है...सारे देश में, अरब सागर, हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी में...जल, थल तथा आकाश में तूफान व्याप रहा है। सागर में मीलों ऊँची उठती हुई लहरें पूर्वी-पश्चिमी तट से टकरा रही हैं, बंगाल और सिन्ध को आक्रांत कर रही हैं, आकाश में तरु-पादप तक उखड़कर उड़ने लगे हैं, पक्षी तिनके के समान अस्थिर हो उठे हैं—सब कुछ उखड़ा जा रहा है...उखड़ा जा रहा है...। रेडियो से आवाज आ रही है...नेहरू की वाणी की आर्द्रता उसे भिगो रही है, पटेल की वाणी का संयम उसे अभिभूत कर रहा है...हमारे बापू, हमारे राष्ट्रपिता, हमारे बीच अब नहीं हैं...वे हमारी ही गल्ती से हमसे छिन गये...लेकिन अब हमको अपने उत्तरदायित्व का और भी भान होना चाहिए...अब हम सब को अपने कन्धों पर उस बोझ को सँभालना है...हमारे कन्धे कमजोर हैं...पर हम मिल कर एकता से, प्रेम और मुहब्बत से इस दायित्व को हलका बना सकते हैं...।...वह ३१ जनवरी को दिन भर रेडियो पर उसी प्रकार सुनती रहती है, अर्द्धमूर्च्छावस्था में। वह कुछ समझ नहीं सकी, उसने प्रयत्न भी नहीं किया...केवल वह देश के असंख्य लोगों के हाहाकार को सुनती रही है, उसके साथ अपने हाहाकार को मिला देना चाहती रही है...।

'...नरेश भइया, बापू के निधन के आघात से मैं उबर सकी हूँ। लेकिन अब मुझे लगता है कि उनकी बात मेरे मन में अधिक स्पष्ट हो सकी है। तुमने उनके अप्रोच से सदा असहमति प्रकट की है...विशेषकर धर्म-आस्था भगवान् के प्रश्न को राजनीति से मिलाने के विषय में।...ऐसा नहीं कि मैं बापू की सारी स्थिति को स्वीकार कर सकी हूँ,

तुम्हारे तर्कों का उत्तर भी मैं सदा नहीं दे सकी हूँ। फिर भी मुझे विश्वास रहा है, इतिहास कोई ऐसी निश्चित निर्धारित दिशा नहीं है जो केवल कोण से ही ग्रहण की जा सकती है। बापू ने अपने ढंग से इतिहास की गति को वरण किया है, और वे मानव विकास में एक मोड़ ले सकेंगे...। आज मुझे यही आभासित होने लगा है।...इधर ऐसा लगने लगा था कि बापू जिस आधार पर खड़े हैं वही हिल गया है... साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि ने उनके सारे कर्म, उनकी गति को ग्रस लेने का संकल्प कर लिया है।...तुमने लिखा था—'इन विस्फोटों के साथ ही मन में जो पीड़ा उभरती है उसमें बापू की वेदना का मानो अंश हो।' सचमुच बापू ने सारी पीड़ा-वेदना को धारण किया है...एक सत्य और अहिंसा के पुजारी के लिए इससे बड़ी परीक्षा क्या हो सकती है। जीवन भर जिनके बीच उन्होंने सत्य-अहिंसा का प्रचार किया हो, उनमें हिंसा और असत्य का इतना नग्न तथा भीषण ताण्डव...।

'परन्तु नरेश भइया, युग की पीड़ा और वेदना को झेल जाना एक बात है और उसके अवसाद से निष्क्रिय हो जाना भिन्न बात! बापू ने शायद इसी युग की विराट वेदना को झेलने के लिए ही आस्था का सम्बल ग्रहण किया था। उसके बल पर उन्होंने झेल भी लिया। तुम कहते हो युग उनके किस मूल्य को ग्रहण कर सकेगा, ऐसा न हो ये मूल्य केवल पूजा-अर्चा की वस्तु बन कर हमको आगत युग में छलते ही रहें।' भइया, मैं इस बात को महत्व नहीं देती...युग-युग के लिए मसीहा आने की बात मैं आज अपने युग में नहीं सोच पाती। मुझे तो केवल इतिहास के क्षण का यह सत्य दिखाई दे रहा है कि बापू ने अपने युग की सारी पीड़ा-वेदना पी ली, और 'हे राम' की आस्था के सहारे उन्होंने पुनः उसे युगमानस में विसर्जित कर दिया।...क्यों ऐसा हुआ? मुझे लगता है जिससे युग अपनी ही पीड़ा को पुनः ग्रहण करने के योग्य हो सके।...बापू के सामने दूसरा मार्ग भी नहीं था।'

झक से कमरे की लाइट आरती ने जला दी। नीरा ने देखा गलता-घाटी की सड़क की बत्तियाँ भी चमक रही हैं, उनकी चढ़ती-उतरती, सीधी-तिरछी पंक्तियों से सड़क का अनुमान लगाया जा सकता है। शृङ्खला अधिक गहरी हो गई है, उसके वृक्ष अधिक सघन जान पड़ते हैं, तिरछी-सी घाटी में प्रकाश का मार्ग आभासित होता है!...कुछ देर वह इस अँधेरी श्रेणी पर भटकती है, प्रकाश की घाटी उसे विकर्षित करती है। फिर वह देखती है, ऊपर आकाश है, जो पहले नीला शून्य था, अब उसमें ग्रह-नक्षत्र चमकने लगे हैं।...यह क्या है, आकाश का नीला शून्य...और ये चमकते हुए तारे! यह कैसा है? अस्तित्व का यह कौन स्तर है?...जीवन में ग्रसने वाली छाया तो ग्रसती जाती है, लगता है उससे मुक्त होने का कोई उपाय भी नहीं है।

"नीरा जीजी।" उसने देखा आरती हाथ में इंजेक्शन का सामान लिए खड़ी है। वह समझ जाती है डा० अंकिल उसको इंजेक्शन देने आ गए हैं। वह जानती है, इसको लेने के बाद उसे नींद-सी आती है, आलस-सा घेरता है। अब वह यह कृत्रिम नींद नहीं चाहती, वह मना कर देगी...क्या होगा इसका।...लेकिन माँ, आरती, दातादीन, स्वयं डॉ० अंकिल भी, इनसे वह क्या कहे?...यह भी जानती है कि इस इंजेक्शन के पीछे डॉ० अंकिल का भाव भी होगा कि वे नीरा से क्या कहें, माँ से कैसे कहें, आरती को क्या समझाएँ। माँ भी स्वीकार कर लेती हैं—वे किसी से इसे कैसे व्यक्त करें? आरती और दातादीन तो मूक दर्शक मात्र हैं इस विचित्र अभिनय के।

माँ हैं, आरती और दातादीन हैं। डॉ० अंकिल कुर्सी पर बैठ कर सिरेंज आदि ठीक करते हैं। पिचकारी तैयार है, वह देख रही है। उसके देखने में ऐसा भाव है जैसे इस सब से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। डॉ० अंकिल उसकी ओर दृष्टि उठाते हैं...क्या है अंकिल की दृष्टि में, कैसा-कैसा धुँधला-सा छाया है, जाड़े की रात का कोहरा-सा। वे अपना बायाँ हाथ उसकी ओर बढ़ा चुके हैं, लेकिन इसी बीच नीरा की दृष्टि

से अंकिल की दृष्टि मिल जाती है। उसकी दृष्टि में अंकिल ने क्या देखा है कि वे एक क्षण के लिए स्थिर रह गये हैं, उनकी आँखों का कोहरा जैसे और घना हो उठा है। उसी समय किसी ने आवाज़ दी—"आरती।" इस खिंचे हुए वातावरण में सभी चौंक से पड़े। आरती—'आई' कह कर चली गई। वह आवाज़ से जैसे चीख़ पड़ी हो—'नरेश भइया'। लेकिन उसके ओंठ केवल धीरे से हिल कर रह गये। डॉ० अंकिल ने अब उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया है।...वह देखती रही, डॉ० अंकिल ने सुई उसकी बाँह में चुभो दी है, पर दवा चढ़ाने में उन्हें स्ट्रगल करना पड़ रहा है...वे सुई निकाल लेते हैं, उनके माथे पर झलक आई पसीनें की बूँदों को नीरा देख रही है। माँ की दृष्टि द्वार पर है। वह देखती है, नरेश भइया आ गये हैं...पर यह तो हारे-थके बीमार लगते हैं, लम्बी यात्रा, चिन्ता! वह अनुभव करती है अंकिल जैसे उबर गये।

डॉ० अंकिल सामान ठीक करते हुए कह उठते हैं—"हलो मि० नरेश, तुम भाई ख़ूब आये। मैंने तो सुना था कि शिमला जा रहे हो।" वह देखती है, नरेश भइया ने अंकिल को प्रणाम कर लिया है, उत्तर नहीं दे पा रहे हैं। डॉ० अंकिल भी जैसे बहुत व्यस्त हो गये हों, उन्हें कई जगह विज़िट पर जाना हो। उन्होंने सबसे विदा ली और एक दृष्टि नीरा पर डाली, नीरा को लगता है अंकिल की दृष्टि में वही कुहासा अब भी जैसा का तैसा घना हो रहा है।...पर यह नरेश भइया को क्या हुआ है? ये कैसे-कैसे हो गये हैं? वे कुर्सी पर बैठ जाते हैं, आरती और दातादीन उनके सामान की व्यवस्था में शायद चले गये हैं। वह अनुभव कर रही है, भइया के आने से घर की जड़ होती ज़िन्दगी में कोई लहर आ गई हो, पर यह भइया स्वयं इतने उदास, इतने जड़ क्यों हैं—स्वयं ज़िन्दगी की लहर क्यों इतनी गतिहीन जान पड़ती है। वे थके हैं, क्लान्त हैं। लेकिन दिल्ली का रास्ता ऐसा क्या दूर है, फिर जाड़े का सफ़र। ये तो जान पड़ता है बीमार हैं। माँ ने भी शायद यही अनुभव

किया—"नरेश भइया, तुम ऐसे-ऐसे क्यों हो।" भइया जैसे चौंकते हैं, अभी तक प्रणाम से अधिक उन्होंने कुछ कहा नहीं है—"नहीं बड़ी बुआ, यह सफ़र बहुत खल गया। रेगिस्तान की धूल पस्त कर देती है।" वह सुनती है, वही स्वर है, वाणी में मुक्ति की कहीं अनुगूँज भी वैसी ही है, फिर भी डूबी-डूबी।

माँ भइया से साधारण हालचाल पूछ रही हैं—"शार्दा ठीक हो गई, तुम्हारे फूफा को शायद छुट्टी नहीं मिली। सन्ध्या यहाँ से, हास्टल से गई थी, कहती थी माँ सीधे अजमेर से पहुँच जायँगी, लगता है वह भी माँ के साथ अजमेर चली गई...तुम्हारी भाभी तो बहुत प्रसन्न होंगी, लड़की सुना उनके ही ख़ानदान की है...क्या बताऊँ भइया, तुम देखो मैं कैसे आती। मेरे मन की तो अन्तर्यामी ही जानते हैं।...सब ठीक है, लेकिन असली बात तो तुम्हारी है...तुमको ठीक है तो सबके खुशी की बात है...।" माँ इसी प्रकार कहती-सुनती जा रही हैं और भइया उत्तर देते जाते हैं—"सब ठीक है बुआ, जब तुम्हीं नहीं पहुँचीं तो फिर कोई आये या न आये।...सन्ध्या ने बहुत मेहनत की, अब वह होशियार हो गई है, मैं तो समझता था ऐसी ही होगी.. भाभी के क्या कहने बुआ, सच पूछो शार्दा तो उन्होंने अपनी की है...लड़की उनके पसन्द की, कपड़ा-लत्ता, लेन-देन उनके पसन्द का, ठाट-बाट उनका...मैं, मेरी बात क्या ? शादी-शादी सब करते थे, मैंने कहा, चलो कर लो शादी, छुट्टी मिले।"

नीरा सुन रही है। सुई उसके पूरी नहीं लग सकी है, फिर भी उसे तन्द्रा घेरने लगी है। उसे इस बातचीत का कोई सुख ही मिल रहा है। पर यह भइया क्या कह रहे हैं—चलो कर लो शादी—और उनके मुख के भाव से, उनकी आँखों की छाया से यह भी तो नहीं लगता कि यह व्यंग्य में कहा गया है। वह बीच में ही जैसे पूछना चाहती है—'आख़िर ऐसा क्यों ?' पर उसने कुछ कहा नहीं, उस पर तन्द्रा गहरी हो रही है। भइया उसकी ओर देखते हैं, उसकी अलसाई

आँखों की ओर देखते हैं...। उसने क्यों लिया आज इंजेक्शन ! लेकिन वह जानती है आज इसका प्रभाव उस पर अधिक नहीं रह सकेगा, वह ठीक जानती है...उसे बोध है कि आज उसे कोई सोने के लिए नहीं बाध्य कर सकता...लेकिन जागने के लिए ही उसे कौन बाध्य कर सकेगा ?

माँ कह रही हैं...“मैं जानती हूँ, तुम इस जाड़े-पाले में भी बिना नहाये नहीं रहोगे। तुम्हारा गरम पानी तैयार है, नहा-धोकर स्वस्थ हो लो। तब तक शायद नीरा को भी झपकी आ रही है।” माँ उसकी झपकी के बारे में ऐसे कहना चाहती है जैसे शिशु की कोमल नींद हो, पर वह जानती है उसके कहने के अन्दर ही कितना गहरा तूफ़ान छिपा है।

नीरा को लगता रहा है जैसे वह किसी प्रवाह में बही जा रही है, किसी अनन्त प्रवाह में जिसमें सब कुछ डूबा जा रहा है...जीवन, जगत्, उसका सारा रूप-रंग, आकार-प्रकार, दृश्य-बोध। उस प्रवाह में दिक्-काल की सीमाएँ भी नष्ट हो चुकी हैं, वह केवल अनन्त दिक्-काल का अनुभव कर रही हो जैसे; और फिर वह स्वयं भी उसी अनन्तता में विलीन होती जा रही है...यह सब इंजेक्शन की तन्द्रा में वह अनुभव करती है, वह आज निश्चेष्ट नहीं हो सकी है। शायद इसलिए कि डॉ० अंकिल प्रयत्न करके भी पूरी दवा अन्दर प्रवेश नहीं करा सके हैं... हो सकता है उसके अन्दर जो नया अस्तित्व एकाएक इस अन्तिम समय में जागा है वह अपने क्षणों को उनकी गहनतम पूर्णता में संवेदित कर लेना चाहता हो!

वह प्रवाह में बहती रहती है दिक्-काल की अनन्तता में बिखरती हुई...पर उसके विलीन होते अस्तित्व में कहीं क्षणों की गहरी चेतना जाग्रत है जो इस अबाध प्रवाह के बीच भी उसे बाँधे रहती है, दिक्-काल को अपने अस्तित्व में घेर कर सीमाएँ बनाने का प्रयत्न करती है।...यह कैसा प्रयत्न है? जिसने समय के क्रम-प्रवाह में अपने जीवन के क्षणों को सदा निरपेक्ष दर्शक के रूप में देखा है, वह इस अनन्त विस्तार के समय अपने किंचित क्षणों को किस आसक्ति से ग्रहण करना चाहता है...इस विराट प्लावन के विपरीत खड़े होकर अकिंचन अस्तित्व के इन क्षणों का यह आत्मसाक्षात्कार क्या सम्भव भी हो सकेगा?... परन्तु व्यक्ति के अस्तित्व का, उसकी चेतना का कोई भी अनुभूत क्षण अकिंचन नहीं, उसी में व्यक्ति अपने को उपलब्ध करता है...

नीरा सचेष्ट तन्द्रा में है...उसे बोध है, नरेश भइया आ गये हैं, कुछ ही समय में वे स्नान-भोजन के बाद उसके पास आ जायँगे।... लेकिन आज वह सोना नहीं चाहती, यह तन्द्रा भी नहीं चाहती, डॉ० अंकिल से वह कह क्यों नहीं सकी।...ज़मीन पर पैर लगते हैं, पर धार की तेज़ी से उखड़ जाते हैं, वह बहने लगती है...पर वह अनन्त धारा नहीं, केवल चेतना का प्रवाह है, जिसमें वह बहती हुई भी जैसे तैर सकती है।...

नीली धारा की तरंगों पर वह तैरती जा रही है, प्रवाह के साथ उसे परिश्रम भी नहीं पड़ रहा है।...यह क्या एक बिन्दु-सा है दूरी पर...यह तो हंस जैसा पक्षी तैरता हुआ विपरीत दिशा से आ रहा है... नहीं यह तो कोई नाव है...वह नीली धारा के प्रवाह में आगे बढ़ रही है, दोनों ओर क्रमशः उठती हुई हरी-बैंजनी पहाड़ियाँ चली गई हैं... नाव निकट आ रही है, उस पर दो यात्री डाँड चला रहे हैं ...वह झाग भरी सफ़ेद तरंगों पर ऊपर-नीचे, उठती-गिरती तैर रही है...दोनों ओर की श्रृङ्खलाओं पर गहरे लाल, पीले, नीले रंग के फूल कुछ दूर तक छाये हैं, कुछ ऊपर हरी झाड़ियों में सहस्रों सफ़ेद फूल हँस रहे हैं।...नौका और पास आ गई है, एक स्त्री एक पुरुष धार के विपरीत डाँड चला रहे हैं...उसने आगे बढ़ना छोड़ दिया है, लहरों पर ही ऊपर-नीचे झूल रही है...दोनों ओर की पहाड़ियों पर नोकदार पत्तियों के ऊँचे पेड़ झीम रहे हैं...सामने नाव पर तो उसके नरेश भइया हैं, उनके साथ यह कौन है? भइया ने उसे अभी देखा नहीं है...वह उसी प्रकार लहरों पर झूलती रहती है और नाव बिल्कुल पास आ गई है... यह क्या, भइया इतने उदास, खिन्न, क्लान्त क्यों हैं? यात्रा का श्रम! नहीं वह नहीं मान सकेगी। यात्रा, परिश्रम से भइया कभी ऐसे-ऐसे नहीं होते।...फिर यह नीली झील, उसके चारों ओर की मनोरम घाटी...और साथ की यह स्त्री! स्त्री बहुत सुन्दर है, पर जैसे, उसकी

भ्रकुटियों में वक्रता कुंचित हो गई हो, पतले ओठों में कठोरता बन्द हो गई हो।...भइया ऐसे-ऐसे क्यों हैं ? उनके मुख पर यह जड़ता जैसी क्या है ? वह पुकार उठती है—'नरेश भइया !' भइया ने उसकी ओर देखा, वह लहरों पर ऊपर उठ गई है। भइया के मुख पर कौतुक की हल्की-सी लहर दौड़ गई—'तुम नीरा।' वह उसी लहर पर मुस्कराई—'हाँ भइया, देखते हो न यह नीला जल-विस्तार, रंग-बिरंगी यह घाटी... ऊपर उठते गये बाञ्ज और देवदारु...और देखते हो ऊपर हिमाच्छादित चोटियाँ।' भइया ने उल्लसित होकर कहा—'तुम नाव पर आ सकोगी नीरा ?' नीरा नाव पर दृष्टि डालती है और सामने वही नारी है—प्रश्न-सी—'तुम कौन हो ?' वह संकुचित हो जाती है—'नहीं भइया।' उत्सुक होकर भइया कूदने का प्रयत्न करते हुए कहते हैं—'तो मैं ही।' पर नारी का स्वर है, कोमल और दृढ़—'सुनिये, हमको आगे चलना है।'...सब अदृश्य हो जाता है और वह फिर जैसे प्रवाह में आगे बढ़ने लगती है।

...सामने नीली धार है, उसका विस्तार है और नीरा तट पर खड़ी है। उसके चारों ओर असंख्य फूल मुस्करा रहे हैं, उनकी पत्तियाँ हवा में हिल रही हैं। जल-विस्तार के आगे, सामने पहाड़ी चढ़ती चली गई है, ऊपर और ऊपर।...वह धार को, विस्तार को देखती है, फिर आगे-पीछे की समान रूप से उठती हुई पहाड़ी श्रेणियों को भी देखती है। उसे लगता है...यह धार उसका अपना अस्तित्व है, अपना ही प्रवाह है, जैसे वह इसी से निकल कर बाहर खड़ी हो गई है।...लेकिन अब वह उसी को असम्पृक्त भाव से अपने से अलग देख रही है, जैसे वह उससे अलग होकर भिन्न वस्तु हो गई हो।...वह खड़ी है, खड़ी है। लेकिन यह ऐसा क्यों लगता है कि वह अपूर्ण है, अतृप्त है, निरर्थक है ! क्या है जो इस स्थिति में उसे भटका रहा है ? कौन-सी इच्छाएँ हैं, वासनाएँ हैं जो उसके अन्दर मँडरा रही हैं ?...सामने का नीला विस्तार,

पीछे की बर्फ़ीली चोटियों का स्वर्ण शृंगार कुछ भी तो उसे ग्रहण नहीं कर रहा है।

...नीरा देखती है, नीली धार के उस पार कोई भूला-भूला-सा घूम रहा है। यह कौन है जो आत्मविस्मृत-सा कुछ खोज रहा है। वह देखती रहती है, एकाएक उसे याद आता है, यह तो डाक्टर है।... डाक्टर यहाँ! इस प्रकार क्या खोज रहा है डाक्टर!—'डाक्टर, ओ डाक्टर, मैं यहाँ हूँ। तुम देखते क्यों नहीं।' उस व्यक्ति ने सुना, फिर उसने नीरा की ओर देखा भी। लेकिन डाक्टर की दृष्टि में यह सूनापन क्यों है? वह उसे पहचान नहीं सका है—'डाक्टर, ओ डाक्टर मैं हूँ नीरा।' उस पार से डाक्टर चुपचाप उसे देखता रहता है, कुछ कहता भी नहीं। नीरा फिर पुकारती है—'डाक्टर तुम वहाँ क्या खोज रहे हो? यहाँ इधर मेरे पास क्यों नहीं आ जाते।' डाक्टर अब भी उसी प्रकार चुपचाप खोया-सा खड़ा है, जैसे वह कुछ भी समझ नहीं पा रहा है। नीरा उद्विग्न होकर पुकारती है...'डाक्टर तुम नहीं आ सकते, तो रुको मैं आ रही हूँ।' वह धार में कूदने के लिए तैयार है। लेकिन डाक्टर की मूर्त्ति एकाएक हिलती है और वह अपने हाथ से उसे मना कर रहा है। वह देखती रहती है...डाक्टर उसी प्रकार घाटी में खोजता हुआ चल पड़ता है।...सब मिट जाता है!

नीरा को आभास हो रहा है...वह फिर प्रवाह में तैर रही है, इस बार वह प्रवाह के विपरीत है। वह बहना नहीं चाहती है, वह लहरों को ग्रहण करना चाहती है, उनको झेलना चाहती है।...जैसे वह भी कोई आवेगपूर्ण तरंग है...आलोड़ित होकर, गरजती हुई, आवेग के साथ तरंग मे वह उठती है, ख़ूब ऊँची उठती है, सामने की तरंग के समान ही...फिर हरहराती हुई दोनों तरंगें एक-दूसरे से टकरा जाती हैं, टकरा कर दोनों अभिन्न हो जाती हैं और बिखर-बिखर कर फैल जाती हैं।...नीरा को इस जल क्रीड़ा में सुख मिल रहा है, तृप्ति मिल रही है।

उसे लगता है, इस प्रकार वह अपने आपको ही उपलब्ध कर रही है, उसका अपना ही अस्तित्व सार्थक हो रहा है...

...वह पहाड़ी चोटी पर आगे बढ़ रही है, ऊपर चढ़ती जा रही है...वह तुष्ट है, उपलब्ध है...उसके मन की सारी आकांक्षाएँ, वासनाएँ उसकी चेतना में डूब चुकी हैं...उसे लग रहा है वह जी है, उसके जीने का भी एक क्षण रहा है, सार्थक क्षण ! अनुभूत क्षण ! उसके अस्तित्व का एक मात्र उपलब्ध क्षण !...अब उसको नीली धारा अपनी ओर खींचती नहीं, चारों ओर की प्रकृति आकृष्ट नहीं करती...वह शिखर की ओर बढ़ रही है, और उसके आगे कोई चरण हैं जो उसका मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं ।

नीरा अपनी तन्द्रा से सजग होती है । कमरे में सफ़ेद प्रकाश है...कमरे की स्तब्ध शान्ति में घड़ी के पैंडुलम की टिक-टिक उभरती है । नीरा को यह टिक-टिक आश्रय देती है, भारी बोझ से लगने वाली यह टिक-टिक इस समय उसके लिए, उसकी चेतना का सहारा हो जाती है ।...वह अनुभव करती है, कमरे में स्पन्दन है...आँख खोल कर उसने देखा—नरेश भइया ! कब से बैठे हैं नरेश भइया । वे उसी के लिए इतनी दूर से आये हैं और उसे नींद आ रही है, यह कैसी बात है । उसने अनुभव किया, नरेश भइया की क्लान्ति अब भी बनी हुई है, उनकी अभिव्यक्ति की जड़ता वैसी ही बनी हुई है, यद्यपि नहा-धोकर उन्होंने सफ़ेद कुरता-पैजामा पहन लिया है, बाल ठीक कर लिये हैं । उसे अनायास याद आती है, जैपुर स्टेशन पर धोती-कुरता में नरेश भइया !

वह धीरे से पुकारती है—"नरेश भइया ।" उसे जान पड़ता है जैसे वह बहुत दूर से पुकार रही हो । नरेश ने कह दिया—'नीरा ।' कहीं बहुत दूर से प्रतिध्वनि सुनाई दी । वह देखती है नरेश की दृष्टि उसके मुख पर है, पर उसकी दृष्टि के रास्ते को बचा रही है ।...यह ऐसा क्यों है ? नरेश भइया उससे बचना क्यों चाहते हैं ? ऐसा तो कभी

नहीं हुआ। हम दोनों तो मित्रता के प्रगाढ़ धरातल पर मिलने के अभ्यस्त हैं।... यह क्या है ? भइया पर यह जड़ता कैसी छायी है और वे मुझसे इतना बचना क्यों चाहते हैं !...भइया ने अभी विवाह किया है, घर में नई बहू लाये हैं...उनमें कहीं से इस घटना का आभास मिलना चाहिए। बहू के विषय में तो सभी का कहना है, उन्होंने भी लिखा था...फिर !

नीरा पूछती है—"नरेश भइया, यह तुम ऐसे क्यों हो ?...मेरे लिए, यह तो उचित नहीं है भइया। मैं, मेरी बात सोचने की नहीं रही। ऐसा करके तुम मुझको इस समय...।" नरेश नहीं सह सकेगा। वह नीरा को अन्तिम समय विचलित करे, ऐसा वह किसी प्रकार नहीं होने देगा। वह कह उठता है—"नहीं नीरा, तुम मुझमें क्या देखती हो ! मैं क्या सहज नहीं हूँ ? सामान्य थकान को तुम अर्थ देना चाहती हो।" नीरा इस प्रकार ठगी नहीं जा सकती, उसको इस समय बहकाना सरल नहीं। फिर भी वह तर्क नहीं करेगी, कर भी नहीं सकेगी। क्षण-क्षण में उस पर गहरी होती तन्द्रा के झोंके आ रहे हैं। आज तो उसके अस्तित्व का नया व्यक्तित्व उससे संघर्ष कर रहा है।

नरेश उसके बिस्तर पर तिरछा होकर झुक गया है। वह नहीं चाहता नीरा को बातचीत करने में स्ट्रेन करना पड़े। नीरा कुछ रुक कर पूछ लेती है..."भइया। भाभी कैसी हैं ? तुमको कैसी लगीं।" उसने प्रश्न किया, पर वह स्वयं स्पष्ट नहीं है कि उसका अर्थ क्या है। नरेश मुस्कराया, नीरा को लगा जैसे उसके प्रश्न पर भइया हँस रहे हैं—यह भी क्या प्रश्न है ? लेकिन यह भइया की मुस्कान की छाया में क्या है ? यह करुण व्यंग्य-सा क्या है जिसे समझ पाना कठिन है।

नरेश उत्तर देता है—"नीरा, तुम स्वयं जान लेना अपनी भाभी को, और फिर तुम जैसा कहोगी वैसा मैं भी मान लूँगा।" नीरा कहना चाहती है—यह कैसी बात है भइया। यह इस प्रकार तो बात टालना है। लेकिन वह कुछ कह न सकी, उसकी बोलने की शक्ति जैसे क्षीण

होती जा रही है। वह अपने नरेश भइया से जितनी बात करना चाहती है, उतना ही अपने को असमर्थ पा रही है। पर...साथ ही उसके अन्दर जो दिन भर जागता रहा है, वह इस समय अधिक से अधिक संवेदित हो रहा है, अनुभूत हो रहा है।

उसके सामने नरेश भइया बैठे हैं, पर नीरा की आँखें झपक गई हैं, जैसे कोई बल लगाकर बन्द कर देता है।...नीरा सोच रही है, कल्पना कर रही है और अनुभव भी कर रही है।...जैसे उसकी भाभी भइया की प्रतीक्षा कर रही है...भाभी जो सुन्दरी है? भाभी ने शृंगार किया है...हलके नीले रंग की सिल्क की साड़ी में उसकी शोभा और शृंगार अधिक मनोरम हो गया है...हाथ-पैर की मेंहदी महावर ने उन्हें कोमल कर दिया है...और वह फूलों की घनी मालाओं से सजी शय्या पर प्रतीक्षा कर रही है...भइया का!

...कैसी है प्रतीक्षा! कैसा होता है इसका उल्लास, आवेग! उसे लग रहा है जैसे यह कोई जीवन की सतत प्रतीक्षा है। उसने कभी की है किसी की प्रतीक्षा? उसने अनुभव किया है यह आवेग, उद्वेग!... लेकिन आज जैसे उसने अनुभव किया है, प्रतीक्षा अस्तित्व की, चेतना की माँग है...उससे कोई बच नहीं सकता! बच कर रीता-सूना रह जायगा। जिस रीतेपन को ज़िन्दगी के असंख्य क्षण भी कभी नहीं भर सकेंगे।

नरेश बैठा है, नीरा को झपकी आ गई है।...यह उसके जीवन में क्या है, कैसा है! वह सजग है, ऐसा नहीं लगता है कि वह अब टूट रही है, बिखर रही है। ऊपर से ऐसा नहीं जान पड़ता! पर...वह ऐसा अब उसमें रहा ही क्या है जो बिखरने के पहले टूटेगा। वह तो बिखर रही है, बहुत चुपचाप शान्तिपूर्वक।...फिर भी उसकी दृष्टि में अस्तित्व का प्रकाश है, क्या है जो घना होकर इस अन्तिम क्षण नीरा में संवेदित होना चाहता है! वह उसकी दृष्टि से अपनी दृष्टि को बचाना चाहता है, वह अनुभव करता है कि उसकी मन की निष्क्रियता उसके साथ छाया रूप में विद्यमान है।

...भाभी कैसी है ? तुमको कैसी लगीं ?...उसकी प्रतीक्षा में जैसे कोई आतंक हो...वह प्रतीक्षा कर रहा है, उसे वधू से मिलने के लिए जाना है, पर मन का उल्लास आवेग डूबा-डूबा-सा लगता है। यह कैसी छाया है जो उसके मन को इस घड़ी भी छोड़ना नहीं चाहती, साथ लगी रहना चाहती है।...वह देखता है आभूषणों के नानाविधि शृंगार और सुनहले काम के किनारेवाली लाल बंगलौर सिल्क की साड़ी में एक सुन्दरी सज्जित कमरे में उसकी प्रतीक्षा कर रही है...विलम्ब हो गया है, वह शायद बैठे ही बैठे ऊँघ गई है, थक गई...पर नहीं वह इसी आकर्षक मुद्रा में सजग बैठी है कितने समय से।...वह कमरे में प्रवेश करता है, और नारी अभिनय की मुद्रा में वक्र दृष्टि से अपने किंचित खींचे हुए घूँघट से देखती है...उसका मन आलोड़ित हो उठता है, उसका उल्लास उच्छ्वसित हो उठता है, और इस आकर्षण से वह छाया जैसे विलीन होने लगती है, उसके मन का आतंक दूर होने लगता है।

...उसकी नींद खुल जाती है...वह बहुत कोमल पाश में बँधा हुआ है...वह किसी आलसमयी सुख की तन्द्रा में बेसुध रहा है...पर जैसे उसकी चेतना पर वही छाया मँडराती रही है...वह जाग जाता है, उसे कोमल मांसल बन्धन कठोर और बोझिल महसूस होता है ...उसे लगता है छाया बहुत पास आ गई है, निकट आकर उसके मन को छू रही है और अब वह सारा सुख, उल्लास, आतंक का ज्वार झूठा पड़ता जा रहा है....उसकी आत्मा, उसका अस्तित्व जैसा का तैसा अतृप्त है!

नरेश ने अपने आप से चौंक कर देखा, नीरा अब भी आँखें बन्द किये लेटी है। उसकी तन्द्रा अभी चल रही है। नरेश सोचता है यह नीरा के अस्तित्व की मिटती हुई रेखाएँ हैं, जो ओझल होते-होते कभी गोचर हो जाती हैं और वह उन्हीं रेखाओं की झाँकी पाने के समय

उसके समीप आ गया है। अब नीरा का जीवन, वह जीवन कहाँ है, वह देखता है नीरा का शरीर बिल्कुल कंकाल जैसा वस्त्रों में लिपटा है...पर उसके मुख पर ..वहाँ तो कोई परिवर्तन नहीं जान पड़ता। लगता है कोई शिशु सो गया है।...नीरा की आँखें...उनमें तो उसने बिल्कुल नयी कोई छाया देखी है जो बहुत सजग, बहुत सचेष्ट जान पड़ती है।

...नीरा अपनी तन्द्रा में...जैसे वह किसी की प्रतीक्षा कर रही है।...वह किसी सजे हुए कमरे में कम्पित हृदय से किसी की प्रतीक्षा कर रही है...उसने शृंगार किया है, पुष्पों के आभूषण धारण किये हैं, उसकी शय्या फूलों की है...पर कहीं कुछ नहीं है, न कमरा, न सज्जा...वह केवल प्रतीक्षा कर रही है..

...इस प्रतीक्षा में उसने अस्तित्व के सम्पूर्ण सूत्रों को, तन्तुओं को फैला दिया है, इच्छा, आकांक्षा, वासना को ग्रहण करने के लिए। उसके शरीर के स्नायुओं में आज उत्तेजना ग्रहण करने की शक्ति नहीं रह गई है, उसके वक्ष, उसके आलिंगन में किसी कठोर कोमल को घेरने-कसने की आकांक्षा शेष नहीं है...पर वह सारा तनाव, वह सारी उमड़न जैसे उसकी चेतना में अनुभूत होकर व्याप्त हो गई है।...वह किसी आगत की प्रतीक्षा में है जो उसके अस्तित्व के किसी क्षण को सार्थक अनुभूत बना सकेगा।

नरेश ने फिर धीरे से पुकारा—'नीरा' और कोमल भाव से उसके मस्तक पर अपनी हथेली रख दी। स्पर्श से नीरा को बोध हुआ, उसने आँखें खोल कर देखा। सामने नरेश की दृष्टि से उसकी दृष्टि मिल गई। वह एक क्षण देखती रही। उसमें वह कुछ पहचान रही है, उसमें वह अपने को भी पहचान रही है। इस दृष्टि में अब नरेश भइया पर छायी हुई जड़ता का कहीं आभास भी शेष नहीं है। वह देखती रही...एक

नीली धार जैसे बह रही है और वह उसी के अस्तित्व का प्रवाह है, उसी के चेतना का प्रवाह है। आज दिन भर वह इसी का आभास पाती रही है, इसी को खोजती रही है, इसी की प्रतीक्षा में रही है।

वह उस दृष्टि को ग्रहण करती है, फिर बहुत कोमल स्वर में कह देती है—'नरेश भइया।' उसे अब कुछ पाना नहीं है, उसने अपनी आँखें बन्द कर लीं। अब वह केवल अनुभव कर रही है...एक बार उसे ऐसा भी आभास होता है जैसे उसके निष्क्रिय और जड़-स्नायुओं में भी कहीं से कोई आवेग-उबार आते-आते मिट गया हो।...पर उसके अस्तित्व और चेतना के सारे तन्तु तथा सूत्र वेग के साथ आलोड़ित हो उठते हैं, उनमें जैसे कोई झंझा आकर गूँज जाती है...उसके अस्तित्व के तन्तुओं की लपेट में जैसे कोई आ गया है और वह उसे सघनता से जकड़ती जाती है, कसती जाती है...वह अपनी सारी शक्ति, सारे बल से कसती जाती है...वह अपने सारे तनाव को अन्तिम सीमा तक खींच लेना चाहती है, जिस पर पहुँच कर वह टूट जाय और फिर...और फिर उसे लगता है वह बिखर रही है, फैलती जा रही है...उसके तन्तुओं मे इतनी लोच आ गई है कि वे अब फैलने में जैसे टूट सकेंगे ही नहीं... शिथिल भाव से, श्लथ भाव से उसकी चेतना फैल कर बिखर रही है, मिट रही है...। पर यह ऐसा नहीं है, इसी बिखरती हुई मिटती चेतना से कुछ उगता भी है...।

नीरा एक बार जाग कर फिर डूबती जाती है और नरेश नीरा को देख रहा है। एक क्षण उसकी दृष्टि में जो उभरा था वह फिर खो गया है। उसकी दृष्टि पुनः वैसी ही भाव-शून्य खोई-खोई...शायद वह नीरा की डूबती चेतना का अनुसरण करना चाहता है...परन्तु।

नीरा की चेतना डूब रही है...वह किसी विस्तृत मार्ग पर चली जा रही है...वह किसी चौड़े राजमार्ग पर जा रही है...यह मार्ग जैसे ऊपर चढ़ता जा रहा है, नीले आकाश में आकाश का ही जैसे यह मार्ग है...

नीरा इसी मार्ग से आगे बढ़ रही है।...ऐसा जान पड़ता है इस मार्ग पर कुछ दूरी पर घने गहरे नीले आर्चेस हैं और इन्हीं में होकर वह आगे बढ़ रही है...उसके आगे-आगे एक शिशु घुटुरवन चलता जा रहा है और वह उसका अनुसरण कर रही है...उसके वक्ष में कुछ उमड़-घुमड़ कर आन्दोलित हो रहा है...वह उस शिशु को दौड़ कर पकड़ लेना चाहती है...पर एक मेहराव के पास वह नटखट मुड़ कर देखता है, नीरा को देख कर किलकारी मार कर हँसता हुआ फिर भाग चलता है...और नीरा का मन प्राण चेतना वक्ष में एकत्र होकर जैसे उमड़ आते हैं...वह खीझ कर फिर उसके पीछे-पीछे चल पड़ती है...उसी आकाश के नीले पथ पर!